सूतसंहिता



प्रथमो भागः

श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला–३५

संहितात्मक-श्रीस्कन्दपुराणान्तर्गता

सूतसंहिता

प्रथमो भागः

●

श्रीमद्माधवाचार्यप्रणीता

तात्पर्यदीपिका

●

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ

श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरिजी महाराज

आचार्य महामण्डलेश्वर की आज्ञानुसार

स्वामी स्वयम्प्रकाश गिरि

द्वारा सानुवाद सम्पादित

प्रकाशक

श्री दक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन, वाराणसी

भूमिका

भारतीय धर्मों की दो परम्पराएँ रही हैं । प्रधान धारा वैदिक धर्म है, एवं इसके विरोध में उठा सुधारवादी अवैदिक धर्म गौण धारा । अनेक मान्यताएँ दोनों में समान होने पर भी अपौरुषेय अनादि वेद को प्रमाण स्वीकार करने या न करने के विषय में इनमें आधारभूत भेद है । वैदिक धर्म की अनेक शाखा-प्रशाखाओं में शैव व वैष्णव धाराएँ सर्वाधिक प्रसृत हुई हैं । शैव धर्म का सर्वतोभावेन प्रामाणिक ग्रन्थ उपस्थापित सूत संहिता है । 'स्कन्द पुराण' के संहितात्मक खण्डों में यह एक है । अन्य पाँच खण्ड अति विरल हो चुके हैं । परन्तु इसका प्रचुर प्रचार है । विशेषतः यह अद्वैत दर्शन का सरल व सरस रूप से प्रतिपादन करता है । अतः माधवाचार्य ने इस पर संक्षिप्त पर सारगर्भित व्याख्या की रचना की है । अनेक स्थलों में दुर्लभ शैवागमों का प्रमाण देते हुए इसे बोधगम्य बनाया है, तो अद्वैत के आचार्यों के उद्धरणों से इसका दर्शन पक्ष भी सुस्पष्ट व परिष्कृत किया है । वर्तमान संस्करण में यह व्याख्या भी दे दी गई है एवं इस व्याख्या के आधार पर सिद्धहस्त श्री परमहंस स्वामी स्वयम्प्रकाश गिरिजी ने हिन्दी व्याख्या समुपस्थापित की है जिसमें उन्होंने अनेक गुत्थियों को सुलझाने का स्तुत्य प्रयास किया है । इस प्रकार यह संस्करण संस्कृतज्ञों व असंस्कृतज्ञों का समान रूप से उपकारक होगा । इसके अध्ययन से शैव धर्मावलम्बियों को अपने धर्म व दर्शन का समग्र ज्ञान हो सकेगा । हिन्दी भाषा में इस प्रकार के ग्रन्थों का अभाव ही परिलक्षित होता है । इसमें शैव धर्म की आचार पद्धति, पूजा पद्धति, ध्यान पद्धति एवं योग या साधन पद्धति सभी पर प्रकाश डाला गया है ।

यह ग्रन्थ स्वयं ही सनत्कुमार संहिता, सूत संहिता, शंकर संहिता, वैष्णव संहिता, ब्राह्मी संहिता एवं सौर संहिता में अपने मूल को विभक्त करता है । इस प्रकार यह द्वितीय है । इसमें ६००० श्लोक हैं जबकि पूरे श्लोक सभी संहिताओं में मिलाकर ५५००० हैं । यह उपपुराणों में गिनी गई हैं । ग्रन्थारंभ में ही यह सूचित करके माधवाचार्य ने प्रति अध्याय की विषय सारणी भी दे दी है । प्रारम्भ में विषय का सुन्दर प्रतिपादन करते हुये माधव ने स्पष्ट किया है कि शिव के निष्कल व सकल दोनों रूप हैं । वैष्णव सम्प्रदायों में वर्तमान में निष्कल रूप का प्रतिपादन नहीं किया जाता । परन्तु सभी शैव सम्प्रदायों में इसकी वास्तविकता स्वीकारी जाती है । वैष्णवों के साथ यह मतभेद शैवों का प्रारम्भ से ही रहा है । शैवागमों से प्रमाणित करते हुये कहा गया है कि वृत्ति व वृत्ति के प्रागभाव का साक्षी ही परप्रेमास्पद होने से शिव चिदानन्दमय ही है । परन्तु इस तत्त्व को समझने में असमर्थ लोगों के ध्यान व पूजा के निमित्त वही चिदानंद शिव मायिक रूप ग्रहण करता है । वाचस्पति के व्याख्याता अमलानन्द स्वामी ने कल्पतरु में स्पष्टतः 'साक्षात्कर्तुमनीश्वराः अनुगृह्यन्ते सविशेषनिरूपणैः' कहकर इसी को पुष्ट किया है । विद्वान् तात्पर्यदीपिकाकार शिव की लीलाओं में जीव की तरह प्रवृत्ति दिखने पर भी वह जीव की तरह न होकर उससे विलक्षण है इसका विस्तृत विश्लेषण उपस्थित करते हैं । यहाँ शास्त्रों का प्रमाण देकर कहते हैं कि जैसे नारायण होने पर भी अज्ञानावृत होने से राम स्वस्वरूप के अनवबोध से जीववत् दुःखी हुये ऐसा शिव में नहीं है । अनावृत ही उनका नित्य मायिक स्वरूप है । वे माया को प्रवर्तित करके लीला करते हैं, जीव उससे आवृत होकर कर्त्ता-भोक्ता बनता है ।

सूत ने ऋषियों को उपदेश दिया । इससे इस पुराण में प्रतिपादित तत्त्व विद्या की विशेषता है ऐसा तत्त्वदीपिकाकार का मत है । भाव यह है कि व्यास से पुराण सुनकर सूत ब्राह्मणों को भी उपदेश देने में समर्थ हो सके । सूत संहिता को स्वयं यहाँ संहितां श्रुतिसंमिताम् (६) कहा है ।

इसे संहिता कहा है क्योंकि यह श्रुत्यर्थ का संग्रह रूप है । वैसे आगमों में, विशेषतः वैष्णवागमों में, 'संहिता' शब्द का प्राचुर्येण प्रयोग है । यह संहिता चार भागों में विभक्त है । प्रायः किसी भी प्रकार के संग्रहों को संहिता नाम से कहा जाता है । वैदिक संहिता भी शौनक, बाष्कल, बाजसनेय, पिप्पलाद, मैत्रायणी आदि के नाम से प्रसिद्ध है । स्पष्टतः यह ऋषि लोग संहिता के निर्माता नहीं, वरन् वैदिक मंत्रों के संग्राहक थे । अतः यहाँ भी शैव धर्मों के चारों खण्ड यहाँ संगृहीत होने से इसे भी संहिता नाम से कहा गया है । चर्या या भक्ति, क्रिया या कर्मकाण्ड, ज्ञान या सिद्धान्त व योग या ध्यान ही चार पाद शैवों के द्वारा स्वीकृत प्रकार से यहाँ प्रतिपादित हैं । चौथे खण्ड का उत्तरभाग ब्रह्मगीता स्पष्टतः ज्ञान खण्ड है, एवं सूतगीता भी इसी प्रकार का खण्ड है । चतुर्थ खण्ड के पूर्वभाग में प्रथम १५ अध्याय विशेषतः योग का वर्णन करते हैं । शेष अध्याय क्रिया पाद है । प्रथम तीन खण्ड प्रधानतः चर्या है पर क्रिया व योग से मिश्रित रूप में है । शैव सिद्धान्त के प्रसिद्ध विद्वान क. शिवरामन् ने अपने Saivism in Philosophical Perspective में सूतसंहिता को स्कन्द महापुराण का हिस्सा बताते हुए इसे शैवों के शिवाद्वैत का आधार ग्रन्थ कहा है (पृ. ३२) । अप्पय दीक्षित की शिवार्कमणि-दीपिका तो शैव सिद्धान्तों का चरमोत्कर्ष है । विद्वान् लेखक के मत में शैवों पर कुछ समय तक पाशुपत नैयायिकों का प्रभाव द्वैतवाद के रूप में अवश्य रहा, पर शीघ्र ही मूल अद्वैत धारा पुनः प्रभावकारी रूप से प्रकट हो गई । सिद्धान्ततः तार्किक मीमांसा केवल निमित्त कारण ही शिव को स्वीकारती है । वैदिक मीमांसा अभिन्न निमित्तोपादान की पोषक है । यही सूतसंहिता को भी स्वीकृत है । "मैं ही एक मात्र जगत् का कारण हूँ" (१.२.८) कहकर यह स्पष्ट किया गया है । प्रामाण्य के विषय में भी 'सभी वेद अविरोध के द्वारा ही प्रमाण हैं', अन्य किसी भी प्रकार से नहीं (१.१.३६) कहकर सूतसंहिता ने 'विरोध त्वनपेक्ष' के द्वारा प्रतिपादित जैमिनी के सिद्धान्त को ही स्वीकारा है । माधवाचार्य ने यह स्पष्ट भी किया है । सारे वेद की एक वाक्यता, एवं 'तत्तु समन्वयात्' का बादरायण न्याय भी १.१.३९ में स्पष्ट किया गया है । इस प्रकार यह पुराण रत्न वेदान्त मर्यादाओं का पोषक पूर्णरूप से करता है । पुराण की आवश्यकता बताते हुए वेदों की दुरधिगमता पर माधव ने १.१.३४ की टीका में प्रकाश डाला है । किंच वेदाधिकार में पर्युदस्त शूद्र आदि के लिए भी पुराण ही उपाय है । शूद्र को ब्रह्मविद्या का अधिकार शांकरभाष्य में स्पष्ट कहा है एवं उसका उपाय पुराण भी वहाँ बताया है । यहाँ भी १.७.२१ में यही स्पष्ट किया है । सूतसंहिता स्पष्ट कहती है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य स्त्रियों को तो वेद द्वारा भी ज्ञान का अधिकार है (१.१.२०) । आगे कहा है कि भाषान्तर से तो शूद्रों से भी निकृष्ट म्लेच्छ, यवन, चाण्डाल आदि को ज्ञानाभ्यास विहित है । समय से सभी का ज्ञान पक जाता है । जहाँ ज्ञानसाधना के बिना ज्ञान देखने में आता है वहाँ तो पूर्व जन्म में ज्ञानसाधना मान लेनी पड़ती है (१.१.२३) । इस प्रकार सूत संहिता मानवमात्र को परमेश्वर की भक्ति व शिवात्मैक्य ज्ञान में अधिकार स्वीकारती है ।

सूत संहिता में अनेक स्थलों पर स्तुतियाँ आई हैं जो भाव व ज्ञान दोनों से परिपूर्ण हैं । १-३-२७ से ४८ तक ब्रह्मादि देवताओं की स्तुति यजुर्वेद के नमकाध्याय की स्मृति दिलाती है । १-९-१२ से ३४ तक वाराहरूप विष्णु की स्तुति ब्रह्मर्षियों ने की परन्तु यह जान करके कि वे ही शिव हैं (१.९.५) । ४.२९ में विष्णु द्वारा की गई वर्णमाला स्तुति भी अत्यन्त सुन्दर हैं ४-३८-५ से ६९ तक व्यास स्तुति भी श्रेष्ठ है । ४.२०.३५ से ४१ तक वेद की प्रमाणता को अनेक दृष्टान्तों

से निरूपित किया है । ४.२२ में सभी धर्ममार्गों के प्रामाण्य का सम्यग्रूपेण निरूपण किया है । ४. उ. सू. गी. ८ में २७ से ६१ तक सभी मार्गों का संक्षिप्त वर्णन व उनका तथा वेदमार्ग का समन्वय भी सुरुचिपूर्ण ढंग से किया है । इन मार्गों में ब्राह्मणों की प्रवृत्ति गौतम के शाप से होना भी ४.३२.१९ से ४४ तक विस्तार से बताया है । ४.३६ में कालहस्तीश्वर की महिमा व प्रतिमास अर्चना का विस्तृत वर्णन करके इसमें अन्त्यज का अधिकार भी बताया है । कण्णप्प भील ने यहाँ ज्ञान पाकर मुक्ति पाई थी यह प्रसिद्ध ही है ।

४.२०.१३ में पौरुषेय धर्म को भी धर्म कहा है पर यह सर्वथा सामान्य कोटि का माना गया है । वहीं १४ में यदि वह धर्म किसी देवता को उद्देश्य करके विहित है तो वह तदपेक्षया श्रेष्ठ है । पहले धर्म में परलोक तो स्वीकार किया जाता है पर ईश्वर नहीं, दूसरे में परलोक व ईश्वर दोनों की स्वीकृति है, यद्यपि ईश्वर को अभिन्ननिमित्तोपादान रूप से नहीं समझा गया है । इस प्रकार जो पौरुषेय प्रसूत होकर भी जितना अपौरुषेय के अनुरूप है वह उतना ही श्रेष्ठ है । इस प्रकार सर्व-धर्म-समन्वय का आधार अद्भुत रूप से उपस्थापित किया गया है । बृहदारण्यक वार्त्तिक में भगवान् सुरेश्वराचार्य ने एवं शिवमहिम्नः स्तोत्र की व्याख्या में आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने इन विचारों की आधारशिला पर अत्युत्कृष्ट विचार प्रकट किया है जो सहृदयों को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकता है । इन्हीं विचारों का विस्तार ४.२५.४० में भगवान् विष्णु का वचन है कि ज्ञान द्वारा संसार के आत्यन्तिक संहार का कार्य भगवान् शंकर का ही साक्षात् विषय है, स्वयं विष्णु या ब्रह्मा का नहीं क्योंकि वे सृष्टि व पालन के ही साक्षात् अधिकारी हैं । कैवल्यमुक्तिप्रद शिव ही हैं यह स्पष्ट है । ४.२८ में शिवलिंगस्वरूप का इतना सुन्दर दार्शनिक व धार्मिक पक्ष उपस्थापित किया गया है जो अन्यत्र सुलभ नहीं । इसी प्रकार ४.३० में महामाया का अवभासक महादेव ही महाभस्म कहा गया है । माधव ने स्पष्ट किया है कि तत्त्वज्ञान प्रदान करके सारे पापों को भस्म करने वाला ब्रह्म ही अग्नि है, एवं यह ज्ञान ही वह भस्म है जिसे शिव धारण करते हैं । इस भस्म को ही ब्रह्मविद्वरिष्ठ धारण करते हैं । उसे बाह्य भस्म, जटा व चीवर अपेक्षित नहीं है । इस बात का स्मरण कराने वाला बाह्य भस्म साधक के लिए विहित है । इस प्रकार जो भस्म धारण से मुक्ति के शास्त्रीय वचन हैं वे सर्वथा संगत हो जाते हैं । अन्यथा ज्ञान ही मुक्तिप्रद है इस वेदोक्ति का विरोध बना रहता है ।

ज्ञानयोग की एक परम्परा ४.२५ में प्रतिपादित है जिसके अनुसार ईशानमूर्त्ति से विष्णु, ब्रह्मा, सनत्कुमार, व्यास को क्रमशः ज्ञान प्राप्त हुआ । ४.४२ में प्रायश्चित्त निरूपण में निश्चयात्मक ब्रह्मज्ञान का साक्षी किसी भी कर्म के बन्धन को प्राप्त नहीं करता है यह स्पष्ट बताया है । ४.४२.३५, ३६ को पंचदशी में उद्धृत किया गया है । ३५ तो शब्दतः उद्धृत है । ३६ अर्थतः उद्धृत है । इसी प्रकार पंचदशी के कूटस्थदीप प्रकरण में 'वृत्तेः साक्षितया' (५६) से (५८) तक स्वयं विद्यारण्य स्वामी ने शैवपुराण कहकर जो उद्धरण दिये हैं उन्हें शैवपुराण का कहा है । उनके शिष्य रामकृष्ण ने इसे मुखतः सूतसंहिता का बताया है । इस प्रकार प्रसिद्ध ग्रन्थों में अन्यत्र भी सूतसंहिता उद्धृत है । अच्युतराय मोदक ने अपनी पंचदशी टीका में इसे स्कान्दसूतसंहिता कहकर इसे स्कन्दपुराण का अंश कहा है । इसी प्रकार यज्ञवैभवखण्ड ४.५९ वं ६० सर्ववेदान्त-सार-संग्रह के २७९ का शब्द व अर्थ साम्य भी द्रष्टव्य है । ४.१४.५१ इसी प्रकार विवेक चूडामणि में २७२ में उद्धृत प्रतीत

होता है । इस प्रकार शांकर सिद्धान्त में इस ग्रन्थ का प्रचुर अध्ययन व प्रामाण्य स्वीकार किया जाता रहा है जो इस ग्रन्थ को पढ़ने पर सर्वथा न्यायोचित लगता है । सामान्य वेदान्त के साधकों में योगवासिष्ठ व सूतसंहिता का विपुल प्रचार रहा है । उपनिषदों का संक्षेप व भावपूर्ण वर्णन प्रति उपनिषद् को लेकर ब्रह्मगीता वाले अध्यायों में स्पष्ट किया है । अनेक दशकों पूर्व स्वामी सनातनदेव ने इसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया था । इसी को लक्ष्य करके अनुभूतिप्रकाश स्वामी विद्यारण्य ने बनाया जो उपनिषद् के प्रत्येक प्रकरणो को समझने में अत्यन्त उपकारक है । आचार्य शंकर व उनके साम्प्रदायिक आचार्यों ने "उपरत" शब्द से परमहंस संन्यास को, जो सर्व-कर्म-परित्याग रूप है, स्वीकार किया है । अतः मुख्याधिकारी संन्यासी ही माना गया है । गौणाधिकारी को भी ज्ञान, अनेक शांकर मत के आचार्यों के अनुसार, जन्मान्तरकृत संन्यास से ही अप्रतिबद्ध होता है । सूत संहिता ४.२.१० में इसी बात को स्पष्टतः कहती है । ४.२.१५ में भी पुनः स्पष्ट किया है कि कर्मसंन्यासी परमहंस ही है, दूसरे तो काम्य कर्म का ही त्याग करते हैं, अतः परमहंस ही श्रवणमात्र से ज्ञान प्राप्त कर पाता है । ४.२१.२२ में अन्य संन्यासियों को भी मुक्ति की इच्छा होने पर परमहंस संन्यास स्वीकार करने की ही शंकर की आज्ञा को प्रतिपादित किया है । १.७.१८.१९ में भी इसे स्पष्ट किया है । यहाँ द्विजस्त्री को वेदाधिकार भी कहा है । २३ व २४ में वहीं सामान्यतः सभी संन्यासियों की आह्निक चर्या का वर्णन करके, २५ व २६ में गुरुसेवा, श्रवण, मनन व निदिध्यासन ही परमहंस का विशेष धर्म कहा है ।

सूतसंहिता ४.१० के १६, १७, १८ में सभी पांच भाव प्रमाणों का संग्रह, एवं शांकर सिद्धान्त के अनुरूप उनका लक्षण प्रस्तुत करके प्रामाण्यविचार में अद्वैतमत से अपनी एक वाक्यता प्रतिपादित करता है । शाब्द प्रमाण में तात्पर्योपेतशब्दोत्थ ज्ञान सर्वथा आचार्य पद्मपाद एवं विवरणाचार्य के सिद्धान्त का परिपोषक ही है । भगवान् भाष्यकार के उपवर्ष के उद्धृत मत को यहाँ माधव ने भी दर्शाया है । ३७ व ३८ में मुखतः सूतसंहिता वेदान्त वाक्य के श्रवण को ही ज्ञान का साक्षात् साधन स्वीकार करके आचार्य शंकर के बृहदारण्यक में किये 'औपनिषदं पुरुषं' की व्याख्या को ही उपोद्बलित करता है । माधवाचार्य ने अपनी व्याख्या में भी इसे स्पष्ट किया है । २७ में अवान्तर वाक्यों का महावाक्यों से भेद भी सर्वथा अद्वैत का पोषक है । माधव ने टीका में यहाँ मीमांसा के विचारों को उद्धृत करके यह विषय स्पष्ट किया है । वेदान्त ग्रन्थों में प्रायः उद्धृत 'अधिष्ठान रूप से बच जाना ही कल्पित का नाश है' सूत संहिता का ही ४.२.८ का श्लोक है । यहाँ माधव ने साहित्यकारों को उद्धृत करके अपनी बहुज्ञता का परिचय दिया है ।

माधवाचार्य साहित्य ही नहीं तंत्रशास्त्र के भी मर्मज्ञ थे । यह ४.७ में अजपाजप की व्याख्या में स्पष्ट है । यह अजपामंत्र भी पूर्ण बोध देने में समर्थ होता है जो भागत्याग लक्षणा से ही संभव है । इसे १३ में स्पष्ट किया है । माधव ने यहाँ विस्तृत व्याख्या में सारी प्रक्रिया स्पष्ट की है । वाक्यवृत्ति का यहाँ आधार लिया है । अन्यशेषता के विचार से आत्मा की परप्रेमास्पदता की सिद्धि भी यहाँ १७ से २० में की है, जो विद्यारण्य महास्वामी ने पंचदशी में विस्तृत की है । इस ज्ञान के अनधिकारी को ३४ में जो साधना बताई है उसका तंत्रों में विस्तार है, जिसे सार रूप में साधक को माधव ने अपनी व्याख्या में स्पष्ट किया है । इस साधक को सर्वथा गुरु की आज्ञा पर, बिना अपनी तर्कबुद्धि का प्रयोग किये, लगना आवश्यक है, यह ३८ में स्पष्ट किया है । ४.१३ में सृष्टि प्रक्रिया का विचार सूतसंहिता में है । श्लोक २ की व्याख्या में माधव ने

तान्त्रिक स्वातन्त्र्यवाद को वेदान्त सूत्र के "लोकवत्तु" सूत्र से समन्वित किया है । इसका विस्तार शिवमाहात्म्य खण्ड के पांचवे अध्याय के नवें श्लोक की व्याख्या में उन्होंने विस्तृत रूप से मातृका विचार के प्रसंग में उपस्थित करके अपनी तंत्रज्ञता को प्रकट किया है । ४.१३ के ५० में भी यह समझाया है । शिव ही रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा, सदाशिव, हिरण्यगर्भ, सूत्रात्मा, विराट्, स्वराट्, सम्राट्, इन्द्र आदि भावों को उपाधि द्वारा प्राप्त करते हैं । यह ४.१३.७ से १७ तक स्पष्ट करके १९ से २९ तक मनुष्य, पशु, पहाड़, समुद्र आदि रूपों को भी उपाधिभेद से शिव ही प्राप्त होते हैं यह स्पष्टतः प्रतिपादित किया है ।

यज्ञवैभवखण्ड के १४वें अध्याय में पंचमुखों का वर्णन पंचकृत्यों से जोड़ना भी मूलतः तन्त्र की विचारधारा है । परवर्ती उपनिषदों में इसे एवं अन्य तंत्र परम्पराओं का संग्रह किया गया है यह विषय दूसरा है । आचार्य माधव ने अपनी व्याख्या में स्पष्टतः यहाँ तांत्रिक ग्रंथों का उल्लेख किया है । मूल सूतसंहिता में तो केवल पंचकृत्य का संकेत देकर औपनिषद प्रकार से पंचभूतों व इन्द्रियादि का ही सम्बन्ध बताया है । शैवागमों के तत्त्वों का अवश्य यहाँ पंचमहाभूतों से सम्बन्ध स्थापित किया गया है । इसी खण्ड में अन्यत्र भी यह सब देखा जाता है ।

यज्ञवैभवखण्ड के आठवें अध्याय में 'नमः शिवाय' की विस्तृत व्याख्या की है । 'नमः' शब्द का अर्थ तादात्म्य सम्बन्ध (१० व ११) बताया है । यहाँ १२ की व्याख्या में माधव ने सुरेश्वराचार्य के दक्षिणामूर्ति वार्त्तिक मानसोल्लास ९.४३ को उद्धृत किया है । 'म' के अर्थ में मिथ्या का भी कथन है । यहाँ का वर्णन ही भगवान् पद्मपाद के मंत्रराज या पंचाक्षरी व्याख्यान का मूल प्रतीत होता है । वहाँ और अधिक अर्थगौरव दिखाया गया है । परन्तु प्रतिपादन शैली व प्रतिपाद्य विषय में अभूतपूर्व साम्य देखने में आता है । इसी अध्याय में २२वें श्लोक की व्याख्या में आचार्य माधव ने अत्यन्त विस्तार से सर्ववादिसमन्वय की पद्धति बताई है, जिसका आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने प्रस्थान भेद में अनुसरण किया है । ३२ व ३४ में अर्थ ज्ञान में असमर्थ को साधन बताते हुए ६ लाख मंत्र का जप, १ लाख का तर्पण व एक हजार का हवन करने का विधान किया है । इससे मंत्रसिद्धि कही है । इस विषय में सामान्य परम्परा दशांश होम व शतांश तर्पण की है । अतः यह सूतसंहिता का विशेष प्रयोग ही माना जायेगा । ऐसा अन्यत्र भी अनेक विधियों में द्रष्टव्य है । प्रथम खण्ड के चतुर्थ व पंचम, चतुर्थ खण्ड के षष्ठ, सप्तम, अष्टम आदि अध्याय विशेषतः मननीय हैं ।

यज्ञवैभवखण्ड के सोलहवें अध्याय में ज्ञानोत्पत्ति में तैत्तिरीयोपनिषद् की शान्ति का प्रयोग बताया है, तथा उसी उपनिषद् के शीक्षाध्याय के आधार पर देहयात्रार्थ हवन के विधान का भी वर्णन है । संन्यासी के लिये केवल श्रद्धापूर्वक जपमात्र का स्पष्ट कथन किया है । माधव तो सभी अनग्नि साधकों का इस प्रकार के जप में अधिकार स्वीकारते हैं । षडक्षर जप आदि शैवधर्मों का भी यहाँ विस्तार है । तैत्तिरीय के "भूत्यै न प्रमदितव्यम्" की अप्पयदीक्षितेन्द्रकृत व्याख्या का भी यहाँ मूल है । यहाँ ४८ में अन्त्यज, कीट आदि का भी शिवकृपा से मोक्ष प्रतिपादित किया है । ३५ से "सत्यं वद" आदि धर्मों का भी संग्रह है । अभिशस्त, पतित आदि के साथ निवास आदि का निषेध भी है । इस प्रकार तैत्तिरीयोपनिषद् की ही यहाँ व्याख्या है । इस प्रकार केवल ब्रह्मगीता में ही नहीं अन्यत्र भी सूतसंहिता औपनिषद सिद्धान्त का ही प्रतिपादन करती है । इस प्रकार प्रत्येक श्रौत उपनिषद् का विवेचन और किसी भी पुराण में उपलब्ध नहीं है । अतः इसका

वैशिष्ट्य अन्य पुराणों की अपेक्षा स्पष्ट ही विचारणीय है । संभवतः इसी पुराण से प्रभावित होकर स्वामी शंकरानन्द सरस्वती ने आत्मपुराण की रचना की हो । माधव ने ४.१७.४८ के 'गर्भस्थितः' की व्याख्या में इसीलिये ऐतरेयक के 'गर्भ एव एतच्छयानः'' का उल्लेख किया है । प्रसिद्ध हाथी के अंगों से ही हाथी की कल्पना का दृष्टान्त भी ४७ में ''जात्यंधगजदृष्ट्या'' से दिया है, एवं माधव ने इसे स्पष्ट भी किया है । यज्ञवैभवखण्ड के पन्द्रहवें अध्याय में अनेक बादरायण न्यायों का प्रतिपादन किया गया है एवं माधव ने अपनी व्याख्या में उन न्यायों को उद्धृत भी किया है । भगवान् सुरेश्वराचार्य का 'अव्यावृत्तानुगतं' (बृ. वा १.४.१०७६), 'तदनन्यत्वं' (ब्र. सू. २.१.१४) तथा मुक्ति के विषय में 'तदधिगमे' (ब्र. सू. ४.१.१३) 'अनारब्धकार्ये एव' (४.१.१५), 'एवं मुक्तिफलानियम.' (३-४-५२), 'न निरोधो न' (गौ. का. २.३२) आदि इस यज्ञवैभवखण्ड के पन्द्रहवें अध्याय में ही द्रष्टव्य है । माधव ने सर्वत्र इन प्रसंगों को स्पष्ट किया है । इसी प्रकार ३.२.५२ से ५४ तक परोक्ष ज्ञान, अपरोक्ष ज्ञान, व ज्ञाननिष्ठा के तीन स्वरूपों को बताया है जिसे सर्वज्ञात्ममहामुनि ने भी संक्षेपशारीरिक में प्रतिपादित किया है । माधव ने अपनी व्याख्या में इन तीनों को स्पष्ट किया है । मुक्तिखण्ड के द्वितीय अध्याय की २८ व २९ श्लोक की विस्तृत व्याख्या में सारूप्य, सामीप्य, सालोक्य तथा सायुज्य मुक्तियों का वर्णन किया है । माधव ने सर्वत्र उपनिषदों के सन्दर्भ में इसे स्पष्ट किया है ।

मुक्ति खण्ड में स्पष्टतः मुक्ति देने वाला परमेश्वर का रूप दक्षिणामूर्ति ही को बताया है । ४.१.३५ से ४९ तक भगवान् दक्षिणामूर्ति के स्वरूप का वर्णन करते हुये अपस्मार को आत्मा का अज्ञान बताया है, जिसे चरणों के नीचे दबाया गया है । ज्ञानमुद्रा, वेद, रुद्राक्ष की माला एवं कलश उनके चारों हाथों में है । परमानंद ही उनका आधा शरीर, शक्ति रूप है । धर्म रूप वृषभ पर आरूढ हैं । माया रूपी वट वृक्ष के नीचे ध्यान में बैठे हैं । वेदज्ञ मुनि उनके चारों तरफ हैं । ॐकार ही उनका आसन है । उपासकों को सभी इष्ट देने वाले हैं । 'रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं' आदि श्वेताश्वतर शाखा के मंत्र से उनकी पूजा होती है । बहुत से साधक उन्हीं से कृतार्थ होते हैं एवं मुक्ति प्राप्त करते हैं । इस प्रकार दक्षिणामूर्ति की उपासना का यहाँ सुन्दर वर्णन मुमुक्षु के लिये बताया है । आचार्य शंकर ने दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्रों में इसी का विशद वर्णन किया है । मुक्तिखण्ड के पांचवें अध्याय में १५ से ३२ तक अतिवर्णाश्रमी का भी मोहक वर्णन किया है । अग्रिम अध्यायों में नटराज का भी वर्णन किया है । इसी प्रकार शिवमाहात्म्य खण्ड के दसवें अध्याय के ३३ से ३७ तक स्पष्ट किया है कि ब्रह्मा की प्रार्थना पर शिव ने अपने जैसे मुक्तों की सृष्टि की । ब्रह्मा के यह कहने पर कि जन्ममृत्यु वाले की सृष्टि करें, शिव ने मना कर दिया क्योंकि वे संसारमोचक हैं, अतः बद्धों की सृष्टि नहीं करेंगे । 'दुःखियों की सृष्टि तुम्हीं करो' । इस प्रकार शिव ही मोचक हैं, एवं वे मोचक ही हैं, यह सूतसंहिता की स्पष्ट घोषणा है । ब्रह्मादिरूप से वे ही प्रपंचसृष्टि के कारण भी हैं यह तो स्पष्ट ही है, परन्तु अपने शिवरूप से तो वह मोचक ही है ।

ब्रह्मगीता यज्ञवैभवखण्ड का उपरिभाग या उत्तरखण्ड का प्रथम हिस्सा है । इसका अन्तिम भाग सूतगीता है । ब्रह्मगीता का पूर्वभाग अर्थात् २ से ११ अध्याय तो उपनिषदों का एक एक करके संक्षेप है । इसमें पहले ऋग्वेद, फिर कृष्ण यजुर्वेद, सामवेद, और अन्त में अथर्ववेद की उपनिषदों का विचार किया है । ब्रह्मोपनिषद्, कैवल्योपनिषद् आदि फुटकर उपनिषदों का विचार करके अन्त में बृहदारण्यक के मैत्रेयी ब्राह्मण, उषस्त ब्राह्मण, काठकोपनिषद् तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् का विचार

किया है । १२ में संग्रह करके तात्पर्य निर्णय किया है । सर्वत्र ही बीच-बीच में अन्यत्र से भी सम्बन्धित विषय समझाये गये हैं । इस प्रकार यह उपनिषद् के तत्त्वों का हृदयंगम कराने का स्तुत्य प्रयास है ।

दूसरे व तीसरे अध्याय के तीसवें श्लोक तक ऐतरेय का वर्णन है । इसमें प्राण का प्रवेश शिव की क्रियाशक्ति का प्रवेश है, एवं चिच्छक्ति या ज्ञानशक्ति का प्रवेश शिव का प्रवेश है, इसे टीका में स्पष्ट किया है । ३.१ की व्याख्या में यह द्रष्टव्य है । इसी प्रकार ४० की व्याख्या में मनोमय में रजोगुण का स्वल्प अनुवेध, व विज्ञानमय में रजोगुण का अभाव माधव ने प्रतिपादित किया है । सूतसंहिता का इन कोशों का वर्णन ही परवर्ती वेदान्त ग्रन्थों में स्वीकृत है, जो तैत्तिरीय से कुछ हटकर ही प्रतीत होता है । परन्तु इसका पंचदशी आदि ग्रन्थों में स्वीकार सूतसंहिता के वेदान्त सम्प्रदाय में प्रभाव को स्पष्ट करता है । तैत्तिरीय में माधव ने अधिक विस्तार से विचार किया है जो माधव का कृष्णयजुर्वेदी होने का संकेत देता है । स्वयं चतुर्वेदभाष्य में सर्वप्रथम कृष्णयजुर्वेद की व्याख्या करना सायण माधव एवं व्याख्याकार माधव में एकता का भी संकेत दे सकता है । १०८-११४ में ज्ञानी के सामगान का विचार करते हुये भाषागान की भी स्वीकृति याज्ञवल्क्य स्मृति के प्रायश्चित्ताध्याय श्लोक ११३ से साम्य बताती है । याज्ञवल्क्य यजुर्वेदी थे यह तो निःसंदिग्ध ही है । चतुर्थ अध्याय में केनोपनिषद् का विचार है । इसके ५१ व उसकी व्याख्या में समाधिकाल में जीवन्मुक्त की ब्रह्मस्थिति एवं व्युत्थान काल में संसार प्रतीति स्पष्ट ही विवरण प्रस्थान के अनुसार है । 'कदाचिद् असंप्रज्ञातात्मैकत्वदर्शनं, कदाचिद् आरब्धकर्मोपस्थापितद्वैतदर्शनं चेति' (विवरण पृ. ६७१ पंक्ति १५) से यह स्पष्ट है । केन की यक्ष कथा में केवल इन्द्र का श्रद्धायुक्त होना कहा है । सूतसंहिता में इन्द्र की विद्या का ध्यान १०३ में कहा है । एवं इन्द्र कथा का तात्पर्य ७३ से ७८ में शिवप्रसाद के बिना ज्ञान की अप्राप्ति बताया है । यहाँ शिवप्रसाद का मनोमोहक वर्णन किया है । अप्पयदीक्षितेन्द्र व श्रीहर्ष के 'ईश्वरानुग्रहादेव' एवं 'अनुग्रहादेव तरुणेन्दुशिखामणेः' का यही मूल है । "देव प्रसादाच्च गुरोः प्रसादात्" की श्वेताश्वतर तो इसका प्रमाण है ही । पंचम में केन का विचार करके छान्दोग्य की श्वेतकेतु विद्या का विचार है । छठे में ब्रह्मपुर का वर्णन है । सातवें में आथर्वण मुण्डकोपनिषद् का विचार है । आठवें में कैवल्योपनिषद् का विचार है । यहाँ जाग्रदादि के अभिमानी विश्व आदि का वर्णन माण्डूक्य के आधार पर किया है एवं ६२ में कारिका भी उद्धृत है । 'एतस्माज्जायते' का ३९ में 'ब्रह्मणा जायते' कहकर तटस्थ लक्षण बताया है यह माधव ने कहा है । इस प्रकार अनेक जीववाद की दृष्टि ही यहाँ अपनाई गई है । नवम से बृहदारण्यक का विचार प्रस्तुत है । १४ के श्लोक में आत्मा की प्रियतमता को ही आनन्दरूपता में प्रमाण दिया है । दसवें में साक्षात् अपरोक्ष रूप ब्रह्म का उषस्त प्रश्न एवं उसके याज्ञवल्क्य के उत्तर से दिये गये मुनि काण्ड का विस्तृत विवेचन किया गया है । ८ में गार्गी के ओतप्रोत का विवेचन है । बीसवें में अन्तर्यामी ब्राह्मण का संग्रह है । २७ में ज्योति ब्राह्मण व इसके बाद शेष बृहदारण्यक के ब्रह्मविषयक सन्दर्भों का संक्षेप करके समापन किया है । ग्यारहवें में कठ ५६ श्लोक तक समाप्त करके ५७ से श्वेताश्वतर का विवेचन किया गया है । ६१ में क्षर को माया व अक्षर को जीव कहा है । इन दोनों से ही एक देव भिन्न प्रतीत होता है । माया का तात्पर्य देवरूप अधिष्ठान से अभिन्न, अर्थात् ईश्वर रूप है, यह वार्ता माधव ने स्पष्ट की है । ६८ में 'युञ्जानः' का तात्पर्य अग्निहोत्रादिनित्यकर्म है ऐसा माधव ने स्पष्ट किया है । १२.२९ में आगमों में वर्णित कर्मसाम्य को बताया है । इस अध्याय में गुरु की कृपा का भी विस्तृत वर्णन है । शिवमाहात्म्यखण्ड के ग्यारहवें

अध्याय में कृतिशक्तियों से उपहित सूत्रात्मा को विष्णु (श्लोक ९), तथा क्रिया व ज्ञान के अभेद रूप पंचभूतों की शक्ति से उत्पन्न प्राण व मन के विभाग से रहित एक ही उपाधि से उपहित को अन्तर्यामी भी बताया है । उसे ही त्रिमूर्ति में महेश बताया है । त्रिमूर्ति में विराट् ब्रह्माण्डाभिमानी को ब्रह्मा कहा है । इसी को समष्टि सूक्ष्म से उपहित होने पर हिरण्यगर्भ कहा जाता है । यहाँ माधव ने विस्तृत विवेचन उपस्थापित कर औपनिषद तत्त्वों का पौराणिक देव तत्त्वों से समीकरण का स्तुत्य प्रयास किया है । ब्रह्माण्डान्तरवर्ती समष्टि लिंग शरीराभिमानी को स्वराट् बताया है (१३) । यह प्रसंग इतने स्पष्ट रूप से अन्यत्र दुर्लभ है । इस प्रकार माधव की व्याख्या सूतसंहिता के रहस्यों का सम्यक् प्रकाश करती है ।

सूतगीता के आठों अध्याय वेदान्त दृष्टि को संक्षेप में प्रकट करते हैं । द्वितीय अध्याय के ग्यारहवें श्लोक में जीव बहुत्व को स्पष्टतः कल्पित कहा है । उपाधि के आकार भेदों से जीव व ईश्वर के बहुत्व का प्रतिपादन है । देहेन्द्रियादि संघात व वासना के भेदों से संस्कृत एक ही अविद्या जीवभेद का कारण है (१३) । एक अविद्या पक्ष ही सूत संहिता सम्मत है, अनेक अविद्या पक्ष नहीं यह यहाँ स्पष्ट है । विवरणाचार्य प्रकाशात्म श्री चरणों से अनेक स्थलों पर साम्य विवरण सम्प्रदाय का पौराणिक पुष्ट समर्थन है । पुराण यद्यपि सभी पक्षों का समन्वय उपस्थित करने का प्रयास करते हैं, पर उसका मूल आधार भी स्पष्ट हो ही जाता है । इसी प्रकार गुणों के वासना भेदों से वही अविद्या ईश्वर के भेद प्रतीति का कारण भी हो जाती है (१४) । ३६ में स्पष्ट किया है कि परम तत्त्व से श्रेष्ठ रुद्र या विष्णु को मानना संसार की ही प्राप्ति कराता है । इससे उन वैष्णव आदि आचार्यों की मान्यता कि निर्गुण से सगुण श्रेष्ठ है, सूतसंहिता द्वारा सर्वथा तिरस्कृत है । कुछ आधुनिकों का कथन कि जैसे नक्षत्र हमें केवल बिन्दु रूप से दीखते हैं, वैसे निर्गुण का दर्शन है । दूरवीक्षण यंत्र से नक्षत्र साफ सावयव दीखते हैं, वैसे सगुण का दर्शन उसी ब्रह्म का सम्यग्दर्शन है, यहाँ सूतसंहिता में स्पष्ट ही निषिद्ध किया गया है । आगे ३७ में स्पष्ट कहा है कि विष्णु आदि को परतत्त्वरूप मानना मुक्तिमार्ग को प्रशस्त करता है । तीसरे अध्याय के ७ में श्रुति प्रामाण्य के विचार में शिवप्रणीत या अपौरुषेय अनादि दोनों मान्यताओं में अनादि पक्ष को ही श्रेयस्कर माना है, यद्यपि शंकरप्रणीत को भी स्वीकार करने में दोष नहीं है, यह स्पष्ट किया है । इस प्रकार गौतम, कणाद व सेश्वर सांख्यवाद की अपेक्षा जैमिनि व बादरायण की विचारधारा ही सूतसंहिता में श्रेष्ठ मानी है । २२ में स्पष्ट किया है कि शिव कृत मानने पर भी उसे शिव द्वारा अभिव्यक्त ही समझना चाहिये । इस प्रकार शास्त्रयोनित्व के दोनों वर्णकों के भाष्य को सूतसंहिता ठीक उसी प्रकार से स्वीकार करता है जैसा भगवान् भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर का प्रतिपादन है । अध्याय ४ के श्लोक ३३ में माया को कारणत्वरूप से कल्पित बताकर उसे भी बाध्य बता दिया है । अतः तत्त्वनिरूपण करने पर अधिष्ठान ही तत्त्व सिद्ध होता है । ४४-४५ में नैष्कर्म्यसिद्धि के ४.५१ से प्रवृत्तिनिवृत्ति के अभाव का प्रतिपादन का मूल मिल जाता है । छठे अध्याय में अहंतत्त्व का सम्यक् प्रतिपादन किया है । १२ में जमे घी व तरल घी के दृष्टान्त से त्रिमूर्ति व परतत्त्व को स्पष्ट किया है । मूलाधार में स्थित ओङ्कार ही मूल या जड़ है । ॐ का बिन्दु ही उसकी शक्ति या मूल बनने की सामर्थ्य है । बिन्दु को आधुनिक जीव विज्ञान का Chromosome nuclear coding की भाँति कह सकते हैं । बैखरी में व्यक्त ओङ्कार ही पेड़ है । अकारादि वर्ण रूपी पचास भेद

उस वृक्ष की डालें हैं । शिव साक्षात्कार ही फूल है । मोक्ष ही फल है । अन्त में सभी देवताओं को त्याग करके, भोग व मोक्ष के लिए शिव ही ध्येय हैं यह अथर्वशिखोपनिषद् के अनुसार कहा है । यह स्पष्ट ही एकेश्वरवाद का घोष है । उपनिषदों में सकामों के लिए सोपाधिक ब्रह्म की प्राण, वैश्वानर आदि उपाधियों में उपासना बताई है । निष्कामों के लिए मोक्षार्थ शाण्डिल्य, दहर आदि उपासनाओं का प्रतिपादन है । वैराग्यवान् व प्राज्ञ लोगों के लिए ब्रह्मज्ञान बताया है । अन्यत्र भी वेद में कम से कम ब्राह्मण के लिए तो कर्म की मानस उपासना से वही फल बताया ही है जो उस कर्म के करने से होता है । पूर्वमीमांसा के अनुसार भी जिन लोगों को राजसूय आदि का अधिकार नहीं है उनको वेदाध्ययन के समय उन प्रकरणों के अध्ययन की विधि निष्प्रयोजन होने से अप्रमाण होगी । वेद का स्वाध्याय काम्य तो नहीं है जो वृत्त्यर्थ उसे फलवान् मान लिया जाये । अतः सभी प्रकरणों को एकेश्वरवाद में संगत किया जा सकता है । परन्तु उपनिषद् तो स्पष्ट ही एकेश्वरवादी है । यहाँ सूतसंहिता भी इसे ही प्रकट करती है । सातवें अध्याय के २४वें श्लोक में ज्ञानी के शरीर में सभी देवता प्रत्यगात्मरूप से भी भान होते हैं यह स्पष्टीकरण देकर ब्रह्मवेत्ता की आथर्वण उपासना को स्पष्ट किया है । सामान्य व्यक्तियों में देवता रहते हैं परन्तु तिरोभूत रूप से (२७) । अतः २९ में अपने व पराये शरीर के अपमान से अधोगति बताई है । आठवें में २० श्लोक स्पष्ट करता है कि सारे धर्मों की जड़ आस्तिकता है एवं आस्तिकता की जड़ निषिद्ध कर्मों का त्याग है । इसी के ७३वें श्लोक में व्यास अपने को शिव कृपा से ही ब्रह्मसूत्र का कर्त्ता होना बताते हैं ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शिवभक्तों एवं वेदान्तज्ञानियों के लिए सूतसंहिता अनमोल रत्न है । अब तक आनन्दाश्रम से इसके दो संस्करण निकले हैं । द्वितीय १९२४-२५ ख्रीस्ताब्द में निकला था । इसमें माधव टीका है । मद्रास से भी माधव टीका के साथ यह प्रकाशित हुआ है । मूल ग्रंथ देवनागरी लिपि में भी तामिलनाडु में निकला था । ग्रन्थाक्षरों में तथा तेलुगु में भी इसका मूल प्रकाशित हुआ है । उत्तर भारत में इसकी पाण्डुलिपि भी नहीं मिलती है और न इसका प्रकाशन ही हुआ है । केवल ब्रह्मगीता सानुवाद प्रकाशित हुई थी । अब आनन्दाश्रम व मद्रास दोनों संस्करण अलभ्य हो गये हैं । अतः इसका प्रकाशन आवश्यक समझा गया । हिन्दीभाषी लोगों में यह प्रचलित हो सके, अतः हिन्दी अनुवाद भी जरूरी था । शिवानन्द लहरी, शिवाष्टोत्तरशत व्याख्या, शिवभक्तविलास, आदि शिवभक्ति के प्रसिद्ध व्याख्याता होने के साथ ही बृहदारण्यक वार्तिक, विवरणोपन्यास, वेदान्ततत्त्वविवेक व्याख्या, प्रश्नोपनिषद् शांकरभाष्य व्याख्या, मुण्डकोपनिषद् शांकरभाष्य व्याख्या, केनोपनिषद् पदभाष्य व वाक्यभाष्य का समन्वित अद्भुत संस्करण व उसकी व्याख्या, वाक्यवृत्तिव्याख्या आदि अनेक वेदान्त के आधारभूत ग्रंथों का अत्युत्तम व्याख्याओं का लेखन किया है जो सभी प्रकाशित हैं व विद्वानों में जिनका आदर है । उन्हीं से यह हिन्दी व्याख्या भी प्रकट कराई गई है । हमें पूर्ण विश्वास है कि सूतसंहिता का यह संस्करण अवश्य ही एक कमी को पूरा करेगा । माधव द्वारा व्याख्यात स्थलों का पूर्ण व्याख्यान तो इसमें किया ही गया है, उनके द्वारा अव्याख्यात स्थलों पर भी हिन्दी में अनेक स्थलों पर नवीन प्रकाश डाला गया है जिससे यह संस्कृतज्ञों को भी उपकृत करेगी । हम स्वामी स्वयम्प्रकाश गिरिजी के दीर्घ जीवन की कामना करते हुए उनसे इस प्रकार की अनेक रचनाओं के उपस्थापन का आशीर्वाद देते हैं ।

आश्विन शुक्ला प्रतिपदा २०५६ आबूपर्वत

भगवत्पादीय

महेशानन्दगिरि

विषयसूची

सूतसंहिता
प्रथमं शिवमाहात्म्य-खण्डम्
प्रथमोध्यायः—ग्रंथावतारः

[1] *ऐश्वरं परमं तत्त्वमादिमध्यान्तवर्जितम् । आधारं सर्वलोकानामनाधारमविक्रियम् ॥१॥*

श्रीमाधवाचार्यप्रणीता तात्पर्यदीपिका

प्रणमामि परं ब्रह्म यतो व्यावृत्तवृत्तयः । अविचारसहं[2] वस्तु विषयीकुर्वते धियः[3] ॥ १ ॥

श्रीमत्काशीविलासाख्यक्रियाशक्तीशसेविना । श्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवानिष्णातचेतसा ॥ २ ॥

वेदशास्त्रप्रतिष्ठात्रा श्रीमन्माधवमन्त्रिणा । **तात्पर्यदीपिका** सूतसंहिताया विधीयते ॥ ३ ॥

क्रियते तत्तत्प्रकरणतात्पर्यप्रथनपूर्वकं विशदम् । विषमपदवाक्यविवरणं[4] मन्दधियामनुग्रहाय भक्त्या च ॥ ४ ॥

इह हि भगवान् बादरायणो लोकानुग्रहैकरसिकतया परशिवस्वरूपाविष्करणप्रधानां संहितामारभमाणो महतः पुरुषार्थस्य प्रत्यूहप्राचुर्यात् तन्निवृत्तये शिष्टाचारानुमितश्रुतिबोधितकर्तव्यताकं परशिवस्य प्रणिधानप्रणामलक्षणं मङ्गलाचरणं स्वयं कृतं शिष्यशिक्षायै ग्रन्थादावुपनिबध्नाति– **ऐश्वरमि**ति श्लोकद्वयेन । द्विविधं हि पारमेश्वरं रूपम्– निष्कलं, सकलं च । तत्र निष्कलं-शुद्धम् । सकलं शम्भुलिङ्गमूर्तिरूपम् । स्वप्रकाशाऽखण्डसच्चिदानन्दैकरसमद्वितीयं स्वप्रतिपत्तिफलं, तत्प्रणिधानं प्रथमार्धेन । निष्कलस्वरूपं बोधानन्दमयं प्रणिधेयत्वेनोक्तं शैवागमे

'परैक्यप्रापकं ज्ञानं वच्मि सम्यग्घिताय वः । चिदानन्दघनं पूर्णं प्रत्यग्ब्रह्मात्मना स्थितम् ॥

परे व्योम्नि शिखान्तस्थः निष्कलः परमः शिवः । चिदानन्दघनः सूक्ष्मः सर्वभूतानुकम्पया' ॥ इति ।

तथा सोमशंभुनापि 'जगन्मूलमकर्तारं बोधानन्दमयं विभुम् । निष्कलं स्वप्रकाशं च संचिन्त्य परमं शिवम्' ॥ इति ।

तत्रैव–'वृत्तेः साक्षितया वृत्तिप्रागभावस्य च स्थितः । बुभुत्सायास्तथा ज्ञोऽस्मीत्यापातज्ञानवस्तुनः ॥

असत्यालम्बनत्त्वेन सत्यः सर्वजडस्य तु । साधकत्वेन चिद्रूपः सदा प्रेमास्पदत्वतः ॥

आनन्दरूपः सर्वार्थसाधकत्वेन हेतुना । सर्वसम्बन्धवत्त्वेन संपूर्णः शिवसंज्ञितः ॥

जीवेशत्वादिरहितः केवलः स्वप्रभः शिवः । इति शैवपुराणेषु कूटस्थः प्रविवेचितः' ॥

तदुक्तं मृगेन्द्रसंहितायां शिवं प्रकृत्य 'जगज्जन्मस्थितिध्वंसतिरोभावैककारणम् । भूतभौतिक भावानां नियमस्यैतदेव हि' ॥ इति ।

तत्र **ऐश्वरं** रूपमपरमचलतनयाद्युपाधिविशिष्टम् । **परमं** निरस्तसमस्तोपाधिकं स्वप्रतिष्ठमखण्डं सच्चिदानन्दैकरसमद्वितीयं

आनन्दाश्रमसंस्कारोक्तपाठान्तरदर्शनम् ।
टिप्पण्यां क्वचिदन्येषां विषयाणां प्रदर्शनम् ॥

१ इतः पूर्वमेकादश पद्यानि क्वचित् मङ्गलाचरणरूपेणोपलभ्यन्ते–

सौम्यं महेश्वरं साक्षात्सत्यविज्ञानमद्वयम् । वन्दे संसाररोगस्य भेषजं परमं मुदा ॥१॥
यस्य शक्तिरुमा देवी जगन्माता त्रयीमयी । तमहं शंकरं वन्दे महामायानिवृत्तये ॥२॥
यस्य विघ्नेश्वरः श्रीमान्पुत्रः स्कन्दश्च वीर्यवान् । तं नमामि महादेवं सर्वदेवनमस्कृतम् ॥३॥
यस्य प्रसादलेशस्य लेशलेशलवांशकम् । लब्ध्वा मुक्तो भवेज्जन्तुस्तं वन्दे परमेश्वरम् ॥४॥
यस्य लिङ्गार्चनेनैव व्यासः सर्वार्थवित्तमः । अभवत्तं महेशानं प्रणमामि घृणानिधिम् ॥५॥
यस्य मायामयं सर्वं जगदीक्षणपूर्वकम् । तं वन्दे शिवमीशानं तेजोराशिमुमापतिम् ॥६॥
यः समस्तस्य लोकस्य चेतनाचेतनस्य च । साक्षी सर्वान्तरः शंभुस्तं वन्दे साम्बमीश्वरम् ॥७॥
यं विशिष्टजनाः शान्ता वेदान्तश्रवणादिना । जानन्त्यात्मतया वन्दे तमहं सत्यचित्सुखम् ॥८॥
हरभक्तो हिरण्याक्षः शैवपूजापरायणः । क्लान्ताक्लेशहरः (!) क्लीव ईशपूजापरायणः ॥९॥
ॐकारवल्लभो लुब्धो लोलुपो लोललोचनः । महाप्राज्ञो महाधीमान्महाबाहुर्महोदरः ॥१०॥
शक्तिमाञ्शक्तिदः शङ्कुः शङ्कुकर्णः शनैश्चरः । भगवान्भग्नपापश्च भवो भवभयापहः ॥११॥

२ ङ. "चारास" । ३ ब. धिया । ४ ग. "णं सुधिया" ।

अनन्तानन्दबोधाम्बुनिधिमद्भुतविक्रमम् । अम्बिकापतिमीशान[1]मनीशं प्रणमाम्यहम् ॥२॥

सत्रावसाने मुनयो विशुद्धहृदया भृशम् । नैमिषीया महात्मानमागतं रोमहर्षणम् ॥ ३ ॥

तत्तत्त्वम् त्रैकालिकबाधशून्यम् । मिथ्याभूतपरिकल्पितस्वरूपमायातत्कार्यसंस्पर्शविरहात् । ननु मायाकार्येण कालेनावच्छेदादेव कथं तदसंस्पर्श इति तत्राऽऽह–**आदीति** । स्वप्रागभावावच्छिन्नो भूतकाल आदिः । स्वावच्छिन्नो वर्तमानकालो मध्यः । स्वप्रध्वंसावच्छिन्नो भविष्यत्कालोऽन्तः । एतत्त्रितयवर्जितम् । कलातत्त्वसहभावि हि कालतत्त्वम् । उक्तं हि–'पुंसो जगत्कर्तृत्वार्थं मायातस्तत्त्वपञ्चकं भवति कालो नियतिश्च तथा भूतयदृच्छास्वभावाश्च'इति । तथा च कलासहभावी काल एव नास्ति, कुतो निष्कलपरमशिवस्य तत्कृतपरिच्छेदाशङ्केत्यभिप्रायः । इत्थं निष्कलप्रणिधानं कृतम् ।

सकलमपि द्विविधम् । समस्तजगदात्मकम्, समस्तजगन्नियन्तृ लीलावताररूपं चेति । समस्तजगदात्मकमुपादा नत्वात् । जगन्नियन्तृ लीलावताररूपेण च; अत एव हि रुद्राध्याये जगदात्मना जगन्नियन्तृलीलावताररूपेण च नमस्कारः कृतः । तत्र जगदात्मना प्रणाममाह द्वितीयार्धेन–**आधारमिति** । यथैव हि जगतां नियन्ता सत्त्वमायोपाधिवशात्, तमउपाधिवशाज्जगदात्मकः, एवं रजोगुणोपाधिवशाज्जगदाधारोऽपि । उक्ते हि जगन्नियन्तृत्वजगदात्मकत्वे परमेश्वरस्य–'शिवो दाता शिवो भोक्ता शिवः सर्वमिदं जगत्' इति ॥ 'स्थितिसंयमकर्ता च जगतोऽस्य जगच्च सः' इति ।

श्रुतेश्च 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इति । तेन हि सोऽकामयतेति निमित्तत्वम् । बहु स्यामित्युपादानत्वम् । तथा पारमर्षं सूत्रमपि 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' इति । यथैव सर्वलोकानामयमाधार एवमस्यापि कश्चिदन्य आधार इति भ्र[2]मं व्युदस्यति–**अनाधारमिति** । स्वातिरिक्ताधाररहितः । 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नी'ति स्वमहिमप्रतिष्ठितत्व-श्रुतेः । ननु जगत आधारश्चेदाधेयजगदात्मना धर्मेण उपायापायवता विकारित्वं तस्य स्यात्, 'उपयन्नपयन्धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्' इति न्यायादिति ? तत्राऽऽह–**अविक्रियमिति** । कल्पितत्वेन जगतो न स्वाश्रयविकारहेतुता । नहि मरुमरीचिकाजलैर्मरुभूमिरार्द्रीक्रियत इत्यर्थः ॥१॥

इदानीं जगन्नि[3]यन्तृत्वे लीलावताररूपेण प्रणिधानमाह–**अनन्तेति** द्वितीयश्लोकेन । अवतारो हि ध्यानपूजाद्यर्थमपि शिवेन स्वीक्रियते । तदुक्तं सुप्रभेदे–'यतीनां मन्त्रिणां चैव ज्ञानिनां योगिनां तथा । ध्यानपूजानिमित्तं हि तनुं गृह्णाति मायया' इति । अद्भुता विक्रमास्त्रिपुरदहनादयो यस्य तम् । अम्बिकायाः पार्वत्याः पतिरम्बिकापतिस्तमिति च विजयपरिणयनादयः परमेश्वरस्य लीला दर्शिताः । तर्हि प्राकृतपुरुषवदेव रागद्वेषादिदोषपारतन्त्र्यात्संसार्येवासौ ? तत्राह–**ईशानमनीशमिति** । संसारिणो हि[4] अनीशितृत्वात्पुरुषान्तरपरतन्त्रत्वाच्च स्वयमनीशा ईशवन्तश्च । शिवस्तु लीलयैव विजयपरिणयनादिव्यापारानाचरन्नपि रागद्वेषादिविरही सर्वजगदीशिता च न पुरुषान्तरपरतन्त्र इति न लौकिकसम इत्यर्थः । ननु लोकवदेव सर्वेऽपि व्यवहाराः शिवस्यापि श्रूयन्ते । अत एषां लीलारूपतैव कुत इत्यत आह–**अनन्तेति** । अन्तः परिच्छेदः तद्रहितयोरानन्दबोधयोरम्बुनिधिः समुद्रश्च; अतः तत्कृतपरिच्छेदविरहात् पारमेश्वरयोरानन्दज्ञानयोर्न लौकिकानन्दज्ञानवदुत्पत्तिविनाशवत्त्वम्, वस्तुकृतपरिच्छेदविरहाच्च तयोरखण्डैकरसत्वम्, इतीशानः । अतिशायिनो वस्त्वन्तरस्याभावेन निरतिशयत्वं चेति कुतो लौकिकव्यवहारसाधारणाशङ्कावकाश इत्यर्थः । यद्यप्यपां निधिरन्तवान्सातिशयश्च तथाऽपि लौकिकानां समुद्रेऽन्तवत्त्वसातिशयत्वविरहाभिमानात्तदभिमतदृष्टान्तेनैव परमेश्वरस्याप्यनन्तत्वं निरतिशयत्वं प्रदर्शयितुमम्बुनिधिना रूपकं कृतमिति । ननु लौकिका अपि सर्वात्मकादीश्वरादभिन्ना एवेति कथं तदीयौ ज्ञानानन्दौ न तत्सदृशाविति ? सत्यम् तत्सदृशौ । अज्ञानेनाऽऽवृतत्वात्तु तत्सादृश्यं न ते जानन्ति । उक्तं हि–'अज्ञानेनाऽऽवृतो रामः साक्षान्नारायणोऽपि च । स्वस्वरूपं तु नाज्ञासीत्' इति ॥ अतस्तिरोहितज्ञानत्वाल्लौकिकानां व्यापारा दुःखमया एव न लीलाः । अनावरणपरमानन्दज्ञानत्वेन तु परमेश्वरस्य विजयपरिणयनादिव्यापारा लीला एवेत्यभिप्रायः । अत्र निष्कलशिवस्य तद्रूपतयाऽवस्थानमेव प्रणामः । सकलस्य तु ध्यानस्तुतिपूजात्मकः । तदुक्तं सुप्रभेदे– 'ध्यानपूजाविहीनं यन्निष्कलं तद्विधायकम् । तत्तस्मात्सकलं शम्भुं निष्कलं संप्रपूजयेत्' इति ॥ २ ॥

इत्थं मङ्गलाचरणं विधाय ऋषिसूतसंवादात्मना पुराणमारभते–**सत्रावसान** इत्यादि । ननु व्यासेन सूताय प्रागेवोपदिष्टान्यष्टादश पुराणानि । अधुना तत्पुनर्मुनयः शृण्वन्ति सूतो व्याचष्टे । व्यासस्तु कुरुते मङ्गलाचरणमित्यसंगतमुच्यते । व्यासः सूताय पुराणानि प्रागुपदिश्यापि तान्येव संप्रति मुनिसूतसंवादात्मना निबध्नाति स्वयं क्रियमाणनिबन्धनादौ स्वयमेव मङ्गलमाचरतीति

वाङ्मयोपदेशमन्तरा हि यो मुद्रया परात्मबोधनक्षमः ।
आत्मगोचरं तमो नुदेत् स मे दक्षिणाभिसंमुखो महेश्वरः ॥
वेदमर्थतो निरीक्ष्य दुर्गमं यो व्यधात् पुरा पुराणमादरात् ।
नौमि तं वसिष्ठवंशसम्भवं व्यासनामकं मुनिं कवीश्वरम् ॥
साधकार्थसाधनानि पूर्णतः सूतसंहिताहितान्यविन्दत ।
दीपिकां लिलेख माधवो गुरु-र्नो हितैकचिन्तया जयेत् सदा ॥

---

१. ग. °मनिशं । २. ङ ममुद° । ३. ङ. °न्नियन्तृली° । ४. हि रागद्वेषादिवशीकृतत्वात् पु° बाल.पाठः । ५. बाल. पाठे त्वत्र 'अज्ञानेनावृतम्' इत्यादिगीता-श्लोकार्धएवोदाहृतः ।

किमनुपपन्नम् ? अथ सूताय स्वात्मन उपदेशरूपं परित्यज्य व्यासेन मुनिसूतसंवादात्मना निबन्धने किं प्रयोजनम् ? उच्यते । पुराणप्रतिपाद्यायास्तत्त्वविद्यायाः प्रभावातिशयाविष्करणं प्रयोजनम् । तथाहि—इत्थंप्रभावेयं विद्या यत्सूतः प्राङ्[१]महाकनीयानपि व्यासात्पुराणमुखादेनामधिगम्य, अग्रजानामपि मुनीनां स्वयं तत्त्वोपदेशकर्ता जात इति । तत्र **सत्रावसाने विशुद्धहृदयाः प्रसन्नेन्द्रियमानसा** इति पदत्रयेण मुनीनां परविद्योचिताधिकारसंपत्तिनिरूपणम् । तथाहि श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणप्रतिपादितवेदानुवचनयज्ञदानतपोव्रतादिभिः प्रक्षीणसकलकलुषस्यात एव शुद्धबुद्धेर्जनितजिज्ञासस्य परशिवस्वरूपविद्यायामधिकारः । अत ईदृग्विधविद्याग्रहणाधिकारे कारणगुणगणा उचितत्वादाविष्कर्तव्याः । तत्र **सत्रावसान** इत्यनेन श्रौतसकलकर्मानुष्ठानं विद्याप्रतिबन्धकसकलपापापनयनरूपविशुद्धहृदयत्वे कारण[२]मुच्यते । चतुर्विधा हि सोमयागाः । एकाहाहीनसत्रायनात्मकाः । एकैकदिनसाध्या अग्निष्टोमादय एकाहाः । द्विरात्रादय एकादशरात्रावसाना अहीनाः । द्वादशाहस्तु सत्राहीनोभयात्मकः । त्रयोदशरात्रादीनि सत्राणि । संवत्सरसाध्यान्ययनानि । अयनेष्वपि च सत्रप्र[३]योगो दृश्यते । 'गावो वा एतत्सत्रमासत, विश्वसृजः समाः सत्रमासतेति ।' तथा 'नैमिषे निमिषक्षेत्रे ऋषयः शौनकादयः । सत्रं स्वर्गाय लोकाय सहस्रसममासत' इति । तदिह नैमिषीयैः क्रियमाणस्यानेकसंख्यासंवत्सरसाध्यस्यायनत्वेऽपि सत्रपदप्रयोगोपपत्तिः । 'सत्रं च परमो धर्म' इत्यपरेषामपि महतां वेदानुवचनानां दानतपोव्रतादीनामुपलक्षणम् । तेषामपि हि चित्तशुद्धिद्वारा विविदिषाकारणत्वमिष्यमाणवेदनकारणत्वं च श्रूयते । 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति । तथा पाशुपतव्रतस्यापि परशिवसाक्षात्कारकारणत्वमथर्वशिरसि दृश्यते । 'अग्निरित्यादिना भस्म गृहीत्वा निमृज्याङ्गानि संस्पृशेत्तस्माद्व्रतमेतत्पाशुपतं पशुपाशविमोक्षाये'ति । उक्तस्य सत्रपदोपलक्षितस्य कर्मराशेर्बुद्धिशुद्धौ कारणभावमाह—**विशुद्धहृदया** इति । हृदयं बुद्धिस्तस्य विशुद्धिर्नाम संचितदुरितापनयनेन तन्निबन्ध[४]नस्य दुःखस्य निरासः । **नैमिषीया** इति ब्रह्मणा विसृष्टस्य चक्रस्य नेमिः शीर्यते कुण्ठी भवति यत्र तन्नैमिषं नैमिषमेव नैमिषम् । तथाचोक्तं वायवीये— 'एतन्मनोमयं चक्रं मया सृष्टं विसृज्यते । यत्रास्य शीर्यते नेमिर्नैमिषं तच्छुभायहम् ॥ इत्युक्त्वा सूर्यसंकाशं चक्रं सृष्ट्वा मनोमयम् । प्रणिपत्य महादेवं विससर्ज पितामहः ॥ तेऽपि हृष्टतरा विप्राः प्रणम्य जगतां पतिम् । प्रययुस्तस्य चक्रस्य यत्र नेमिर्व्यशीर्यत ॥ तद्वनं तेन विख्यातं नैमिषं मुनिपूजितम्' इति ॥

नैमिषमेषां निवास इति **नैमिषीयाः** । तथा **प्रसन्नेन्द्रियमानसा इति** । मनसः प्रसादो नाम रजस्तमोभ्यामनभिभवादावरणविक्षेप[५]विरहेण तत्त्वप्रणिधान ऐकाग्र्यम् । इन्द्रियाणां प्रसादो नाम प्रसन्नता [६]मनःप्रातिकूल्यपरिहारेण प्रत्युत तदानुकूल्येनैव वर्तनम् । श्रूयते हि— 'यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः । तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ (कठ. ३.५) यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः । तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः' इति ॥पतञ्जलिरप्याह (२.५४) 'स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः' इति । इत्थमिह जन्मनि जन्मान्तरे वा विहितैर्व्रतदानादिभिः संचितदुरितनिरासद्वारा रजस्तमोभ्यामन[७]भिभूतहृदयास्तत्त्वजिज्ञासवो विद्याग्रहणाधिकारिणो दर्शिताः । विद्योपदेशे तु सूतस्येदानीमधिकारितामाह—**महात्मानमागतमिति** । उभयं हि तत्रापेक्षितम् अनुग्रहसामर्थ्यमनुग्रहशीलत्वं चेति । तत्र [८]**महात्मानमिति** महादेवप्रसादादासादितपरशिवस्य साक्षात्कारनिबन्धनमनुग्रहसामर्थ्यमुक्तम् । **आगतमिति** विशिष्टाधिकारिलाभात्तदुद्धरणार्थमनाहूतस्यापि स्वयमेवाभिगमनात्परमकारुणिकत्वादनुग्रहशीलत्वमुक्तम् । यथा जनकं प्रति याज्ञवल्क्यस्येति ॥ ३ ॥

शाम्भवीकथादिनेशरश्मिभि-र्यन्मनोमहोत्पलं विकासते ।

तं महेशहर्षशैलदेशिकं श्रद्धया वयालवालमाभजे ॥

देशिकोक्तिसत्सुधाल्पसेवया सूतसंहितां युयुक्षते जनः ।

व्याख्यया तु लोकवाधि बद्धया शक्तिमात्मनोऽसमीक्ष्य तद्ध्रुवम् ॥

निश्चयो गुरोः कृपार्द्रमानसं दास्यति प्रमातुमर्थमर्हताम् ।

आज्ञयाऽऽरभे तदीयया शुभां सूतसंहितासुधां सतां मुदे ॥

ग्रन्थ का अवतरण नामक पहला अध्याय

समस्त संसार के आधार, स्वातिरिक्त आधार-रहित, वास्तविक आधारता से भी रहित, उत्पत्ति, वृद्धि आदि और विनाश से वर्जित, सर्वोपाधिशून्य, सच्चिदानन्द एकरस तत्त्व को (और) ॥ १ ॥

आनन्द व ज्ञान के अनन्त समुद्र, अद्भुत पराक्रम वाले, किसी अन्य से अनियन्त्रित, उमापति, ईशान-श्रुत्युक्त भगवान् शङ्कर को प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

सत्र की समाप्ति पर सर्वथा रागादि अशुद्धि-रहित बुद्धि वाले नैमिषारण्यस्थ मुनियों ने वहाँ पहुँचे तथा शिवकृपा से परमेश्वरसाक्षात्कार के कारण अनुग्रह करने में समर्थ श्रीरोमहर्षण को ॥ ३ ॥

---

१. क. ग. घ. °हान्कनी° । २. घ. °णत्वमु° । ३. ध. °योगा दृश्यन्ते । ४. घ. °न्धस्य । ५. ख. °पपरिहारेण । ६. क. घ. मनःप्रतिकूलपरि° । ग. ङ, मनः प्रति प्रातिकूल्य° । ७. क. ख. घ. °भिभवाद्धृद° । ८. क. घ. महत्तपः प्रकर्षादासादितपरः शिवसा° । व्यासप्रसा° इति बालमनोरमापाठः ।

दृष्ट्वा यथार्हं संपूज्य प्रसन्नेन्द्रियमानसाः । पप्रच्छुः संहितां पुण्यां सूतं पौराणिकं मुदा ॥ ४ ॥

एवं पृष्टो मुनिश्रेष्ठैः सूतः सर्वार्थदायिनम् । महादेवं महात्मानं ध्यात्वा व्यासं च भक्तितः ॥ ५ ॥

समाहितमना भूत्वा विलोक्य मुनिसत्तमान् । वक्तुमारभते सूतः संहितां श्रुतिसंमिताम्[१] ॥ ६ ॥

ब्राह्मं पुराणं प्रथमं द्वितीयं पाद्ममुच्यते । तृतीयं वैष्णवं प्रोक्तं चतुर्थं शैवमुच्यते ॥ ७ ॥

ततो भागवतं[२] प्रोक्तं भविष्याख्यं ततः परम् । सप्तमं नारदीयं च मार्कण्डेयं तथाऽष्टमम् ॥ ८ ॥

आग्नेयं नवमं पश्चाद् ब्रह्मवैवर्तमेव[३] च । ततो लैङ्गं वराहं च ततः स्कान्दमनुत्तमम् ॥ ९ ॥

वामनाख्यं ततः कौर्मं मात्स्यं तत्परमुच्यते । गरुडाख्यं ततः प्रोक्तं ब्रह्माण्डं तत्परं विदुः ॥ १० ॥

अथ विद्याग्रहणाधिकारसंपन्ना मुनय उपदेशोचितगुरुलाभनिबन्धन[४]या प्रीत्या तं परिपूज्य स्वजिज्ञासामाविष्कृतवन्त इत्याह–**पप्रच्छुरिति** । उक्तं हि–'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया । उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः' इति ॥ ४ ॥

एवं मुनिभिः पृष्टो मुनीनां पुराणसंहिताश्रवणे मुख्याधिकारसिद्धये परशिवप्रणिधानपुरः[५]सरां शिष्यावलोकनरूपां चाक्षुषीं दीक्षामकार्षीदित्याह–**एवं पृष्ट** इत्यादिना । उक्ता ह्यागमेषु चाक्षुषी दीक्षा–'चक्षुरुन्मील्य यत्तत्त्वं ध्यात्वा[६] शिष्यं समीक्षते । पशुबन्धविमोक्षाय दीक्षेयं चाक्षुषी मता' इति ॥ 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः' ॥ इति श्वेताश्वतरश्रुतेः परशिवप्रणिधानवद् गुरुप्रणिधानमपि विधेयमित्याह–**व्यासं चेति** ॥ ५ ॥

संहितां श्रुतिसंमिताम् । सकलश्रुत्यर्थसंग्रहात्मिकामित्यर्थः ॥ ६ ॥

विवक्षिताया अस्याः संहिताया व्यासमुखादागतत्वेन प्रामाण्यं स्थापयितुं नानामुनि[७]प्रणीतसकलोपपुराणमूलभूतानामष्टादशानां पुराणानां वेदशाखाविभागस्य च प्रणयनेन व्यासस्य[८] सर्वज्ञत्वमत एव तस्य[९] माहेश्वरावतारत्वं च प्रतिपादयितुमष्टादश-पुराणान्यनुक्रामति–**ब्राह्ममित्यादि** । ब्रह्मसंबन्धि ब्राह्मम् । 'तस्येदम्' इत्यणि 'नस्तद्धिते' इति टिलोपस्य, अन्निति प्रकृतिभावेन निरासेऽपि 'ब्राह्मोऽजातौ' इति निपातनाट्टिलोपः ॥ ७ -१० ॥

देखकर, उनकी यथोचित पूजाकर, प्रशान्त इन्द्रियों व मन वाले होकर पुराण के अध्येता उन सूतजी से प्रेम-पूर्वक शुभ संहिता के विषय में प्रश्न किया ॥ ४ ॥

श्रेष्ठ मुनियों द्वारा यों श्रद्धादि पुरःसर पूछे गये सूतजी ने सर्वाभीष्ट प्रदाता महादेव का और निजगुरु महात्मा व्यास का भक्तिपूर्वक ध्यानकर, ॥ ५ ॥ एकाग्रचित्त वाले हो, मुनिपुंगवों को देखकर श्रुति के सकल अर्थ का संग्रह करने वाली संहिता को बताना प्रारम्भ किया ॥ ६ ॥

सूतजी बोले– ब्रह्मा-सम्बन्धी ब्राह्मपुराण पहला है । दूसरा है पद्मपुराण । तीसरा विष्णुपुराण बताया गया है । शिवपुराण चौथा कहा जाता है ॥ ७ ॥ तदनन्तर भगवती-सम्बन्धी भागवत पुराण और उसके बाद भविष्य पुराण बताया गया है । सातवाँ नारदीयपुराण है और इसी प्रकार मार्कण्डेय पुराण आठवाँ है ॥ ८ ॥ अग्निपुराण नवाँ है व अगला है ब्रह्मवैवर्तपुराण । फिर लिंग पुराण और वराहपुराण है तथा तदुत्तर श्रेष्ठ स्कन्दपुराण है । ॥ ९ ॥ चौदहवाँ वामनपुराण है, फिर कूर्म-पुराण है व उसके बाद मत्स्यपुराण बताया जाता है । तदनन्तर गरुडपुराण है और सबसे अन्त में अठारहवाँ ब्रह्माण्डपुराण–ऐसा विद्वान् समझते हैं ॥ १० ॥

---

१. क. संमताम् । २. भगवत्याइदं भागवतमितिव्युत्पत्या देवीभागवतं न तु श्रीमद्भागवतमिति सांप्रदायिकाः । ३. क. वर्तमुच्यते । ४. ङ. °नतया । ५. घ. °सरं शि° । ६. घ. °त्वा तत्त्वं स° । ७. ङ., °प्रणीत° । ८. क. ख. ध. °स्य सार्व° । ९. ङ.°स्य महे° ।

ग्रन्थतश्च चतुर्लक्षं पुराणं मुनिपुङ्गवाः । अष्टादशपुराणानां कर्ता सत्यवतीसुतः ॥ ११ ॥

कामिकादिप्रभेदानां यथा देवो महेश्वरः । अष्टादश पुराणानि श्रुत्वा सत्यवतीसुतात् ॥ १२ ॥

अन्यान्युपपुराणानि मुनिभिः कीर्तितानि तु । आद्यं सनत्कुमारेण प्रोक्तं वेदविदां वराः ॥ १३ ॥

द्वितीयं नारसिंहाख्यं तृतीयं नान्दमेव[१] च । चतुर्थं शिवधर्माख्यं दौर्वासं पञ्चमं विदुः ॥ १४ ॥

षष्ठं तु नारदीयाख्यं कापिलं सप्तमं विदुः । अष्टमं [२]मानवं प्रोक्तं ततश्चोशनसेरितम् ॥ १५ ॥

ततो ब्रह्माण्डसंज्ञं तु वारुणाख्यं ततः परम् । ततः कालीपुराणाख्यं विशिष्टं मुनिपुङ्गवाः ॥ १६ ॥

ततो वासिष्ठलैङ्गाख्यं प्रोक्तं माहेश्वरं परम् । ततः साम्बपुराणाख्यं ततः सौरं महाद्भुतम् ॥ १७ ॥

पाराशरं ततः प्रोक्तं मारीचाख्यं ततः परम् । भार्गवाख्यं ततः प्रोक्तं सर्वधर्मार्थसाधकम् ॥ १८ ॥

लक्षं तु ग्रन्थसंख्याभिः सर्वविज्ञानसागरम् । स्कान्दमथाभिवक्ष्यामि पुराणं श्रुतिसंमितम् ॥ १९ ॥

षड्विधं संहिताभेदैः पञ्चाशत्खण्डमण्डितम् । आद्या सनत्कुमारोक्ता द्वितीया सूतसंहिता ॥ २० ॥

ग्रन्थतश्च चतुर्लक्षमिति संख्याभिधानं प्रक्षेपविप्लवपरिहाराय । कामिककारणादीनामागमसंहितानां शिवेनैव प्रणयनादागमे[३]ष्वये यथा विश्रम्भ एवं नारायणावतारेण व्यासेन प्रणयनात्पुराणेष्वप्यसावविशिष्ट इत्याह–**अष्टादशपुराणानामिति** ॥ ११ ॥

नानामुनिप्रणीतानामुपपुराणानामप्येतन्मूलत्वादेतेषां प्रणेतुर्व्यासस्य सार्वज्ञ्यं किं वक्तव्यमित्याह–**अष्टादश पुराणानि श्रुत्वेति** ॥ १२ ॥

उपपुराणान्यष्टादशानुक्रामति–**आद्यं सनत्कुमारेण प्रोक्तमित्यादिना** ॥ १३-१८ ॥

अथेदानीं विवक्षितां सूतसंहितामवतारयितुमनुक्रान्तानां पुराणानां मध्ये त्रयोदशस्य स्कान्दपुराणस्य संहितापदविभागमाह– **स्कान्दमथाभिवक्ष्यामीति** ॥ १९ ॥ ॥ २० ॥

हे मुनिश्रेष्ठो ! ग्रन्थ की दृष्टि से पुराण चार लाख श्लोकों में निबद्ध हैं । अठारह पुराणों के रचयिता सत्यवती के पुत्र व्यासजी हैं ॥ ११ ॥ जैसे कामिक आदि भेदों वाले आगमों के रचयिता भगवान् शंकर हैं (वैसे नारायणावतार व्यास पुराणों के निर्माता हैं) । सत्यवतीनन्दन के मुखारविन्द से अठारह पुराण सुनकर ॥ १२ ॥ मुनियों द्वारा इनसे अतिरिक्त उपपुराण रचे गये हैं । हे वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ मुनियो ! पहला उपपुराण सनत्कुमार द्वारा विरचित है ॥ १३ ॥ दूसरा नृसिंह नामक उपपुराण है और नान्दोपपुराण तीसरा है । शिवधर्म नाम का उपपुराण चौथा है । जानकार लोग दौर्वास उपपुराण को पाँचवाँ जानते हैं ॥ १४ ॥ छठा तो नारदीयोपपुराण है । कापिल-उपपुराण सातवाँ है । मानव-उपपुराण आठवाँ कहा गया है और तदनन्तर शुक्राचार्य द्वारा प्रोक्त उपपुराण गिना जाता है ॥ १५ ॥ फिर ब्रह्माण्ड नामक उपपुराण है व तदुत्तर वारुणोपपुराण है । हे श्रेष्ठ मुनियो ! तदनन्तर कालीपुराण कहा जाने वाला खास वैशिष्ट्य वाला उपपुराण है ॥ १६ ॥ इसके बाद वासिष्ठलैंग नामक महेश्वर सम्बन्धी उपपुराण है । फिर साम्बपुराण कहा जाने वाला उपपुराण है और तदनन्तर अत्यन्त अद्भुत सौर उपपुराण है ॥ १७ ॥ तदूर्ध्व सोलहवाँ पाराशर उपपुराण है और फिर मारीच उपपुराण है । अन्त में समस्त धर्म व अर्थ की सिद्धि का उपाय बताने वाला भार्गव उपपुराण अठारहवाँ बताया गया है ॥ १८ ॥

अब मैं स्कन्दपुराण के विषय में बताऊँगा जो सभी विशिष्ट ज्ञानों का सागर है और वेद के अर्थ का संग्रह करने वाला है । ग्रंथ के आकार की दृष्टि से वह एक लाख श्लोकों में उपनिबद्ध है ॥ १९ ॥ संहिताओं के भेद से वह छह प्रकार का है तथा पचास खण्डों में बँटा है । पहली सनत्कुमारसंहिता है । द्वितीय सूतसंहित है ॥ २० ॥

---

१ नान्दिकेश्वरम् इति वाल. पाठः । २ ख. ग. वामनं । ३ ङ. °ण्येन य° ।

तृतीया शांकरी विप्राश्चतुर्थी वैष्णवी मता । तत्परा संहिता ब्राह्मी सौराऽन्या संहिता मता ॥ २१ ॥

ग्रन्थतः पञ्चपञ्चाशत्सहस्रेणोपलक्षिता । आद्या तु संहिता विप्रा द्वितीया षट्सहस्रिका ॥ २२ ॥

तृतीया ग्रन्थतस्त्रिंशत्सहस्रेणोपलक्षिता । तुरीया संहिता पञ्चसहस्रेणाभिनिर्मिता ॥ २३ ॥

ततोऽन्या त्रिसहस्रेण ग्रन्थेनैव विनिर्मिता । अन्या सहस्रतः सृष्टा ग्रन्थतः पण्डितोत्तमाः ॥ २४ ॥

द्वितीयां संहितां वक्ष्ये सर्वपापप्रणाशिनीम् । मुनिभिर्देवगन्धर्वैः पूजितामतिशोभनाम् ॥ २५ ॥

चतुर्धा खण्डिता साऽपि पवित्रा वेदसंमिता । शिवमाहात्म्यखण्डाख्यः प्रथमः परिकीर्तितः ॥ २६ ॥

द्वितीयो ज्ञानयोगाख्यः सर्ववेदान्तसंग्रहः । तृतीयो मुक्तिखण्डाख्यश्चतुर्थो यज्ञवैभवः ॥ २७ ॥

आद्यः सप्तशतं प्रोक्तो ग्रन्थतः पण्डितोत्तमाः । द्वितीयो ग्रन्थतः सप्तशतं त्रिंशत्ततोऽधिकम् ॥ २८ ॥

ततोऽधिकं च सप्तैव मुनयः परिकीर्तितः । तृतीयः षट्शतं विप्राः सप्तत्रिंशद्विवर्जितः ॥ २९ ॥

सौराऽन्येति । सूरसंबन्धि सौरम् । तदस्यामस्तीति सौरा 'अर्शआदिभ्योऽच्' इत्यजन्तमत्वर्थीयान्ताट्टाप् । सूरस्येयं संहितेति व्युत्पत्तौ 'तस्येदम्' इत्यणन्तान्ङीपा भवितव्यमिति ॥ २१ ॥ ॥ २२ ॥ ॥ २३ ॥ ॥ २४ ॥

इत्थं विभागमभिधाय विवक्षितां संहितां सूतः प्रतिजानीते–**द्वितीयां संहितां वक्ष्य** इति ॥ २५ ॥

यद्यपि खण्डान्तरेष्वपि शिवमाहात्म्यमुच्यते तथाऽपि प्रथमस्य तत्प्राधान्यात्तेन व्यपदेशः ॥ २६ ॥

द्वितीयो ज्ञानयोगाख्य इति । ज्ञानस्य योगा उपाया यमनियमादयो ज्ञानयोगा आख्यायन्तेऽस्मिन्नित्याख्यः । 'आतश्चोपसर्गे' इति कप्रत्ययः । ज्ञानयोगानामाख्य इति संवन्धसामान्यषष्ठ्याः समासः सा तु प्रकृते संवन्धविशेषे कर्मत्वे योग्यतावलात्पर्यवस्यति । न च कर्मणि षष्ठ्यैवं समासः स किं न स्यादिति वक्तव्यम् । 'कर्मण्यण्' इत्यनेन परेण वाधापातादिति । यज्ञवैभवखण्डे तु यज्ञा यज्ञविशेषा वक्ष्यन्ते ते सर्वे ज्ञानात्मका एव यज्ञाः । इह तु तदुपाया यमनियमादय इत्यसंकरः । **यज्ञवैभव** इति । यज्ञानां वैभवः प्रभावोऽस्मिन्निति यज्ञवैभवः ॥ २७ ॥

आद्यः सप्तशतमिति । सप्तानां शतानां समाहारः सप्तशतमिति समाहारे द्विगुः । अकारान्तत्वेन प्राप्तं स्त्रीलिङ्गत्वं 'पात्रादिभ्यः प्रतिषेधः' इत्यनेन निषिध्यते । नन्वेकोऽयं खण्डः कथं सप्तशतसमाहारात्मकः ? अत उक्तं–**ग्रन्थत** इति । ग्रन्थद्वारा स्वावयवभूतानां ग्रन्थानां सप्तशतसमाहारात्मकत्वात्तदभेदेन स्वयमपि सप्तशतमित्यर्थः । **ततोऽधिकमिति** । अधिकं च किंचिदस्तीति सामान्येनोपक्रम्य कियत्तदिति जिज्ञासायां **त्रिंशदिति** 'शक्यमञ्जलिभिः पातुं वाताः केतकिगन्धिनः' इतिवत् ॥ २८ ॥ २९ ॥

हे ब्राह्मणो ! तीसरी शांकरसंहिता और चौथी वैष्णव संहिता है । तदनन्तर ब्राह्म संहिता और अन्तिम सौर संहिता मानी गयी है ॥ २१ ॥ प्रथम संहिता में पचपन हजार श्लोक हैं । हे द्विजो ! दूसरी में छह हजार श्लोक हैं ॥ २२ ॥ तीसरी संहिता तीस हजार श्लोकों वाली है तथा चौथी पाँच हजार श्लोकों द्वारा रचित है ॥ २३ ॥ उससे अगली पाँचवीं संहिता की रचना तो तीन हजार श्लोकों द्वारा हो गयी है । हे उत्तम पण्डितो ! अन्तिम छठी संहिता एक हजार श्लोकों वाली है ॥ २४ ॥

इस अवसर पर मैं आपको सब पापों का नाश करने वाली, मुनियों द्वारा, देवताओं द्वारा व गन्धर्वों द्वारा आदृत तथा अत्यन्त शोभनीय द्वितीय संहिता–अर्थात् स्कन्द पुराण की सूतसंहिता–सुनाऊँगा ॥ २५ ॥ वेदार्थ का बोध कराने वाली वह पावन संहिता पुनः चार खण्डों में विभक्त है । पहले खण्ड का नाम है–'शिवमाहात्म्य खण्ड' ॥ २६ ॥ सारी उपनिषदों में बताये यम, नियम आदि ज्ञान के उपायों को एकत्र बताने वाला 'ज्ञानयोग' नामक द्वितीय खण्ड है । तीसरा 'मुक्तिखण्ड' है और ज्ञानात्मक यज्ञों के प्रभाव का प्रतिपादक चौथा 'यज्ञवैभवखण्ड' है ॥२७ ॥ हे उत्तम पण्डितो ! ग्रंथ के आकार की दृष्टि से पहले खण्ड में सात सौ श्लोक हैं । दूसरे में सात सौ सैंतीस श्लोक हैं । हे मुनियो ! तीसरा खण्ड पाँच सौ सत्ताइस श्लोकों वाला है ॥ २८–२९ ॥

चतुर्थस्तु मुनिश्रेष्ठाः सहस्राणां चतुष्टयम् । उपर्यधोभागभेदाद् द्विधाभूतः स उच्यते ॥ ३० ॥

आद्यस्त्रयोदशाध्यायो द्वितीयो विंशतिस्तथा । तृतीयो नव विप्रेन्द्राश्चतुर्थस्तु तथैव च ॥ ३१ ॥

सप्तषष्टिः समस्तानां वेदानामर्थ आस्तिकाः । अस्यामेव स्थितः साक्षात्संहितायां न संशयः ॥ ३२ ॥

चतुर्थ इति । चतुर्थखण्ड उपरिभागोऽधोभाग इति भेदेन द्विप्रकारः ॥ ३० ॥

प्रकृतसंहितागतखण्डचतुष्टयस्याध्यायविभागमाह–**आद्यस्त्रयोदशाध्याय** (यैः) इति । **आद्यः** खण्डो**ऽध्यायैस्त्रयोदश** ग्रन्थतः सप्तशतमितिवत् । नतु त्रयोदशभिरध्यायैरिति 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' इत्युक्तत्वात् । इह च द्विगुसमासनिमित्तानां संज्ञादीनामभावात् । **आद्यस्त्रयोदशाध्याय** इति तु पाठः श्रेयान् । तत्र हि त्रयोदशेति पृथक्पदम् ॥ ३१ ॥

तत्र प्रथमे खण्डे **प्रथमे**ऽध्याये ग्रन्थायतारः । **द्वितीये** पाशुपतव्रतम् । **तृतीये** नन्दीश्वरविष्णुसंवादेनेश्वरप्रतिपादनम् । **चतुर्थ** ईश्वर[1]पूजाविधानं देवपूजाफलं च । **पञ्चमे** शक्तिपूजाविधिः । **षष्ठे** शिवभक्तपूजा । **सप्तमे** मुक्तिसाधनम् । **अष्टमे** कालपरिमाणतदनवच्छिन्नस्वरूपकथनम् । **नवमे** पृथिव्युद्धरणम् । **दशमे** ब्रह्मणा सृष्टिकथनम् । **एकादशे** हिरण्यगर्भादिविशेषसृष्टिः । **द्वादशे** जातिनिर्णयः । **त्रयोदशे** तीर्थमाहात्म्यम् ॥ ॥ द्वितीयखण्डे विंशतिरध्यायाः ॥ तत्र **प्रथमे**ऽध्याये ज्ञानयोगसंप्रदायपरम्परा । **द्वितीय** आत्मना सृष्टिः । **तृतीये** ब्रह्मचर्याश्रमविधिः । **चतुर्थे** गृहस्थाश्रमविधिः । **पञ्चमे** वानप्रस्थाश्रमविधिः । **षष्ठे** संन्यासविधिः । **सप्तमे** प्रायश्चित्तम् । **अष्टमे** दानधर्मफलम् । **नवमे** पापकर्मफलम् । **दशमे** पिण्डोत्पत्तिः । **एकादशे** नाडीचक्रम् । **द्वादशे** नाडीशुद्धिः । त्रयोदशेऽष्टाङ्गयोगे यमविधिः । **सप्तदशे** प्रत्याहारविधानम् । **अष्टादशे** धारणाविधिः । **एकोनविंशे** ध्यानविधिः । **विंशे** समाधिः ॥ ॥ तृतीये मुक्तिखण्डे नवाध्यायाः ॥ तत्र **प्रथमे** मुक्तिमुक्त्युपायमोचकमोचकप्रदचतुर्विधप्रश्नः । **द्वितीये** मुक्तिभेदकथनम् । **तृतीये** मुक्त्युपायकथनम् । **चतुर्थे** मोचककथनम् । **पञ्चमे** मोचकप्रदकथनम् । **षष्ठे** ज्ञानोत्पत्तिकथनम् । **सप्तमे** गुरूपसदनशुश्रूषणमहिमा । **अष्टमे** व्याघ्रपुरे देवानामुपदेशः । **नवम** ईश्वरनृत्यदर्शनम् ॥ ॥ चतुर्थखण्डे सप्तषष्टिरध्यायाः । तत्र पूर्वभागे सप्तचत्वारिंशत् । तत्र **प्रथमे**ऽध्याये सर्ववेदार्थप्रश्नः । **द्वितीये** परापरवेदार्थविचारः **तृतीये** कर्मयज्ञवैभवम् । **चतुर्थे** वाचिकयज्ञः । **पञ्चमे** प्रणवविचारः । **षष्ठे** गायत्रीप्रपञ्चः । **सप्तम** आत्ममन्त्रः । **अष्टमे** षडक्षरविचारः । **नवमे** ध्यानयज्ञः । **दशमे** ज्ञानयज्ञः । **एकादशादिपञ्चस्वध्यायेषु** ज्ञानयज्ञविशेषाः । **षोडशे** ज्ञानोत्पत्तिकारणम् । **सप्तदशे** वैराग्यविचारः । **अष्टादशे**ऽनित्यवस्तुविचारः । **एकोनविंशे** नित्यवस्तुविचारः । **विंशे** विशिष्टधर्मविचारः । **एकविंशे** मुक्तिसाधनविचारः । **द्वाविंशे** मार्गप्रामाण्यम् । **त्रयोविंशे** शंकरप्रसादः । **चतुर्विंशपञ्चविंशयोः** प्रसादवैभवम् । **षड्विंशे** शिवभक्तिविचारः । **सप्तविंशे** परपदस्वरूपविचारः । **अष्टाविंशे** शिवलिङ्गस्वरूपकथनम् । **एकोनत्रिंशे** शिवस्थानविचारः । **त्रिंशे** भस्मधारणवैभवम् । **एकत्रिंशे** शिवप्रीतिकरं जीवब्रह्मैक्यज्ञानम् । **द्वात्रिंशे** भक्त्यभावकारणम् । **त्रयस्त्रिंशे** परतत्त्वनामविचारः । **चतुस्त्रिंशे** महादेवप्रसादकारणम् । **पञ्चत्रिंशे** संप्रदाय[2]परम्पराविचारः । **षट्त्रिंशे** सद्योमुक्तिकरक्षेत्रमहिमा । **सप्तत्रिंशे** मुक्त्युपायविचारः । **अष्टत्रिंशे** मुक्तिसाधनविचारः । **एकोनचत्वारिंशे** वेदानामविरोधः । **चत्वारिंशे** सर्वसिद्धिकर[3]धर्मविचारः । **एकचत्वारिंशे** पातकविचारः । **द्विचत्वारिंशे** प्रायश्चित्तविचारः । **त्रिचत्वारिंशे** पापशुद्ध्युपा[4]याः । **चतुश्चत्वारिंशे** [5]द्रव्यशुद्धिविचारः । **पञ्चचत्वारिंशे**ऽभक्ष्यनिवृत्तिः । **षट्चत्वारिंशे** मृत्युसूचकम् । **सप्तचत्वारिंशे**ऽवशिष्टपापस्वरूपकथनम् ॥ चतुर्थखण्डस्योत्तरभागे विंशतिरध्यायाः ॥ तत्र **प्रथमे** ब्रह्मगी[6]तिः । **द्वितीये** वेदार्थविचारः । **तृतीये** साक्षिशिवस्वरूपकथनम् । **चतुर्थे** साक्ष्यस्तित्वकथनम् । **पञ्चम** आदेशकथनम् । **षष्ठे** दहरोपासनम् । **सप्तमे** वस्तुस्वरूपविचारः । **अष्टमे** तत्त्ववेदनविधिः । **नवम** आनन्दस्वरूपकथनम् । **दशम** आत्मनो[7]ब्रह्मतत्त्वप्रतिपादनम् । **एकादशे** ब्रह्मणः सर्वशरीरस्थितिः । **द्वादशे** शिवस्याहंप्रत्ययाश्रयत्वम् । **त्रयोदशे** सूतगी[8]तिः । **चतुर्दश** आत्मना सृष्टिः । **पञ्चदशे** सामान्यसृष्टिः । **षोडशे** विशेषसृष्टिः । **सप्तदश** आत्मस्वरूपकथनम् । **अष्टादशे** सर्वशा[9]स्त्रार्थसंग्रहः । **एकोनविंशे** रहस्यविचारः । **विंशे** सर्ववेदान्तसंग्रहः इति । सामान्येनाध्यायार्थाः कथिताः ॥ सकलश्रुत्यर्थसंग्रहात्मकत्वादस्यां संहितायामवश्यमादरो विधेय इत्याह–**समस्तानामिति** श्लोक[10]शेषेण ॥ ३२ ॥

हे मुनिवरो ! चौथा खण्ड चार हजार श्लोकात्मक है तथा पूर्वभाग और उत्तरभाग–यों दो हिस्सों में बँटा है ॥ ३० ॥ पहला खण्ड तेरह अध्यायों वाला है एवं दूसरा बीस अध्यायों वाला । हे उत्तम ब्राह्मणो ! तीसरे खण्ड में नौ अध्याय हैं तथा चौथा सड़सठ अध्यायात्मक है । हे आस्तिको ! सारे वेदों का अर्थ इस संहिता में स्फुट रूप से अवश्य प्रतिपादित है, इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ ३१–३२ ॥

---

१. ख. °पूजाप्रतिपादनं । २. घ. °यवि° । ३. ख. ग. रकर्मवि° । ४. ग. घ. पायः । च° । ५. घ. °द्रव्यशुद्ध्युपायः । ६. ग. ङ. °गीता । द्वि° । ७. क. ख. ब्रह्मत्वप्र° । ८. ग. ङ. °गीता । च° । ९. घ. °शास्त्रसं° । १०. ङ. °कविशेषेण ।

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च । वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥ ३३ ॥

यश्चतुर्वेदविद्विप्रः पुराणं वेत्ति नार्थतः । तं दृष्ट्वा भयमाप्नोति वेदो मां प्रतरिष्यति ॥ ३४ ॥

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् । वेदाः प्रमाणं प्रथमं स्वत एव ततः परम् ॥ ३५ ॥

स्मृतयश्च पुराणानि भारतं मुनिपुङ्गवाः । अन्यान्यपि मुनिश्रेष्ठाः शास्त्राणि सुबहूनि च ॥ ३६ ॥

सर्वं वेदाविरोधेन प्रमाणं नान्यवर्त्मना । एक एव द्विजा वेदो वेदार्थश्चैक एव तु ॥ ३७ ॥

नानाविधोपाख्यानप्रतिपादनपर्यवसिते पुराणे कः प्रसङ्गो वेदार्थस्य तत्राऽऽह—**सर्गश्चेत्येकेन** । ब्रह्मणस्तटस्थलक्षणत्वेन सृष्टिस्थितिप्रलया एव वेदे प्रधानं प्रमेयम् । 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' 'स ऐक्षत' इति महासर्गः । 'नेह नानाऽस्ति' इति महाप्रलयः । अन्यत्सर्वं स्थित्यवस्थाविलासः । इत्थमेवं पुराणेऽपि वंशमन्वन्तरवंशानुचरितानि स्थित्यव[1]स्थात एवेति ॥ ३३ ॥

वेदार्थ एव चेत्पुराणे स वेदेनैव सिद्धः किं पुराणेनेति ? तत्राऽऽह—**यश्चतुर्वेदविद्विप्र** इति । तत्र स्थितस्याप्यर्थस्य तावतैव दुरधिगमत्वात्तदुपबृंहणाय पुराणमित्यर्थः । अनुपबृंहणे बाधमाह—**तं दृष्ट्वेति** । विप्लवस्य दुष्परिहरत्वं दर्शयितुं वेदे भयारोपः । **प्रतरिष्यति** विप्लावयिष्यतीति बिभेति । अतस्तं **समुपबृंहयेदि**त्यन्वयः ॥ ३४ ॥

सर्वथा पुराणादिकमपेक्षितं चेत्तेनैव पर्याप्तम्, किं वेदैः ? न । वेदानां स्वतः प्रामाण्यात्तन्मूलतयैव पुराणादेः स्वरूपलाभादित्याह—**वेदाः प्रमाणं प्रथम**मिति ॥ ३५ ॥

अन्यान्यपि । आर्षस्मृतिपुराणमूलानि तदर्थसंग्रहशास्त्राणीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

वेदाविरोधेन । 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' इति हि जैमिनीयं सूत्रम् । मूलभूतवेदानुमानेन स्मृत्यादेः प्रामाण्यं तद्विरोधे त्वनुमानमेव नोदेतीति मूलाभावादुपेक्षणीयम् । अथवा यावन्मूलोपलम्भं प्रत्यक्षश्रुतिविरुद्धस्मृत्याद्यर्थो नानुष्ठेय इति सूत्रार्थः । वेदाविरोधेन चेत्प्रामाण्यं तर्हि ऋग्वेदेऽनुदितहोमं निन्दित्वोदितहोमो विधीयते—'प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयाज्जुह्वति येऽग्निहोत्रम् । दिवाकीर्त्यमदिवाकीर्तयन्तः सूर्यो ज्योतिर्न तदा ज्योतिरेषाम्' इति ॥ यजुर्वेदे तूदितहोमनिन्दयाऽनुदितहोमो विधीयते—'यथाऽतिथये प्रद्रुताय शून्यायावसथायाऽऽहार्यं हरन्ति [2]तादृक्तद्यदुदिते जुहोति' इति । अतः परस्परविरोधाद्वेदद्वयम-प्रमाणं स्यादित्यत्राऽऽह—**एक एव द्विजा वेद** इति । सर्वोऽयमेक एव वेदस्तत्कुतः परस्परविरोधः । नचैवं स्ववचनव्याघातः । षोडशिग्रहणाग्रहणवचनवद्विकल्पाभिप्रायत्वादित्यर्थः ॥ ३७ ॥

सृष्टि, प्रलय, वंश, मन्वन्तर और वंशों के इतिहास—ये पाँच विषय पुराणों में प्रतिपाद्य होते हैं । (परमात्मा का तटस्थ-लक्षण है जिससे सृष्टि, स्थिति व संहार होता है । परमात्मा का प्रतिपादन करने के लिये इन्हें बताना अनिवार्य है । वंश आदि त्रितय स्थिति के गर्भ में हैं । अतः परमशिव के प्रतिपादक ग्रन्थ में सृष्टि आदि का वर्णन होने से उसमें पुराण का लक्षण अवश्य रहेगा । वेदार्थभूत परमेश्वर का प्रस्तावक सूतसंहिता नामक ग्रंथ भी अतएव पुराण है ।) ॥ ३३ ॥ जो वेदपाठी चारों वेदों का जानकार हो किन्तु अर्थसहित पुराण न जानता हो, उसे देख वेद को यह सोचकर भय लगता है कि यह मेरा सही अर्थ नहीं करेगा ॥ ३४ ॥ (अतः) इतिहास—रामायण व महाभारत—और पुराण के सहारे वेद का अर्थ विस्तार से समझना चाहिये । प्रथम अर्थात् स्वतः—प्रमाणान्तर के संवाद की अपेक्षा के बिना—प्रमाण वेद ही हैं । उससे भिन्न ॥ ३५ ॥ स्मृतियाँ, पुराण, महाभारत व अन्य बहुत से स्मृति-आदि मूलक शास्त्र ॥ ३६ ॥ सभी वेद से अविरुद्ध होने से ही प्रमाण होते हैं, वेद से विरुद्ध होने पर नहीं । हे ब्राह्मणो ! वेद एक ही है और उसका प्रतिपाद्य अर्थ भी एक ही है । (अतः वेद विरोधी अर्थों का प्रकाशक है, ऐसा भ्रम नहीं रखना चाहिये) ॥ ३७ ॥

१.°वस्थायामेवेति क्वचित्पाठः । २. ख. तादृगेव तद्° ।

तथाऽपि मुनिशार्दूलाःशाखाभेदेन भेदितः । अनन्ता वै द्विजा वेदा वेदार्थोऽपि द्विजोत्तमाः ॥ ३८ ॥

अनन्तो वेदवेद्यस्य शंकरस्य शिवस्य तु । मायया न स्वरूपेण द्विजा हा देववैभवम् ॥ ३९ ॥

ब्रह्माणं मुनयः पूर्वं सृष्ट्वा तस्मै महेश्वरः । दत्तवानखिलान्वेदानात्मन्येव स्थितानिमान् ॥ ४० ॥

ब्रह्मा सर्वजगत्कर्ता शिवस्य परमात्मनः । प्रसादादेव रुद्रस्य स्मृतीः सस्मार सुव्रताः ॥ ४१ ॥

कथं तर्हि भेदव्यवहारः –'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः' इति स्मृतिः । 'वेदा वा एते अनन्ता वै वेदाः' इति च श्रुतिरित्यत आह–**तथाऽपीति** । एकस्याप्यपरिमितस्य वेदस्य केनचिदप्येकेन पुरुषेणाध्येतुं तदर्थस्य चानुष्ठातुमशक्यत्वादेकं वेदमृग्यजुःसामाथर्वभेदेन चतुर्धा विभज्य तत्रैकैकः पुनरैतरेयादिशाखाभेदेन भेदित इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

ननु वेदशाखा एव वेदसंख्याताः[1] कथं तर्हि 'एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे' इति तैत्तिरीयकश्रुतिः; 'अहमेकः प्रथममासं वर्तामि च भविष्यामि च । नान्यः कश्चिन्मत्तो व्यतिरिक्तः' इत्यथर्वशिरसि वचनमित्यत आह–**वेदवेद्यस्येति । मायया न स्वरूपेणेति** । परमार्थतो ह्यद्वितीयो रुद्र इत्युक्तम् । अतस्तेनैव लीलया निर्मितस्य मायामयस्य न वास्तवेन तदद्वैतेन विरोध इत्यर्थः । नन्वेतादृशी लीला क्वचिदपि लोके न दृष्टचरीत्यत आह–**द्विजा हा देववैभवमिति** । 'अह हेत्यद्भुते खेदे' इत्यभिधानम् । अन्यत्रादृष्टत्वमद्भुतस्यालंकारो, न दूषणमित्यर्थः ॥ ३९ ॥

नन्वपौरुषेया वेदाः 'वाचा विरूपनित्यया' 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा' इति श्रुतिस्मृती इति ते कथं निर्मिताः, कश्चैता एतावतीर्ग्रहीष्यति यस्य कृते निर्मीयेरन्नित्यत आह–**ब्रह्माणं मुनयः पूर्वमिति** । स्वयमेव लीलया सकलवेदग्रहणसमर्थं **ब्रह्माणं** निर्माय स्वात्मनि नित्यमवस्थिता एव वेदास्तस्मै दत्ता इत्यर्थः । न च नित्यसिद्धवेदसमर्पणे शिवस्योपाध्यायतुल्यता । उपाध्यायो हि स्वयमन्यतो लब्ध्वा शिष्यानध्यापयति । शिवस्तु नैवमन्यतोऽधीते, स्वात्मनि नित्यमवस्थितानामेव तेषां ब्रह्मद्वारा संप्रदायं प्रवर्तयति । 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' इति स्थितानामेव वेदानां प्रापणश्रुतेः ॥ ४० ॥

स्मृतिपुराणादीनामपि तर्हि शिवेनैव प्रापणं चेद्वेदसाम्यं, न चेदप्रामाण्यं, तत्राऽऽह–**ब्रह्मा सर्वजगत्कर्तेति** । वेदे हि द्वौ भागौ कर्मभागो ज्ञानभागश्चेति । आद्यस्यार्थः स्मृतिमुखेन ब्रह्मणा शिवाज्ञयैव व्याख्यातः । द्वितीयस्य तु विष्णुना व्यासरूपेणावतीर्य पुराणमुखेनेति स्मृतिपुराणानां वेदमूलता, न स्वातन्त्र्यमित्यर्थः । यद्यपि स्मृतिष्वपि विद्यानिरूपणमस्ति तथाऽपि तत्प्रासङ्गिकं, द्रव्यशुद्धिप्रसङ्गेन हि कथितम्–'क्षेत्रज्ञस्येश्वरज्ञानाद्विशुद्धिः परमा मता' इति । चतुर्थाश्रमधर्मप्रसङ्गेन चौपनिषदतत्त्वनिरूपणं कृतमिति । पुराणानां तु विद्याप्राधान्यं, प्रासङ्गिकं कर्मनिरूपणम् । पुराणेषु हि जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणत्वं शिवस्याभिप्रेत्योत्पत्तिकारणत्वं सर्गेणोक्तम् । लयकारणत्वं च प्रतिसर्गेण । स्थितिकारणत्वं च वंशमन्वन्तरवंशानुचरितनिरूपणेन तत्प्रसङ्गादाश्रमधर्मा आगता इति । अतएव धर्मविषये स्मृतिपुराणविप्रतिपत्तौ स्मृतीनां प्राबल्यं तत्र तासां तात्पर्यत इति, तत्त्वज्ञानविषये पुराणप्राबल्यमिति विवेकः ॥ ४१ ॥

हे मुनिश्रेष्ठो ! एक होते हुए भी वेद विभिन्न शाखाओं के कारण भेद वाला है । (अतएव कहा जाता है कि) वेद और वेदार्थ अनन्त है । (एक ही व्यक्ति सारा वेद पढ़ पाये यह नामुमकिन होन से उसे ऋग् आदि भागों में बाँटा गया है तथा ऋग् आदि प्रत्येक वेद भी नाना परम्पराओं में पढ़ा जाता हुआ नाना शाखाओं वाला है । वेदविषयक बहूक्तियाँ ऋग् आदि विभागों को या शाखाओं को विषय करती हैं । एकार्थपरक होने से वेद एकवाक्यता वाला एक ग्रन्थ ही है ।) ॥ ३८ ॥ हे द्विजो ! वेद से ही समझे जा सकने वाले कल्याणकारी शिव की माया से तो (वेद आदि प्रपंच) अनन्त है, पर स्वरूपतः (मायिक होने से) है ही नहीं । अहो ! महादेव का प्रभाव है (कि अविद्यमान भी सर्वथा सत्य प्रतीत होता है) ॥ ३९॥ हे मुनियो ! महेश्वर ने पहले ब्रह्माजी को उत्पन्नकर उन्हें सारे वेदों का उपदेश दिया, जो ये वेद (उस उपदेश के पूर्व) शिवरूप से ही स्थित थे–शिव में ही अपने ज्ञानरूप से मौजूद थे ॥ ४० ॥ हे साधु निश्चय वाले मुनियो ! सारे जगत् के कर्ता ब्रह्मा ने प्रकृति से निर्मल परमात्मा रुद्र की कृपा से स्मृतियों को यादकर प्रकट किया । (शिव से वेद का उपदेश पाकर ब्रह्मा ने स्मृतियाँ रचीं, अतः ये वेद की तरह स्वयं प्रमाण नहीं, वेद का अनुमान करा कर ही प्रमाण हैं जिससे प्रत्यक्षश्रुति से विरुद्ध स्मृति अनुष्ठापक नहीं हो पाती । वेद-प्रतिपाद्य धर्म की व्याख्या स्मृतियों में और वेदोक्त परमेश्वर के विषय में विस्तार पुराणों में है । अतः यह मर्यादा है कि धर्म के विषय में स्मृति पुराण की अपेक्षा बलवत्तर प्रमाण है और परमात्मा के विषय में पुराण का बल अधिक है ।) ॥ ४१ ॥

---

१. °व वेदसं° इति वाल. पाठः ।

विष्णुर्विश्वजगन्नाथो विश्वेशस्य शिवस्य तु । आज्ञया परया युक्तो व्यासो जज्ञे गुरुर्मम ॥ ४२ ॥

स पुनर्देवदेवस्य प्रसादादम्बिकापतेः । संक्षिप्य सकलान्वेदांश्चतुर्धा [1] कृतवान्द्विजाः ॥ ४३ ॥

ऋग्वेदः प्रथमः प्रोक्तो यजुर्वेदस्ततः परः । तृतीयः सामवेदाख्यश्चतुर्थोऽथर्व उच्यते ॥ ४४ ॥

एकविंशतिभेदेन ऋग्वेदो भेदितोऽमुना । यजुर्वेदो द्विजा एकशतभेदेन भेदितः ॥ ४५ ॥

नवधा भेदितोऽथ [2] र्ववेदः साम सहस्रधा । व्यस्तवेदतया व्यास इति लोके श्रुतो मुनिः ॥ ४६ ॥

अयं साक्षान्महायोगी व्यासः सर्वज्ञ ईश्वरः । महाभारतमाश्चर्यं निर्ममे भगवान्मुनिः ॥ ४७ ॥

व्यासेन पुराणानां प्रणयनं प्रागुक्तं तस्य तु विष्णो [3] रवतारत्वमिदानीमाह–**विष्णुर्विश्वजगन्नाथ** इति ॥ ४२ ॥

न केवलं वेदोपबृंहणाय [4] पुराणप्रणयनम् । महतो वेदस्याल्पबुद्धिभिर्दुरवगाह्यत्वात्तत्तच्छाखाविभागं कृत्वा संप्रदायप्रवर्तनमपि तेनैव कृतमित्याह–**स पुनर्देवदेवस्येति** ॥ ४३ ॥

अथर्वशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति । 'अथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह' इति प्रयोगात्तेन लोके प्राचुर्येण प्रोक्तत्वाद्वेदोऽप्यथर्वः । प्रोक्तार्थे वाऽणि कृते 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' इति वृद्धिप्रकृतिभावयोरभावः ॥ ४४ ॥ ॥ ४५ ॥

गीतिविशेषः **साम** । 'गीतिषु सामाख्ये'ति हि जैमिनिः । तदाश्रयमन्त्रयोगाद्वेदोऽपि साम । उक्ते वेदविभागे व्यासनामनिर्वचनमेव प्रमाणमाह–**व्यस्तवेदतयेति** । वेदान्विभज्याऽऽसमन्ताच्छि [5] ष्येभ्यो व्यस्यतीति **व्यासः** । व्याङावुपसर्गौ पचाद्यच् । व्यस्ता वेदाः शिवेनैव कर्त्रा महर्षिरूपेण निजेनैवावतारान्तरेण करणेनेति करणे वा घञ् ॥ ४६ ॥

[6] सर्वज्ञत्वं द्रढयितुं साकल्येन चतुर्विधपुरुषार्थप्रकाशकस्य महाभारत [7] स्य तेनैव प्रणयनमाह–**अयं साक्षान्महायोगीति** । उक्तं हि–'धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ । यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्'' ॥ इदमेव हि महाभारतप्रणयनं स साक्षाद्विष्णोरवतार इत्यत्र गमकम् । यदाहुः–'कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुम् । को [8] ह्यन्यः पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद्भवेत्' इति ॥ ४७ ॥

विश्वेश्वर शिव की आज्ञा से विश्वसंरक्षक विष्णु मेरे गुरु व्यासरूप से उत्पन्न हुए ॥ ४२ ॥ और उमापति महादेव की कृपा से सारे वेदों को चार प्रकार से यों बाँटा कि प्रत्येक अध्येता को संक्षिप्त भाग का ही अध्ययन करना पड़े । (वेद की आनुपूर्वी अपरिवर्तनीय है । अतः नित्य सिद्ध विभाग को ही व्यास जी ने प्रचलित किया, यह तात्पर्य है । जैसे आजकल अनेक शाखायें लुप्त हो गयी हैं ऐसे तब प्रकृत विभाग लुप्त था जिसे शिवकृपा से व्यास ने प्राप्त किया और प्रचारित किया । अतएव 'महादेव की कृपा से' कहना सार्थक है । व्यास ने स्वतन्त्र होकर इदम्प्रथमतया वेदवाङ्मय में कोई हेर-फेर की, ऐसा नहीं समझना चाहिये ।) ॥ ४३ ॥ ऋग्वेद प्रथम बताया गया है । यजुर्वेद द्वितीय है । साम नामक वेद तृतीय हैं । अथर्ववेद चौथा कहा जाता है ॥ ४४ ॥ व्यासजी द्वारा ऋग्वेद इक्कीस प्रकारों से बाँटा गया है । हे द्विजो ! एक सौ भेदों में यजुर्वेद विभक्त किया गया ॥ ४५ ॥ नौ प्रकार से अथर्ववेद का विभाजन किया गया । गीतरूप साम के आश्रयभूत मन्त्रों वाला सामवेद हजार तरह से विभाजित किया गया । कृष्णद्वैपायन मुनि लोक में व्यास नाम से प्रसिद्ध ही इसलिये हुए कि उन्होंने अपने शिष्यों में विशिष्टरूप से समस्त वेद को स्थापित किया ॥ ४६ ॥ ये महायोगी व्यास साक्षात् सर्वज्ञ ईश्वर हैं । इन्हीं मुनीश्वर ने अद्भुत महाभारत का निर्माण किया है ॥ ४७ ॥

---

१. यथाक्रमं वेदो नित्य इति 'सनातनी श्रुति' रिति (श्लो. ४९) स्फुटीकरिष्यति । ततो लुप्तविभागान् परमेश्वरप्रसादादवाप्योपदेश एव चतुर्धाकरणं व्यासस्य न तु क्रमादौ स्वातन्त्र्येण परिवर्तनमित्यवधेयम् । संक्षिप्येति क्रियाविशेषणम् । २. ख. थर्वो वेदः । घ. ङ. तोऽथर्वा वेदः । ३. ख. °ष्णोरेवावतार° । ४. पुराणानां प्रण° । ५. क. ख. ग. °ष्येष्वस्यती° । ६. क. ग. घ. सार्वज्ञ्यं द्र° । ७. ङ. तस्यैतेन प्र.° । ८. ख. कस्त्वन्यः ।

तस्य शिष्या महाभागाश्चत्वारो मुनिसत्तमाः । अभवन्स मुनिस्तेभ्यः पैलादिभ्योऽददाच्छ्रुतीः ॥ ४८ ॥
तेभ्योऽधीता श्रुतिः सर्वैः साध्वी विप्राः सनातनी । तया वर्णाश्रमाचारः प्रवृत्तो वेदवित्तमाः ॥ ४९ ॥
पुराणानां प्रवक्तारं स मुनिर्मां न्ययोजयत् । तस्मादेव मुनिश्रेष्ठाः पुराणं प्रवदाम्यहम् ॥ ५० ॥
श्रद्धया परया युक्ताः शृणुध्वं मुनिपुङ्गवाः । इति श्रुत्वा मुनिश्रेष्ठा नैमिषीयाः सनातनाः ॥ ५१ ॥
प्रणम्य सूतमव्यग्रं पूजयामासुरादरात् । सोऽपि सर्वजगद्धेतुं शंकरं परमेश्वरम् ॥ ५२ ॥
अम्बिकापतिमीशानमनन्तानन्दचिद्घनम् । ध्यात्वा तु सुचिरं कालं भक्त्या परवशोऽभवत् ॥ ५३ ॥
नमः सोमाय रुद्राय शंकराय महात्मने । ब्रह्मविष्णुसुरेन्द्राणां ध्यानगम्याय शूलिने ॥ ५४ ॥
भक्तिगम्याय भक्तानां विदुषामात्मरूपिणे । स्वानुभूतिप्रसिद्धाय नमस्ते सर्वसाक्षिणे ॥ ५५ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे श्रीसूतसंहितायां शिवमाहात्म्यखण्डे ग्रन्थावतारकथनं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

पैलादिभ्यः पैलवैशम्पायनजैमिनिसुमन्तुभ्यश्चतुरो वेदान्दत्त्वा ते यथा तत्प्रवर्तने नियुक्ता एवं पुराणानि मह्यं दत्वाऽहं नियुक्त इति तदाज्ञयैवेयं मया व्याक्रियत इत्यर्थः ॥ ४८ ॥ ॥ ४९ ॥ ॥ ५० ॥

शृणुध्वमिति व्यत्ययेनाऽऽत्मनेपदम् ॥ ५१ ॥

प्रणम्येति । पूर्वं दृष्ट्वा यथार्हमिति दर्शननिबन्धना पूजा । इह तु श्रवणारम्भनिबन्धने प्रणामपूजे मुनीनाम् । इत्थमेवं पृष्टो मुनिश्रेष्ठैरित्यत्र सूतेन शिवस्य प्रणिधानं चाक्षुषदीक्षार्थम् । इह तु प्रणिधानं पुराणारम्भायेति । सर्वजगद्धेतुमिति जगतामुपादान-रूपेण । **शंकरं परमेश्वरमिति** निमित्तरूपेण । **अम्बिकापतिमिति** लीलावताररूपेण **अनन्तानन्दचिद्घनमिति** निष्कलरूपेण प्रणिधानमिति ॥ ५२ ॥ ॥ ५३ ॥

भक्तिपारवश्यादेव तन्मुखादप्रयत्नेनेयमुद्गता स्तुतिः । **नमः सोमायेति** । सोमश्चन्द्रः शिवस्य सप्तमी मूर्तिः । इदं च पृथिव्यादि-मूर्त्यन्तरसप्तकस्याप्युपलक्षणम् । उमया वा सहितः सोमः । रुद्रम्(रुदम्) अनिष्टं संसारं द्रावयतीति रुद्रः । उक्तं च वायवीयसंहितायाम्–'रुदुदुःखं दुःखहेतुं[1] च विद्रावयति नः प्रभुः । रुद्र इत्युच्यते तस्माच्छिवः परम[2]कारणम्' ॥ इति । न केवलमनिष्टनिवृत्ताविष्टप्राप्तावपि स एव कारणमित्याह–**शंकरायेति** । भक्तिव्यतिरिक्तैरुपायसहस्रैरप्यगम्यत्वकथनाय तस्य निरतिशयं प्रभावमाह-**महात्मन** इति । तदुपपादनाय भक्तिविरहे प्रबलानामपि प्रयत्नास्तत्र कुण्ठिता इत्याह–**ब्रह्मविष्णुसुरेन्द्राणा-मिति** । उक्तं हि तलवकारोपनिषदि 'ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये' इत्यारभ्य परशिवानुग्रहेणैव प्राप्तविजया इन्द्रादयः स्वमाहात्म्यनिबन्धनमेव तं विजयं मेनिरे । शिवश्च तेषां विनाशहेतुं मदमपनेतुं दूरे दिव्येन ज्योतिर्मयेन रूपेणाऽऽविरासीत्किमिदं लोकोत्तरं रूपमिति विमृशन्तोऽपि ते तं नाज्ञासिषुः । तदाह 'तन्न व्यजानत किमेतद्यक्षमिति' [3]यक्षं यजनीयं पूजार्हमिति । ततस्तज्जिज्ञासया गतयोरग्निवाय्वोः प्रतिहतयोः स्वयं गतायेन्द्राय देवो दर्शनमपि न प्रादात् । ततो व्यपगतमदाय निरतिशय-भक्तियुक्ताय तत्रैव हैमवतीरूपेणावतीर्य व्याहार्षीत् 'परशिवोऽयं भवतां विनाशहेतुं मदमपनेतुमनुग्रहेणाऽऽविरासीदि'ति । तदिदमुक्तं–**ध्यानगम्यायेति** ॥ ५४ ॥ **भक्तिगम्यायेति** भक्तेः फलभूतं ज्ञानयोगमाह–**विदुषामात्मरूपिण** इति । विदुषो निजस्वरूपज्ञानिनः स्वात्मानमेव प्रापयतीत्यर्थः । इत्थंभूतस्य शिवस्य स्वरूपमाह–**स्वानुभूतिप्रसिद्धायेति** । स्वयं स्वतन्त्र एव भासते न प्रकाशान्तरेण । स्वातिरिक्तस्य च सर्वस्य भाने स्वयमेव हेतुर्भवति । ''न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्'' इति च श्रुतेरित्यर्थः ॥ ५५ ॥

इति श्रीमत्काशीविलासक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवापरायणेनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन माधवाचार्येण विरचितायां श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां शिवमाहात्म्यखण्डे ग्रन्थावतारकथनं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

पैल आदि चार श्रेष्ठ मुनि व्यास के शिष्य हुए । उन्हें व्यास ने वेद का ग्रहण कराया ॥ ४८ ॥ हे विप्रो ! बाकी सबने सनातन विशुद्ध वेद उन व्यासशिष्यों के मुख से पढ़ा । हे वेदज्ञवरो ! उस वेद से वर्णों का व आश्रमों का आचार प्रवृत्त हुआ है ॥ ४९ ॥ उन मुनिश्रेष्ठ व्यास ने पुराणों के प्रवक्ता रूप से मुझे नियुक्त किया । अतएव गुरु-आज्ञा से मैं पुराण का प्रवचन करता हूँ ॥ ५० ॥ हे मुनिवरो ! आप लोग परम श्रद्धा से मेरे द्वारा बताये जाने वाले व्यासप्रणीत पुराण का श्रवण करें । इतना सुनकर नैमिषारण्य के सनातनधर्मावलम्बी उत्तम मुनियों ने ॥ ५१ ॥ प्रशान्त सूत जी का आदरपूर्वक पूजन किया । ॥ ५२ ॥ वे सूतजी भी सारे संसार के सर्वविधकारण, कल्याणकारी, अम्बिका के पति, अनन्त आनन्द व ज्ञान के मूर्तिमान् रूप, ईशानश्रुति प्रोक्त परमेश्वर का काफी समय तक ध्यानकर भक्ति के परवश हुए और यों स्तुति करने लगे–॥ ५३ ॥ चन्द्र मूर्तिधारी व उमासहित भगवान् सोम को नमस्कार है । अनिष्टभूत संसार की निवृत्ति कराने वाले रुद्र को नमस्कार है । समस्त अभीप्सित प्रदाता शङ्कर को प्रणाम है । निरतिशय सामर्थ्य वाले और दयालु महात्मा शिव को नमस्कार है । ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र आदि भी जिसे ध्यानपूर्वक ही प्राप्त कर पाते हैं उन दुष्प्राप्य शूलधारी को नमस्कार है ॥ ५४ ॥ भक्तों को भक्ति से प्राप्त होने वाले और आत्मवेत्ता को स्वस्वरूपतया भासित होने वाले महादेव को प्रणाम है । निज अनुभूतिरूप से सभी के लिये प्रसिद्ध तथा समस्तसाक्षी आप शम्भु को नमस्कार है ॥ ५५ ॥

---

१. क. ख. ग. °हेतुर्वा वि° । २. ख. कारण इति । ३. ङ. यष्टव्यं ।

द्वितीयोऽध्यायः

नैमिषीया ऊचुः— सर्वं जगदिदं[१] विद्वन्विभक्तं[२] केन हेतुना ।

उत्पन्नं[३] केनचित्तस्मादनित्यं च[४] ततः[५] पशुः ॥ १ ॥

अज्ञत्वान्नैव हेतुः स्यान्न च प्रकृतिरेव च । अतः सर्वजगद्धेतुरन्य एव तपोधन ॥ २ ॥

अथ पाशुपतव्रतपूर्वकं देवोपदेशादनुभवपर्यन्तं बोधो भवतीति वक्तुं द्वितीयोऽध्याय आरभ्यते । तत्रास्ति किंचिज्जगतः कारणमिति सामान्यतो जानन्त इदं तदिति विशेषेणाजानन्तो मुनयस्तज्जिज्ञासया सूतं पप्रच्छुः—**सर्वं जगदिदं विद्वन्निति** । प्रश्नोपपत्तये सामान्यतो ज्ञानहेतुमाह—**उत्पन्नं केनचिदिति** । अनित्यत्वादेव [६]जगदुत्पत्तिमदुत्पत्तिश्च न विना [७]कारणेन । अतोऽस्ति किंचित्कारणमिति सामान्यतो ज्ञातमित्यर्थः । अधुना विशेषेण ज्ञाने कारणमाह—**ततः पशुरिति** ॥ १ ॥

अज्ञत्वादिति । जगत उपादानादिज्ञानमन्तरेण तत्कर्तृत्वासिद्धेर्जीवस्य परिच्छिन्नज्ञा[८]नत्वात्प्रकृतेश्च जडत्वेन तदभावान्न तत्कारणतोपपत्तिरित्यर्थः । मलमायाकर्मलक्षणपाशत्रयबद्धा[९] जीवाः पशवः । तत्र मलपाशमात्रबद्धा विज्ञानकलाः । ते द्विविधाः । समाप्तकलुषा असमाप्तकलुषाश्च । आद्या विद्येशाः । द्वितीयाः सप्तकोटिमहामन्त्रात्मकाः । मलकर्मलक्षणपाशद्वयबद्धाः प्रलयकलाः । तेऽपि मलकर्मणोः परिपाकभावाभावाभ्यां द्विविधाः । येषां तत्परिपाको नास्ति ते कर्मवशान्नानायोनिषु जायन्ते । येषां तु मलकर्म[१०]परिपाकोऽस्ति तेषु केषुचिदीश्वरानुग्रहाद्भुवनपतयो भवन्ति । पाशत्रयबद्धास्तु कलादियोगात्सकलाः । तत्राष्टादशाधिकशतसंख्याकाः शिवानुग्रहान्म[११]न्त्रेश्वरा भवन्ति । तत्र शतरुद्राः शतमण्डलिनोऽष्टौ [१२]क्रोधादयोऽष्टौ श्रीकण्ठवीरेश्वरौ चेति । तद्व्यतिरिक्तानां मध्ये येषां मलत्रयपरिपाकस्तानाचार्यरूपेण शिव एव दीक्षयाऽनुगृह्णाति । अपरिपक्वमलांस्तु मलपरिपाकार्थं भोगाय नानायोनिषु विनियुङ्क्ते । एते सर्वेऽपि पशवः सत्यपि ज्ञानोत्कर्षतरतमभावे सार्वज्ञ्याभावान्न जगतः कर्तारः । प्रकृतेस्तु जडत्वात्तद्दूरत एव कर्तृत्वम् । अतोऽन्येनैव केनचित्सर्वज्ञेन जगतः कर्त्रा भवितव्यम् ॥ २ ॥

पाशुपतव्रत नामक दूसरा अध्याय

नैमिषारण्य के मुनियों ने सूत जी से पूछा— हे विद्वन् ! यह सारा जगत् अनित्य है अतः किसी से उत्पन्न हुआ है । वह कौनसा कारण है जिससे यह विचित्र विभागों वाला जगत् उत्पन्न हुआ है ? जीवरूप पशु नाना होने के कारण और ॥ १ ॥ अत्यन्त अल्पज्ञ होने से जगत् का कारण हो ही नहीं सकता (क्योंकि कुलाल आदि घटकारण उपादानादि का ज्ञाता देखा गया होने से जगत्कारण को भी समस्त जगत् के उपादानादि का ज्ञाता होना आवश्यक है व जीव में ऐसा ज्ञान अनुभवविरुद्ध है । विशिष्ट जीव में उसकी कल्पना दृष्टान्त के अभाव में अप्रामाणिक है । शास्त्रसिद्ध कारण में तो दृष्टान्त आदि तर्क से निरपेक्ष ही प्रामाणिकता है ।) और प्रकृति भी ज्ञानशून्य अर्थात् जड होने से जगत् की उत्पादिका सर्वथा नहीं हो सकती । (संसार में सर्वत्र सुख, क्रिया व मोह दीखने से इसके कारण में भी इनकी अवस्थिति मानकर सांख्यवाद ने एक प्रकृति नामक तत्त्व की कल्पना की है जो सत्त्वादि तीन गुणों की साम्यावस्था है । वे मानते हैं कि जैसे चेतनव्यापार के बिना दूध परिवर्तित हो जाता है—फट जाता है—वैसे प्रकृति ही महान् आदि क्रम से स्वयमेव परिवर्तित हो जगत् के आकार में बन जाती है । किन्तु संसार में उपलब्ध नानाविध और नियत प्रवृत्ति अचेतन प्रकृति का विकारमात्र मानना स्वभाववाद का ही प्रच्छन्नरूप होने से अनुभव व युक्ति से सर्वथा विरुद्ध है । अतः मुनियों ने उसकी भी अकारणता सिद्धवत् कह दी है ।) हे तपोधन सूत जी ! अतः सारे संसार का कारण जीव व प्रकृति से अन्य ही कोई है ॥ २ ॥

---

१. क. ख. °दं ब्रह्मन्वि° । २. स्वभाववादः स्थविष्ठतयाऽनुत्तरमिति सूचयन्तो 'विभक्तमि'त्याहुः । ३. असदकारणमिति जानीम इति शून्यस्य कारणतां मा वोच इति सूचयितुं 'केनचिदि'ति । ४. नाशहेतुरपि पृष्टप्राय इति चकारार्थः । ५. तत इति विभक्तत्वं पशोरहेतुत्वेन परामृश्यते । ६. ङ. जगदुत्पत्तिश्च । ७. घ. कारणत्वेन । ८. ङ. °ज्ञानवत्त्वात् । ९. 'मलोमाया कर्मतत्त्वतिरोधानञ्च ते मताः । मलो ज्ञानक्रियाशक्त्याऽऽच्छादकोधर्म इष्यते । रागादिहेतु र्माया स्यात् कर्म पुण्यं च पातक'मिति शैवागमेषु । १०. ख. °र्मद्विपा° । ११. °मन्त्रेशा भ° । १२. क. ख. ग. क्रोधाधादयो° ।

तमस्माकं महाभाग ब्रूहि पुण्यवतां वर । सूत उवाच : पुरा विष्ण्वादयो देवाः सर्वे संभूय कारणम् ॥ ३ ॥
विचार्य जगतो विप्राः संशयाविष्टचेतसः[1] । अतीव सुखदं शुद्धं रौद्रं लोकं समागमन् ॥ ४ ॥

तेषां मध्ये महादेवः संसारद्रावको हरः । रुद्रः परमकारुण्यः स्वयमाविरभूद् द्विजाः ॥ ५ ॥

अदृष्टपूर्वं तं दृष्ट्वा देवा विष्णुपुरोगमाः । प्रणिपत्य महादेवमपृच्छन्को भवानिति ॥ ६ ॥

सोऽब्रवीद्भगवान्रुद्रः पशूनां पतिरीश्वरः । सर्वज्ञः सर्वतत्त्वानां तत्त्वभूतः सनातनः ॥ ७ ॥

अहमेको जगद्धातुरासं प्रथममीश्वरः । वर्तामि च भविष्यामि न मत्तोऽन्योऽस्ति कश्चन ॥ ८ ॥

कोऽसाविति मुनीनां जिज्ञासा । अत्रोत्तरमथर्वशिरसि स्थितयाऽऽख्यायिकयैव सूत आह–**पुरा विष्ण्वादयो देवा** इति । **अतीव सुखदं शुद्धमिति** । तथा च श्रुतिः–'देवा ह वै स्वर्गं लोकमगमन्' इति । तदाहुः–'यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् । अभिलाषोपनीतं च सुखं स्वर्गपदास्पदम्' इति ॥ ३ ॥ ॥ ४ ॥

परमकारुण्यः करुणैव कारुण्यम् । 'चतुर्वर्णादिभ्यः स्वार्थे' इति ष्यञ् । तमाविर्भूतं रुद्रं देवाः को भवानित्यपृच्छन् । तदाह श्रुतिः–'ते[2] देवा रुद्रम[3]पृच्छन्को भवानिति' इति ॥ ५ ॥ ॥ ६ ॥

पशूनां पतिः । उक्तलक्षणानां त्रिविधानां पशूनामनुग्रहेण पालनात्पतिः । उक्तं हि मृगेन्द्रसंहितायाम्–'अथानादिमलापेतः सर्वकृत्सर्वदृक् शिवः । पूर्वं व्यत्यासितस्याणोः पाशजालमपोहति' ॥ इति । पाशानां स्वव्यापारे सामर्थ्याधानात्पशूनां भोगापवर्गप्रदानाच्च तेषामीष्ट इतीश्वरः यथाऽऽहुरागमिकाः–'भुक्तिं मुक्तिमणूनां स्वव्यापारे समर्थनाधानम् । जडवर्गस्य विधत्ते सर्वानुग्राहकः शंभुः' ॥ इति । **सर्वतत्त्वानां तत्त्वभूत** इति । आप्रलयमवस्थितानि तत्त्वानि प्रलयेऽप्यवस्थानात्तु सनातनः शिवः सर्वतत्त्वानां तत्त्वभूतः । तदुक्तम्–'आप्रलयं यत्तिष्ठति सर्वेषां भोगदायि भूतानाम् । तत्तत्त्वमिति प्रोक्तं न शरीरघटादि तत्त्वमतः' ॥ इति ॥ ७ ॥

रुद्रस्योत्तरम्–**अहमेक** इति ।[4] जगद्धातुर्ब्रह्म[5]णः सकाशादपि प्रथमम् **अहमासं वर्तामि**[6] **भविष्यामि च** एकैककालकृतपरिच्छेद-विरहाभिप्रायं नतु कालत्रयसंबन्धाभिप्रायम् **अहमेक** इति **न मत्तोऽन्य** इति च स्यातिरिक्तस्य कालस्यापि निरासात् । अतएव **चैक** इत्यपि द्वित्र्यादिसंख्यासंबन्धनिरासो विवक्षितो नैकत्वसंबन्धः । यदाह श्रुतिः–'अहमेकः प्रथममासं वर्तामि च भविष्यामि च नान्यः कश्चिन्मत्तो व्यतिरिक्तः' इति ॥ ८ ॥

हे पुण्यवानों में उत्तम रोमहर्षण जी ! वह कारण हमें बताइये ।

सूतजी ने उत्तर दिया–हे विप्रो ! पूर्वकाल में एकदा विष्णु आदि सब देवताओं ने मिलकर जगत् के कारण के विषय में ॥ ३ ॥ विचार किया किन्तु किसी निर्णय पर न पहुँच सके अतः संशयापन्न हो अत्यन्त सुखप्रद, निष्पाप रुद्र लोक को गये ॥ ४ ॥ हे द्विजो ! संसार का प्रमोष कराने वाले, दोषों का हरण करने वाले, दुःख नष्ट करने वाले, परम करुणा वाले महादेव स्वयं उन देवताओं के बीच प्रकट हुए ॥ ५ ॥ पूर्व में कभी न देखे उन महादेव को देखकर विष्णु-प्रमुख देवताओं ने उन्हें नमस्कार कर पूछा, 'आप कौन हैं ?' ॥६ ॥ जीवरूप पशुओं के पालक व शासक, सर्वज्ञ, सब तत्त्वों की अपेक्षा अधिक तात्त्विक अर्थात् पारमार्थिक एवं नित्य उन भगवान् रुद्र ने कहा–॥ ७ ॥ जगद् का धारण करने वाले ब्रह्मा से भी पहले मैं ईश्वर अकेला ही था, हूँ और रहूँगा । मुझ से भिन्न कोई नहीं है । (अर्थात् मैं वह अद्वितीय हूँ जो सदा काल आदि सद्वय संसार से अस्पृष्ट रहता है ।) ॥ ८ ॥

---

१. संशयस्य विचाराङ्गत्वमनेन द्योतितम् । २. ङ. तं । ३. घ. °द्रमापृ° । ४. क्वचिन्मूले जगद्धेतुरिति पाठः । ५. ख. °ह्मणोऽपि । ६. ख. °मि च भ° ।

मन्मायाशक्तिसंक्लृप्तं जगत्सर्वं चराचरम् । साऽपि मत्तः पृथग्विप्रा नास्त्येव परमार्थतः ॥ ९ ॥

कथं तर्हि लोकस्य चराचरजगद्गोचरोऽनुभव इत्यत आह–**मन्मायाशक्तिसंक्लृप्तमिति** । तर्हि तयैव मायया सद्वितीयत्वं चेन्न, तस्या अपि परमार्थतः सत्त्वाभावादित्याह–**साऽपीति** । अयमभिसंधिः–यदनुविद्धानि हि यान्यवभासन्ते तत्र तानि परिकल्पितानि, यथाऽयं सर्पोऽयं दण्ड इयं धारेति रज्ज्वा इदमंशेनानुविद्धतया भासमानाः सर्पदण्डधारादयस्तत्र परिकल्पिताः । सदनुविद्धं चेदं सकलं जगदवभासते–सन्घटः सन्पट इति, अतः सन्मात्ररूपे परशिवे विश्वं परिकल्पितम् । नच तस्य सन्मात्रस्यानवभा[१]सने तदनुवेधेन कल्पितावभाससंभव, इति सदैव तस्य प्रकाशोऽभ्युपगन्तव्यः । नच तस्य प्रकाशकान्तरं किंचिदस्ति । स्वव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य कल्पिततया जडत्वात् । अतः स्वप्रकाशतया तदेव चिद्रूपम् । तथा च श्रूयते–'सद्धीदं सर्वं सत्सदिति । चिद्धीदं सर्वं काशते काशते च' इति । तस्य च स्वात्मनो[२]ऽनतिरेकादात्[३]मनः परमप्रेमास्पदत्वेन परमानन्दरूपत्वात् । श्रुतिभिश्च परानन्दैकरसत्वं प्रतिपादितम् । इत्थं सच्चिदानन्दैकरसः परमात्मा **मन्मायेत्यत्र** मच्छब्देनोच्यते । कल्पितस्य जगतोऽनाद्यनन्तत्वे सर्वदोपलम्भप्रस[४]ङ्गान्न कादाचित्कत्वम् । कादाचित्कस्य च कारणापेक्षत्वात्तदनुरूपं किंचित्कल्पितमुपादानमङ्गीकर्तव्यम् । सत्योपादानत्वे कार्यस्यापि कल्पितत्वव्याघातात्तस्य च कारणस्याऽऽदिमत्त्वे तादृक्कारणान्तरकल्पनानवस्था[५]पातादनाद्येव तत्स्वीकर्तव्यं सेयमुच्यते **मायेति** । सा च सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिकाऽपि न सांख्याभिमतप्रधानवत्स्वतन्त्रा किंत्वीश्वरस्य परतन्त्रेत्याशयेन **शक्तिरित्युक्तम्** । 'शक्तिरिति परतन्त्रतामाहे'ति विवरणाचार्याः । ते च गुणाः परस्पराभिभवात्मकाः । उक्तं हि गीतासु–'रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत । रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा' ॥ इति । [६]तेन सा माया त्रेधा भवति । रजस्तमसोरत्यन्ताभिभवेन विशुद्धसत्त्वात्मिका तावदेका । ईषदुद्भूताभ्यां रजस्तमोभ्यां मलिनसत्त्वात्मिका द्वितीया । तमसोऽत्यन्तमुद्भवेनात्यन्ताभिभूतयोः सत्त्वरजसोरसत्प्रायत्वात्केवलतमोमयी तृतीयेति । तत्र मन्मायेत्यत्र मच्छब्दोपलक्षितं मायातीतं सच्चिदानन्दैकरसं परशिवस्वरूपम् । विशुद्धसत्त्वप्रधाना तु माया मायिनं न वशी करोति । किंतु तस्य वशे वर्तते । तथाच स्वाधीनमायोपाधिविशिष्टं तदेव परशिवस्वरूपमिह मच्छब्देनाभिधीयमानमीश्वरो जगत्कर्ता सर्वज्ञो भोगप्रद इत्यादि शब्दैरुच्यते । उक्तं हि व्यासेन–'फलमत उपपत्तेः' इति । मलिनसत्त्वप्रधाना तु मायिनं वशी करोति । तद्वशीकृतं च चैतन्यं जीवः संसारी कर्ता भोक्तेत्यादि[७]भिरुच्यते । केवलतमोमयी तु स्वाश्रयमसत्प्रायं कृत्वा भूतभौतिकजगदात्म[८]कभोग्यरूपेण च विवर्तते । तत्र मच्छब्देनाभिहितो य ईश्वरो भोगप्रदस्तत्परतन्त्रा माया **मन्मायाशक्तिरित्युक्ता**, तयैव द्वितीयां दशां प्राप्तयोपाधिभूतया विशिष्टा भोक्तारो जीवाश्चरशब्देनोक्ताः । तयैव तृतीयां दशां प्राप्तयोपाधिभूतया विशिष्टं भोग्यं जडं [९]जगदचरमित्युच्यते । इत्थं भोगप्रदभोक्तृभोग्यविभागकल्पिकाया मायायाः कल्पितत्वान्मायातीतपरशिवव्यतिरेकेण परमार्थतो न भाव[१०] इति । तदुक्तं श्वेताश्वतरोपनिषदि–"भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म[११]मेतत्' इति । यावद् ब्रह्म न जानाति तावत्प्रेरयिता भोगप्रद ईश्वरः, भोक्ता जीवः, भोग्यं जगदिति विभागः । ब्रह्म [१२]मत्वा तु स्थितस्यैतत्त्रिविधं ब्रह्मैव भवति । अतो मायाशक्तिसंक्लृप्तमित्यर्थः । आगमिका अप्याहुः –'शिवो दाता शिवो भोक्ता शिवः सर्वमिदं जगत् । शिवो यजति यज्ञैश्च यः शिवः सोऽहमेव हि' ॥ इति । मायातीतः शिव एव स्वमायया भोगदाता भोक्ता भोग्यं च भवति । यदा तु भोक्ता शिवं साक्षात्कुरुते तदा विभागहेतुभूताया मायाया नाशात्स्वयं शिवरूपतामेव प्रतिपद्यत इत्यर्थः । अयमर्थः सर्वोऽग्रे प्रपञ्चेन भविष्यति ॥ ९ ॥

हे वेदज्ञ देवताओ ! मेरी मायाशक्ति से कल्पित यह सारा जड-चेतन जगत् है । वह माया भी मुझसे अलग कोई वास्तविक तत्त्व नहीं है । (यद्यपि शिव सनातन अद्वितीय हैं तथापि हमें द्वैत-प्रतीति है जो किसी प्रतीतियोग्य कारण के बिना अनुपपन्न होती हुई जगत् के समान योग-क्षेम वाले उसके कारण की कल्पना कराती है जिसका अनुवाद शास्त्र में माया आदि शब्दों से किया गया है । 'है' व 'नहीं है' इन प्रकारों से समझी न जा सकने से वह माया कही गयी है, जगत् का मूल होने से प्रकृति है, प्रबोध से निवृत्त होने के कारण अविद्या है तथा शिव के परतंत्र होने से वह उनकी शक्ति कही गयी है । इस मायिक मायाशक्ति से ईश्वर, जीव और जगत्–ये भेद कल्पित हैं । जैसे रज्जुसर्प की प्रतीति की कथंचिद् उपपत्ति के लिये उसके कारण आदि सब मान लिये जाते हैं जबकि वस्तुतः सर्प ही नहीं तो उसका कैसा भी कारण वस्तुतः होना असंभव हैं, वैसे ही हमारी द्वैतप्रतीति से अविद्या स्वीकार्य है, वस्तुतः तो वह है ही नहीं । 'मुझसे भिन्न' आदि का यही अर्थ है कि जैसे रस्सी से भिन्न सर्पादि नहीं होता वैसे शिव से भिन्न मायाशक्ति आदि नहीं है ।) ॥ ९ ॥

---

१. क. ख. ग. °भासे त° । २. ख. °नोऽव्यति° । ३. क. ख. ग. °त्मनश्च प° । ४. ङ. °सङ्गात्कादा° । ५. ग. °स्याव्याघाता° । ६. ङ. तेन मा° । ७. दिशब्दैरु° । ८. क. ख. °त्मभोग्य° । ९. ङ. जगच्चरा- चर° । १०. म. भवति । ११. ङ. °ह्म चैतत् । १२. ङ. मत्वोपस्थि° ।

[1]मामेवं वेदवाक्येभ्यो जानात्याचार्यपूर्वकम् । यः पशुः स विमुच्येत ज्ञानाद्वेदान्त[2]वाक्यजात् ॥ १० ॥

इत्युक्त्वा भगवान्रुद्रः स्वं पूर्णं रूपमाविशत् । नापश्यन्त ततो रुद्रं देवा विष्णुपुरोगमाः ॥ ११ ॥

अथर्वशिरसा देवमस्तुवंश्चोर्ध्वबाहवः । अन्यैर्नानाविधैः सूक्तैः श्रीमत्पञ्चाक्षरेण च ॥ १२ ॥

पुनः साक्षाच्छिवज्ञानसिद्ध्यर्थं मुनिपुङ्गवाः । अग्निहोत्रसमुत्पन्नं भस्माऽऽदायाऽऽदरेण तु ॥ १३ ॥

निधाय पात्रे शुद्धे तत्पादौ प्रक्षाल्य वारिणा । द्विराचम्य मुनिश्रेष्ठाः सपवित्राः समाहिताः ॥ १४ ॥

ओमापः सर्वमित्येतन्मन्त्रमुच्चार्य भक्तितः । ध्यात्वा विष्णुं जलाध्यक्षं गृहीत्वा भस्म वारिणा ॥ १५ ॥

विमृज्य मन्त्रैर्जाबालैरग्निरित्यादिसप्तभिः । समाहितधियः शुद्धाः शिवं ध्यात्वा शिवामपि ॥ १६ ॥

उक्तमायापरिहारेण शिवस्वरूपप्राप्तावुपायमाह–**मामेवमिति** । **वेदवाक्येभ्य** इति तत्त्वमसीत्यादिभ्यः । स [3]एव मुख्य उपायः । 'तं त्वौपनिषदम्' इति श्रुतेः । **आचार्यपूर्वकमिति** । 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' इति श्रुतेः । 'यो जानाति सोऽज्ञानान्मुच्यते' इति । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इति । 'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति' । 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति च श्रुतेः ॥ १० ॥

इत्थं गुरूपदेशादेव ज्ञातव्यं स्वरूपमुपदिश्य तत्साक्षात्कारसाधनानां पाशुपतव्रतप्रणवपञ्चाक्षरजपादीनां शास्त्रत एव देवैर्ज्ञातुं शक्यत्वेन कर्तव्याभावाच्छिवः स्वप्रतिष्ठोऽभवदित्याह–**इत्युक्त्वा भगवान्रुद्र** इति ॥ ११ ॥

उपदेशपरितुष्टास्तुष्टुवुरित्याह–**अथर्वशिरसा देवमिति** । 'यो वै रुद्र' इत्यादिनेत्यर्थः । तदाह श्रुतिः–'ततो देवा रुद्रं नापश्यंस्ते देवा रुद्रं ध्यायन्ति । ततो देवा ऊर्ध्वबाहवः स्तुवन्ति यो वै रुद्रः स भगवानि'त्यादि । अलभ्यलाभनिबन्धनस्य हर्षोत्कर्षस्य लिङ्गमूर्ध्वबाहुत्वम् । **अन्यैर्नानाविधैः सूक्तैरिति** शतरुद्रियादिभिः ॥ १२ ॥ ॥ १३ ॥ ॥ १४ ॥

ॐमापः सर्वमिति । 'ॐमापो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः [4]स्वरोम्' इत्येतन्मन्त्रमित्यर्थः । सर्वशब्देनार्थद्वारा ज्योतिरादयः शब्दा गृह्यन्ते ॥ १५ ॥

अग्निरित्यादीति । सप्तभिरिति शब्दपरो निर्देशः । आदिशब्देन जलमिति[5] स्थलमित्यादयो गृह्यन्ते ॥ १६ ॥

जो जीवरूप पशु गुरु द्वारा समझाये वेदवाक्यों से मुझे अद्वितीयादि समझ लेता है वह उस वेदान्तमहावाक्य से उत्पन्न ज्ञान के कारण इस माया के पाश से छूट जाता है ॥ १० ॥–इतना कहकर भगवान् रुद्र तत्काल गृहीत मायिक विग्रह को छोड़ अपने सर्वोपाधिशून्य रूप से पुनः स्थित हो गये । तदनन्तर विष्णु आदि देवों ने रुद्र को नहीं देखा ॥ ११ ॥ देवताओं ने हर्षोत्कर्षवशात् हाथ उठाकर महादेव की अथर्वशिर उपनिषत् के मन्त्रों द्वारा, शतरुद्रीय आदि अन्य नाना प्रकार के सूक्तों द्वारा और पंचाक्षर मन्त्र द्वारा स्तुति की ॥ १२ ॥ हे श्रेष्ठ मुनियो ! तदनन्तर शिव के साक्षात्कार के उद्देश्य से देवताओं ने श्रद्धापूर्वक अग्निहोत्र से समुत्पन्न भस्म लेकर, ॥ १३ ॥ उसे शुद्ध पात्र में रखकर, पानी से अपने पाँव धोकर, दो बार आचमन कर, अंगुली में कुश के पवित्र को धारणकर, एकाग्र होकर, ॥ १४ ॥ भक्तिपूर्वक 'ॐ आपः' इत्यादि पूरे मन्त्र का उच्चारण कर, जल के अधिष्ठाता विष्णु का ध्यानकर, हाथ में भस्म लेकर, उसे ॥ १५ ॥ जाबालोपनिषत् में बताये 'अग्निरिति भस्म' इत्यादि सात मन्त्रों का उच्चारण करते हुए जल से मिलाकर, एकाग्रचित्त वाले हुए उन शुद्ध देवताओं ने शिव-पार्वती का ध्यान कर ॥ १६ ॥

---

१. ख. °मामेव वेद° । २. घ. °न्तशास्त्रजा° । ३. क. ख. ग. एव हि मु° । ४. ख. सुवरोम् । ५. क. ख. °ति भस्म स्थ° ।

[1]समुद्धूल्य मुनिश्रेष्ठा आपादतलमस्तकम् । सितेन भस्मना तेन ब्रह्मभूतेन भावनात् ॥ १७ ॥

ललाटे हृदये कुक्षौ दोर्द्वंद्वे च सुरोत्तमाः । त्रिपुण्ड्रधारणं कृत्वा ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम् ॥ १८ ॥

एवं कृत्वा व्रतं देवा अथर्वशिरसि स्थितम् । शान्ता दान्ता विरक्ताश्च त्यक्त्वा कर्माणि सुव्रताः ॥ १९ ॥

वालाग्रमात्रं विश्वेशं जातवेदस्वरूपिणम् । हृत्पद्मकर्णिकामध्ये ध्यात्वा वेदविदां वराः ॥ २० ॥

सर्वज्ञं सर्वकर्तारं समस्ताधारमद्भुतम् । प्रणवेनैव मन्त्रेण पूजयामासुरीश्वरम् ॥ २१ ॥

अथ तेषां प्रसादार्थं पशूनां पतिरीश्वरः । उमार्धविग्रहः श्रीमान्सोमार्धकृतशेखरः ॥ २२ ॥

नीलकण्ठो निराधारो निर्मलो निरुपप्लवः । ब्रह्मविष्णुमहेशानैरुपास्यः परमेश्वरः ॥ २३ ॥

सांनिध्यमकरोद्रुद्रः साक्षात्संसारनाशकः । यं प्रपश्यन्ति वेदान्तैः स्वरूपं सर्वसाक्षिणम् ॥ २४ ॥

ब्रह्मभूतेनेति । ब्रह्मत्वेन भाव्यमानतया ब्रह्मीभूतेनेत्यर्थः ॥ १७ ॥ ॥ १८ ॥ ॥ १९ ॥

वालाग्रमात्रमिति । अतिसूक्ष्मे दहराकाश उपलभ्यमानत्वादीशस्य वालाग्रमात्रत्वम् । जातमाविर्भूतं वेदो ज्ञानं तदेव स्वरूपं तद्वन्तम् । यद्वा चरमसाक्षात्कारवृत्त्यभिव्यक्तेः सकारणं संसारं दहतीति जातवेदा इत्यग्नित्वारोपः । श्रूयते हि–'वालाग्रमात्रं हृदयस्य मध्ये विश्वं देवं जातवेदं वरेण्यम्' इति ॥ २० ॥ ॥ २१ ॥

अथ तेषामिति । **प्रसादो** नैर्मल्यं संस्काराविद्यानिवृत्तिस्तदर्थमित्यर्थः । ननु व्रतादिभ्यः पूर्वमपि देवैः शिवः साक्षात्कृतः सन्नुपदिदेशेत्युक्तम् व्रतादिभिः को विशेषो जात इति ? न । सकलं रूपं तत्र साक्षात्कृतम् । निष्कलं तु शिवेनोपदिष्टं सच्छब्दतः परोक्षतयैव ज्ञातम् । अधुना तु व्रतादिभिः प्रतिबन्धकदुरितप्रक्षयाद्यद्अपरोक्षतया ज्ञातं तदेव निष्कलं तत्त्वं प्रत्यक्षतोऽपश्यन्निति विशेषः । नन्वत्राप्युमार्धविग्रहः सोमार्धकृतशेखर इति सकलमेव रूपमुच्यते ? न । यः प्राग्दृष्टः सकल उमार्धविग्रहादिरूप इत्यनूद्य स एव निराधारत्वनिर्मलत्वादिना निष्कलरूपेण साक्षात्सांनिध्यमपरोक्षज्ञानविषयभावमकरोदिति विधानात् । **निराधारः** स्वमहिमप्रतिष्ठत्वात् । 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' इति श्रुतेः । मायापारतन्त्र्यलक्षणकालुष्यविरहान्नैर्मल्यम् । अत एव मायाकार्यसंसारोपप्लवविरहान्निरुपप्लवः ॥ २२ ॥ ॥ २३ ॥

तदेव साक्षात्क्रियमाणं निष्कलं रूपं सकलाद्विविच्य विशदीकर्तुमाह–**यं प्रपश्यन्तीत्यादिभिः** । **वेदान्तैः** 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिभिः पदार्थ[2]पदैरवान्तरवाक्यगतैः, 'तत्त्वमस्यहं ब्रह्मास्मी' त्यादिभिर्महावाक्यगतैश्च पदैरभिधावृत्त्या सगुणं रूपं ज्ञात्वा लक्षणया निष्कलं रूपं पश्यन्तीत्यर्थः । तथाहि– सत्यज्ञानानन्तानन्दशब्दाः परापरजातिवाचिनस्तदाधारभूतामेकामानन्दव्यक्तिं ब्रह्मत्वेन लक्षयन्ति । 'तत्त्वमस्यहं ब्रह्मास्मी' त्यादौ च तदादीनि पदानि सर्वज्ञत्वजगत्कारणत्वादिविशिष्टं, त्वमादीनि च

उस श्वेत भस्म में ब्रह्मदृष्टि करते हुए उससे अपने पूरे शरीर को उद्धूलित कर ॥ १७ ॥ ललाट, हृदय, पार्श्व तथा भुजाओं पर ब्रह्मा-विष्णु-शिवरूप त्रिपुण्ड्र लगाकर ॥ १८॥ यों अथर्वशिर उपनिषत् में बताये व्रत का अनुष्ठान कर इन्द्रियों को व मन को नियंत्रित किये हुए और वैराग्यवान् हुए उन देवताओं ने कर्मों को छोड़ कर ॥ १९ ॥ अपने-अपने हृदयकमल की कर्णिका पर (कमल पुष्प के बीच चपटा भाग कर्णिका होता है) स्थित बाल की नोक की तरह सूक्ष्म और स्फुट ज्ञान स्वरूप विश्वेश्वर का ध्यान कर ॥ २० ॥ सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, समस्त संसार के आधार, संसार से विलक्षण ईश्वर की केवल प्रणवमंत्र से पूजा की ॥ २१ ॥

व्रतपूर्वक उस पूजन के अनन्तर उन देवताओं की अविद्या निवृत्त करने के लिए पशुपति, सर्वशासक, आधे शरीर में उमा का धारण करने वाले, वैभव युक्त, चन्द्रार्धरूप शिरोभूषण वाले ॥ २२ ॥ नीले कण्ठ वाले, किसी अन्य पर आधारित न होने वाले, माया के अपरतन्त्र, संसार से अस्पृष्ट, ब्रह्मा-विष्णु-रुद्रद्वारा उपास्य परमेश्वर ॥ २३ ॥

---

१. ध. समुद्धृत्य । २. पदार्थबोधकपदैरित्यर्थः । महावाक्यघटकपदानामर्थबोधकवाक्यान्यवान्तरवाक्यानि ।

तमेव शंकरं साक्षाद्ददृशुः सुरसत्तमाः । यं न पश्यन्ति दुर्वृत्ताः श्रौतस्मार्तविवर्जिताः ॥ २५ ॥

तमेव शंकरं साक्षाद्ददृशुर्देवपुङ्गवाः । यत्प्राप्त्यर्थं द्विजैर्वेदा अधीयन्ते समाहितैः ॥ २६ ॥

तमेव रुद्रमीशानं ददृशुस्त्रिदशा भृशम् । यं यजन्ते मुनिश्रेष्ठाः श्रद्धया ब्राह्मणोत्तमाः ॥ २७ ॥

तमेव परमं देवं ददृशुः स्वर्गवासिनः । यं प्रपश्यन्ति देवेशं योगिनो दग्धकिल्बिषाः ॥ २८ ॥

तमेव सर्वमानन्दं ददृशुर्लोकनायकाः । यस्य प्रसादाद्भगवान्विष्णुर्विश्वजगत्पतिः ॥ २९ ॥

तमेव सर्वलोकेशं ददृशुः पुरुषाधिकाः[1] । यत्प्रसादाद्द्विजा ब्रह्मा स्रष्टा सर्वस्य सुव्रताः ॥ ३० ॥

तमेव [2]सत्यमीशानं ददृशुः सत्त्वसंयुताः । अथ तं तुष्टुवुर्देवाः साम्बं सर्वफलप्रदम् ॥ ३१ ॥

संसारादिविशिष्टमभिधाय, विरुद्धं विशेषणांशद्वयं परित्यज्याखण्डैकरसं लक्षयन्ति । **स्वरूपमिति** स्वं निरस्तसमस्तोपाधिकं रूपमित्यर्थः । **सर्वसाक्षिणमिति** यथा साक्षी व्यवहारानुप्रविष्ट उदासीन एवं संसाराननुप्रविष्टमुदासीनमित्यर्थः । अत्रापि **शंकरमिति** सकलं रूपमनूद्य तस्य [3]तमेव साक्षाद्ददृशुरिति निष्कलरूपतया साक्षाद्दर्शनमुच्यते । यद्वा शं सुखं संसारिणां मुक्तानां च करोतीति शंकरः । तथाहि–शुभकर्मोपस्थापितविषयेन्द्रियसंप्रयोग[4]जनितान्तःकरणवृत्तौ पर एवाऽऽनन्दः संसारिणां मात्रया व्यज्यते । श्रूयते हि–'एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इति । सकलसंसारनिवृत्तौ च साकल्येन व्यज्यते । 'एषोऽस्य परमानन्दः' इति श्रुतेः । तदुक्तं तत्त्वविद्भिः–'स्वमात्रयाऽऽनन्दयदत्र जन्तून्सर्वात्मभावेन तथा परत्र । यच्छंकरानन्दपदं हृदब्जे [5]विभ्राजते तद्यतयो विशन्ति' ॥ इति । **यत्प्राप्त्यर्थं द्विजैर्वेदा अधीयन्ते** । **यं यजन्त** इति । 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति [6]यज्ञेन' इति श्रुतेः । **रुद्रमीशानमिति** शंकरपदवदनुवादत्वमेव । यद्वा रुदं दुःखं द्रावयतीति **रुद्रः** । अपरतन्त्रत्वादी**शान**श्चेति निष्कलपरतया व्याख्येयम् । न केवलं विविदिषन्ति, विदन्ति चेत्याह–**यं प्रपश्यन्ति देवेशं योगिन** इति । **यस्य प्रसादादिति** । यद्विष्णोर्जगतः परिपालने सामर्थ्यं यद्ब्रह्मणस्तत्सृष्टौ सामर्थ्यं तदुभयं शिवप्रसादादेवेत्यर्थः ॥ २४-३० ॥

सत्त्वसंयुता विशुद्धसत्त्वाः । श्रूयते हि–'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं [7]पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' इति । **अथ तं तुष्टुवुरिति**–इयमपरोक्षज्ञानलाभनिबन्धना स्तुतिः । 'अथर्वशिरसा देवमस्तुवन्निति तूपदेशतः परोक्षज्ञानलाभनिबन्धना स्तुतिरिति ।

साक्षात्कृत होने पर संसार के निवारक श्री महारुद्र उन देवों के संमुख प्रकट हुए । (जो महादेव पूर्व में सविशेषरूप से उपस्थित हुए थे वे ही अब अपेतोपाधिकल्मषरूप से आविर्भूत हुए यह भाव है । यहाँ पशुपति आदि विशेषणों का इतना ही कृत्य है कि 'किसी अन्य पर आधारित न होने वाले' इत्यादि से बताये जाने वाले तत्त्व को पूर्व प्रकट तत्त्व से अर्थान्तर न समझ लिया जाये । प्रकृत आविर्भाव सविशेषरूप का नहीं है क्योंकि वह तो व्रतायनुष्ठान से पहले हो ही चुका है । सगुण व निर्गुण दो ब्रह्म नहीं हैं । एक ही शिवतत्त्व गुणदृष्ट्या देखा जाता हुआ सगुण प्रतीत होता है और केवल अपने स्वरूप से जाना जाता हुआ निर्गुण प्रमित होता है ।) जिस समस्तसाक्षी निज-रूप को वेदान्तवाक्यों द्वारा उत्तम साधक जानते हैं ॥ २४ ॥ उसी शंकर का सुरश्रेष्ठों ने साक्षात्कार किया । श्रुति-स्मृति में विहित कर्तव्यों का पालन न करने वाले व दुष्ट आचार वाले जिसे कभी नहीं देख पाते, ॥ २५ ॥ उसी शंकर का देवोत्तमों ने साक्षात्कार किया । जिसकी प्राप्ति के लिये एकाग्रचित्त वाले ब्राह्मणों द्वारा वेद पढ़े जाते हैं ॥ २६ ॥ उसी ईशानशब्दित रुद्र का स्पष्ट दर्शन देवताओं ने किया । हे मुनिश्रेष्ठो ! उत्तम ब्राह्मण श्रद्धापूर्वक जिसकी पूजा करते हैं ॥ २७ ॥ उसी परमात्मदेव का ज्ञान स्वर्गवासी उन व्रताचारी देवों को हुआ । क्षीणपाप योगी जिस देवेश्वर का दर्शन करते हैं ॥ २८ ॥ उसी सर्वरूप व आनन्दरूप परमात्मा को जगत् के शासक देवताओं ने जाना । जिसकी कृपा से विष्णु भगवान् सारे जगत् के पालक हैं ॥ २९ ॥ समस्त लोकों के अनन्य अधिपति उसी शंभु का ज्ञान उन मनुष्यों से भी श्रेष्ठ देवताओं को हुआ । हे द्विजो ! हे पुराणश्रवण के व्रत का धारण करने वाले मुनियो ! जिनकी अनुकम्पा से ब्रह्माजी सबके उत्पादक हुए हैं ॥ ३० ॥

---

१. ऐतरेयकादौ पुरुषस्य प्रशंसिततया ततोऽप्यतिशयोक्तिर्देवानां स्तुतये तद्द्वारा च दर्शनस्तुतय इति बोध्यम् । २. ख. सर्वमी° । ३. ङ. तदेव । ४. ङ. °योगाजनि° । ५. ङ. विराजते । ६. ख. यज्ञेन दानेन । ७. ध. पश्यति ।

संसाररोगदुःखस्य भेषजं गद्गदस्वराः । अथ[1] देवो महादेवः साम्बो देवैरभिष्टुतः ॥ ३२ ॥

विलोक्य देवानखिलान्प्रीतोऽस्मीत्यब्रवीद्धरः । पुनर्देवान्समालोक्य रुद्रो विष्णुपुरोगमान् ॥ ३३ ॥

प्राह गम्भीरया वाचा भगवान्करुणानिधिः । अहमेव परं तत्त्वं मत्तो जातं जगत्सुराः ॥ ३४ ॥

मय्येव संस्थितं नष्टं मत्समो नाधिकः सदा । मत्स्वरूपपरिज्ञानादेव संसारनि[2]र्हृतिः ॥ ३५ ॥

मम ज्ञानं च वेदान्तश्रवणादेव जायते । मुमुक्षोर्व्रतनिष्ठस्य प्रशान्तस्य महात्मनः ॥ ३६ ॥

त्यक्तकर्मकलापस्य ध्याननिष्ठस्य शूलिनः । यज्ञदानादिभिः क्षीणमहापापार्णवस्य च ॥ ३७॥

सर्वफलप्रदमिति निरतिशयानन्दत्वेन सुखजातस्य समस्तस्यात्रैवान्तर्भावात् । श्रूयते हि–'यो वेद सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह' इति ॥ ३१ ॥ ॥ ३२ ॥ ॥ ३३ ॥

ननूपदेशेन परोक्षज्ञानं देवानां शिवेन प्रागेव जनितम् । प्रागुक्तपाशुपतव्रतादिसाधनैश्च तैस्तन्निष्कलं रूपमपरोक्षतया ज्ञातम् । किमतः परम् 'अहमेव परं तत्त्वमि'त्यादिना तेभ्यः शिवेनोपदेष्टव्यम् ? अथ तस्य तन्निष्कलरूपस्य साक्षात्कृतस्यापि वक्त्रा स्वस्मादभेद उपदिश्यत इति ? न । तस्यापि 'अहमेको जग[3]द्धातुरि'त्यादिना प्रथमत एवोपदिष्टत्वात् । सत्यम् । येयं मम निष्कलरूपता भवद्भिः प्रागुपदेशतो ज्ञाता सैवेयमिदानीं भवद्भिः साक्षात्कृतेति देवैर्ज्ञाताया अपि शिवेन प्रत्यभिज्ञाप्यमानत्वात् **मत्तो जा**मिति । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इति श्रुतेः । **मत्समो नाधिकः सदे**ति । मुक्तौ द्वितीयस्यैवाभावात्संसारे सतोऽपि द्वितीयस्य शिवादपकृष्टत्वात्र कदाचिदपि परः शिवेन समोऽस्ति कुतोऽभ्यधिकस्य कथा । श्रूयते हि–'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' इति । ज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वं यत्प्रागुपदिष्टम् 'यो जानाति स मुच्यते' इति तत्प्रत्यभिज्ञापयति–**मत्स्वरूपपरिज्ञानादि**ति ॥ ३४ ॥ ॥३५ ॥

ज्ञानस्य वेदान्तहेतुकत्वमुपदिष्टम् 'ज्ञानं वेदान्तवाक्यजम्' इति तत्प्रत्यभिज्ञापयति–**मम ज्ञानं चे**ति । तदपि श्रवणमभिहितव्रतादि[4]क्षपितकल्पमषस्यैव फलपर्यन्तं भवति नान्यस्येत्याह–**मुमुक्षोर्व्रते**ति । विविदिषापरिपन्थिपापापनयनं यज्ञादिना । उत्पन्नविविदिषस्य मुमुक्षोर्वेदनपरिपन्थिपापापनयो व्रतादिनेति[5] ॥ ३६ ॥

त्यक्तकर्मेति । विक्षेपकत्वेन कर्मकलापस्य ध्यानविरोधित्वात् । **शूलिन** इति कर्मणि षष्ठी । शिवगोचरं [6]यद्ध्यानं तन्निष्ठस्येत्यर्थः ॥ ३७ ॥

उन्हीं परमसत्य ईशानसंज्ञक महादेव को विशुद्धचेतस्क देवताओं ने जाना । शिवज्ञान प्राप्त कर देवों ने सब फलों के प्रदाता पार्वती-समेत परमेश्वर की स्तुति की ॥ ३१ ॥ भक्ति से गद्गद स्वर वाले हुए उन देवों ने संसाररोगरूप दुःख का निवारण करने वाली दवारूप शिव की प्रशंसा की ।

तदनन्तर देवों द्वारा स्तुत, गिरिजा-समेत स्वप्रकाश महादेव ने ॥ ३२ ॥ सब देवताओं को देखकर कहा, 'मैं प्रसन्न हूँ ।' फिर विष्णु प्रमुख देवताओं को लक्षितकर ॥ ३३ ॥ ऐश्वर्यादि-उपेत, करुणासागर श्रीरुद्र ने गंभीर वाणी से कहा—हे देवताओं ! मैं ही परम तत्त्व हूँ । जगत् मुझसे ही उत्पन्न हुआ है, ॥ ३४ ॥ मुझ में ही रहता है और मुझ में ही लीन होता है । यह ध्रुव सत्य है कि मेरे तुल्य या मुझसे अधिक सत्ता वाला कुछ नहीं है । मेरे स्वरूप की असन्दिग्ध प्रमा से ही संसरण समाप्त होता है ॥ ३५ ॥ मेरा ज्ञान उपनिषदों के तात्पर्यनिर्णय से ही होता है और वह भी उसे जो मुक्त होने की तीव्र उत्कण्ठा वाला हो, शम आदि व्रतों का दृढता से पालन करता हो, अचंचल चित्त वाला हो, क्षुद्र न हो ॥ ३६ ॥ सर्वकर्मसंन्यासी हो, शूलधारी महेश्वर के ध्यान में तत्पर हो तथा जिसके ज्ञानप्रतिबन्धक पाप यज्ञ दान आदि द्वारा निवृत्त हो चुके हों ॥ ३७ ॥

---

१. जातबोधानामनुभव एव प्रदर्श्यते वाक्यैरुत्तरैः । जीवन्मुक्तस्येश्वरामेदं वक्तुं 'देव' इत्याद्युक्तम् । यथा महादेवो माययैव देहमादाय भक्तेभ्यो ब्रवीति तथैव तत्त्वज्ञोपि बाधितमेव शरीरादिकं स्वीकृत्योपदिशतीति दिक् । २. घ. °निर्वृतिः । ३. क. गद्वेतु° । ४. °दिना क्ष° । ५. विविदिषामुद्दिश्य यज्ञादयो वेदनं चोद्दिश्य शमादयो विहिता इति बहिरङ्गान्तरङ्गत्वस्य व्यवस्थितत्वादन्तरङ्गसाधनेष्वधिकारमवाप्य बहिरङ्गसाधनानि त्याज्यान्येवेत्यभिप्रायः । ६. क. ख. ग. ध. यज्ज्ञानं° ।

एवं मां यो[1] विजानाति स सर्वं वेद नेतरः । उक्तं वेदान्तविज्ञानं युष्माकं सुरपुङ्गवाः ॥ ३८ ॥
व्रतं पाशुपतं चीर्णं यैर्द्विजैरादरेण च । तेषामेवोपदेष्टव्यमिति वेदानुशासनम् ॥ ३९॥
सूत उवाच : इत्युक्त्वा भगवान्रुद्रस्तत्रैवान्तरधीयत । ततो देवा मुनिश्रेष्ठा देवदेवस्य वैभवम् ॥ ४० ॥
विदित्वा तं जगद्धेतुममन्यन्तानसूयवः । तस्माद्यूयमपि श्रेष्ठाः सर्वज्ञं परमेश्वरम् ॥ ४१ ॥
जगतः कारणं बुद्ध्वा भजध्वं सर्वकारणम् । सोऽपि सर्वजगद्धेतुः सोमः सोमार्धशेखरः ॥ ४२ ॥
प्रसादाभिमुखो भूत्वा ब्रह्मविष्ण्वादिभिः सह । सांनिध्यं वेदविच्छ्रेष्ठाः करिष्यत्यखिलेश्वरः ॥ ४३ ॥
इति श्रुत्वा महात्मानो नैमिषारण्यवासिनः । महादेवस्य माहात्म्यं श्रीमत्पाशुपतस्य च ॥ ४४ ॥
हृष्टचित्ता महात्मानं सूतं सर्वार्थसागरम् । प्रणम्य पूजयामासुर्भक्त्या विज्ञप्तिसिद्धये ॥ ४५ ॥
इति श्रीस्कन्दपुराणे श्रीसूतसंहितायां शिवमाहात्म्यखण्डे पाशुपतव्रतं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

स सर्वं वेदेति—एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानश्रुतेः । उक्ताधिकारकारणाभावे जातमपि ज्ञानमूष[2]रनिक्षिप्तं बीजमिव निष्फलं भवेदित्याह—**नेतर** इति । 'येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् । तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया च' इति श्रुतेः । ब्रह्मैव लोको निष्कलः शिव इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

अत एव व्रतादिभिर्जनिताधिकाराणामेवोपदेष्टव्यमित्याह—**व्रतं पाशुपतं चीर्णमिति** । लोकरञ्जनमात्रप्रयोजनतया दाम्भिकैः कृतमपि व्रतादिकं निष्फलमेवेत्याह—**आदरेणेति** । **इति वेदानुशासनमिति** । 'क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः । तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्' इत्यादि[3]श्रुतेः । अत्रैकर्षिहोमशिरोव्रतादिकमध्ययनधर्मत्वादाथर्वणिकानामेव । अन्येषां तु क्रियावत्त्वादिकमेव विद्याधिकारकारणम् । तदुक्तं व्यासेन 'स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः' इति ॥ ३९ ॥

अतः सर्वजगद्धेतुरन्य एवेति मुनिभिः प्रश्ने यन्निर्दिष्टं तदेतद्देवेभ्यः शिवेनोपदिष्टमिति सूतः प्रत्यभिज्ञापयन्नुपसंहरति—**इतीति** । **तं जगद्धेतुममन्यन्त** इति । **मुनिश्रेष्ठा** इति संबोधनम् । हे मुनिश्रेष्ठाः ! देवा अमन्यन्तेत्यन्वयः । **अनसूयव** इति । असूया हि चित्तस्य मलम् । मलिनचित्तास्तु न बुध्यन्ते । अत एव चित्तस्य मलनिरासकारिकर्माण्युक्तानि पतञ्जलिना—'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्' इत्यादीनि । सुखितेषु मैत्रीं भावयतः परकीयमपि सुखं स्वकीयमेवेत्यभिमानाच्चित्तगतमीर्ष्यामलं निवर्तते । दुःखितेषु करुणां भावयतः स्वयं दुःखोत्पादनहेतुद्वेषमलं निवर्तते । पुण्यकृत्सु मुदितां भावयतो गुणेषु दोषारोपणरूपमसूयामलं निवर्तते । पापिष्ठेषूपेक्षां भावयतस्तत्संसर्गत्यागात्संसर्गजदोषमलं निवर्तत इति । शिवस्य देवैः सह संवादोपन्यासस्य फलमाह—**तस्माद्यूयमिति** । भजनफलमाह—**सोऽपि सर्वजगद्धेतुरिति** ॥ ४०-४३ ॥

सूतमुनिसंवादमुपन्यस्तं व्यास उपसंहरति—**इति श्रुत्वेति** । **विज्ञप्तीति** । ज्ञपेः 'सनीवन्तर्ध' इति सनीडागमविकल्पात् 'यस्य विभाषा' इति निष्ठायामुक्तो यो निषेधः सः 'ऋत्यादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद्भवति' इति निष्ठावद्भावात्क्तिन्यपि भवति ॥४४-४५ ॥

इति श्रीमत्काशीविलासक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवापरायणेनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन माधवाचार्येण विरचितायां श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां शिवमाहात्म्यखण्डे पाशुपतव्रतं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

उन्हीं परमसत्य ईशानसंज्ञक महादेव को विशुद्धचेतस्क देवताओं ने जाना । शिवज्ञान प्राप्त कर देवों ने सब फलों के प्रदाता पार्वती-समेत परमेश्वर की स्तुति की ॥ ३१ ॥ भक्ति से गद्गद स्वर वाले हुए उन देवों ने संसाररोगरूप दुःख का निवारण करने वाली दवारूप शिव की प्रशंसा की ।

तदनन्तर देवों द्वारा स्तुत, गिरिजा-समेत स्वप्रकाश महादेव ने ॥ ३२ ॥ सब देवताओं को देखकर कहा, 'मैं प्रसन्न हूँ ।' फिर विष्णु प्रमुख देवताओं को लक्षितकर ॥ ३३ ॥ ऐश्वर्यादि-उपेत, करुणासागर श्रीरुद्र ने गंभीर वाणी से कहा—हे देवताओं ! मैं ही परम तत्त्व हूँ । जगत् मुझसे ही उत्पन्न हुआ है, ॥ ३४ ॥ मुझ में ही रहता है और मुझ में ही लीन होता है । यह ध्रुव सत्य है कि मेरे तुल्य या मुझसे अधिक सत्ता वाला कुछ नहीं है । मेरे स्वरूप की असन्दिग्ध प्रमा से ही संसरण समाप्त होता है ॥ ३५ ॥ मेरा ज्ञान उपनिषदों के तात्पर्यनिर्णय से ही होता है और वह भी उसे जो मुक्त होने की तीव्र उत्कण्ठा वाला हो, शम आदि व्रतों का दृढ़ता से पालन करता हो, अचंचल चित्त वाला हो, क्षुद्र न हो ॥ ३६ ॥ सर्वकर्मसंन्यासी हो, शूलधारी महेश्वर के ध्यान में तत्पर हो तथा जिसके ज्ञानप्रतिबन्धक पाप यज्ञ दान आदि द्वारा निवृत्त हो चुके हों ॥ ३७ ॥ इस प्रकार स्वयं की योग्यता अर्जित कर जो वेदान्तश्रवण द्वारा मेरे वास्तविक स्वरूप को जानता है वही सर्वज्ञ है, उससे भिन्न कोई सर्वज्ञ नहीं । हे सुरोत्तमो ! यह मैंने आपको वेदान्त विज्ञान बताया है ॥ ३८ ॥ इसका उपदेश उन्हें ही देना चाहिये जिन द्विजों ने श्रद्धापूर्वक पाशुपतव्रत का आचरण कर लिया है । यह वेद की आज्ञा है कि ऐसे अधिकारियों को ही इसका उपदेश दिया जाये ॥ ३९ ॥

सूत जी ने कहा—इतना कहकर भगवान् रुद्र वहीं अन्तर्धान हो गये । हे मुनियो ! तब असूया-रहित देवताओं ने महादेव के वैशिष्ट्य को ॥ ४० ॥ जानकर उन्हें ही जगत् का कारण स्वीकार किया । अतः हे श्रेष्ठो ! आप लोग भी उसी सर्वज्ञ परमेश्वर को ॥ ४१ ॥ जगत् का कारण जानकर उन्हीं सर्वहेतु का भजन कीजिये । संसारकारण, चन्द्रकलाधर सर्वशासक वे सोम भी ॥ ४२॥ आपके अज्ञान को हटाने के प्रति उन्मुख हो ब्रह्मा विष्णु आदि समेत आपकी संनिधि में उपस्थित होंगे (व उनके साक्षात्कार से आप कैवल्य पायेंगे) ॥ ४३ ॥

नैमिषारण्यवासी मुनियों ने यों महादेव के और पाशुपतव्रत के माहात्म्य को सुनकर ॥ ४४ ॥ प्रसन्नचित्त वाले हो समस्त पुरुषार्थों के उपायों के ज्ञान के सागर रूप सूतजी को प्रणाम कर शिवानुभवप्राप्ति के लिये भक्तिपूर्वक उनकी पूजा की ॥ ४५ ॥

---

१. ख. ग. योऽभिजा° । २. क. ख. ङ. मूखर° । ३. क. ख. छ. श्रुतिः ।

तृतीयोध्यायः

नैमिषीया ऊचुः

भगवन्कः सुरैः सर्वैरसुरैः सिद्धकिंनरैः । मुनिभिर्यक्षगन्धर्वैस्तथाऽन्यैः सर्वजन्तुभिः ॥ १ ॥

भुक्त्यर्थं च विमुक्त्यर्थं पूज्यः पुण्यवतां वर । तमस्माकं महाभाग ब्रूहि सर्वार्थ[1] वित्तम ॥ २ ॥

सूत उवाच

साधु साधु महाप्राज्ञाः पृष्टमेतज्जगद्धितम् । वक्ष्ये तं श्रद्धयोपेताः शृणुध्वं मुनिपुङ्गवाः ॥ ३ ॥

पुरा विष्णुर्जगन्नाथः पुराणः पुरुषोत्तमः । मायया मोहितः साक्षाच्छिवस्य परमात्मनः ॥ ४ ॥

अहमेव जगत्कर्ता मय्येवेदं जगत्स्थितम् । मत्समश्चाधिकश्चापि नास्ति सर्वत्र सर्वदा ॥ ५ ॥

मम शक्तिविलासोऽयं जगत्सर्वं चराचरम् । अहमेव समाराध्यः सर्वदा सर्वजन्तुभिः ॥ ६ ॥

विरक्ताः शिवसेवया तत्त्वज्ञानेन मुच्यन्ताम् । ये तु न केवलं मोक्षं भोगानप्यपेक्षन्ते तैः को देवः सेव्य इति मुनयः सूतं पृच्छन्ति–**भगवन्कः सुरैरिति** ॥ १ ॥

भुक्त्यर्थमिति । प्रथमतो भुक्त्यर्थं क्रमेण मुक्त्यर्थं च । अथवा सर्वेषां मध्ये कैश्चिद्भुक्त्यर्थमपरैर्मुक्त्यर्थमिति विभागेन सर्वैरुभयार्थमित्यर्थः । क्रममुक्तिरपि हि श्रूयते–'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इति ॥ २ ॥

स्वयमुपरतचित्तैः केवलं मोक्षापेक्षैरपि भवद्भिः करुणया भोगार्थिभ्यो हितमेतत्पृष्टमित्याह–**जगद्धितमिति** ॥ ३ ॥

पुरुषोत्तम इति । पुरुषेषूत्तम इति पुरुषोत्तमः । 'यतश्च निर्धारणम्' इति विहितया निर्धारणसप्तम्या समासः । पुरुषश्चासावुत्तमश्चेति सामानाधिकरण्ये हि 'सन्महत्परमोत्तम' इति प्रथमानिर्देशात्पूर्वनिपात उत्तमपुरुष इति स्यात् । पुरुषाणामुत्तम इति निर्धारणषष्ठ्यां तु 'न निर्धारणे' इति समासनिषेधः । अतो यथोक्त एव विग्रहः । विष्णोरप्येतादृशी दशा कैवान्यस्य कथेति विवक्षया विष्णूदाहरणम् ॥ ४ ॥ मोहमूलवचनमाह–**अहमेव जगत्कर्तेति**[2] ॥ ५॥ ६ ॥

ईश्वर-प्रतिपादन नामक तीसरा अध्याय

नैमिषारण्य के मुनियों ने सूत जी से प्रश्न किया–हे भगवन् ! सब देवता, दानव, सिद्ध, किन्नर, मुनि, यक्ष, गन्धर्व तथा अन्य सब जन्तुओं द्वारा ॥ १ ॥ भोग व मोक्ष की प्राप्ति के लिये कौन देव पूजनीय है ? हे पुण्यात्माओं में श्रेष्ठ ! हे सर्वज्ञ महोदय ! उस देव का हमें उपदेश दीजिये ॥ २ ॥

सूत जी बोले–हे विशाल दृष्टि वाले मुनियो ! जगत् के सब लोगों के हित की बात आपने बहुत अच्छी पूछी है ! हे श्रेष्ठ मुनियो ! मैं इस विषय में बताऊँगा, आप लोग श्रद्धायुक्त होकर सुनिये ॥३ ॥

पूर्व काल में सब पुरुषों में उत्तम, जगत्पालक, पुरातन विष्णु स्वयं शिव की माया से मोहित हो गये थे ॥ ४ ॥ अहंकार के वशीभूत होकर अपने आत्मरूप अम्बिकानाथ निरतिशय आनन्द व ज्ञानात्मक महेश्वर को समझे बिना श्रीहरि ने ब्रह्मा आदि सब देवताओं के संमुख अत्यधिक औद्धत्य से घोषणा की–'मैं ही जगत् का रचयिता हूँ, मुझमें ही संसार स्थित है । किसी

---

१. घ. °र्थसत्तम । २. ख. °ति त्रयाणां संवन्धः ।

इत्यहंमानसंछन्नः स्वात्मभूतं महेश्वरम् । अविज्ञायाम्बिकानाथमनन्तानन्दचिद्घनम् ॥ ७ ॥

अतीवाऽऽज्ञापयामास ब्रह्मादीनखिलान्हरिः । अथ देवो महादेवः सर्वात्मा सर्वभासकः ॥ ८॥

तस्य शक्तिं समाहृत्य मोहयामास शंकरः । ततस्तत्प्रमुखाः सर्वे ब्रह्माद्याः पशवो भृशम् ॥ ९ ॥

मोहिता मायया शंभोर्विवशाश्च विशेषतः । एतस्मिन्नन्तरे श्रीमान्नन्दी शंकरवल्लभः ॥ १० ॥

सर्वविज्ञानरत्नानामाकरः करुणालयः । समागत्य हरिब्रह्मप्रमुखानमराधिपान् ॥ ११ ॥

बोधयामास सर्वज्ञः परं भावं शिवस्य तु ।

नन्दिकेश्वर उवाच— *विष्णो विश्वजगन्नाथः शंकरः परमेश्वरः ॥ १२ ॥*

सर्वसाक्षी महानन्दः सर्वात्मत्वेन संस्थितः । स एव सर्वजन्तूनामात्मा सर्वावभासकः ॥ १३ ॥

नन्वहमेव जगत्कर्तेति जीवेश्वरतादात्म्यप्रतिपादकमिदं महावाक्यं तदनुसंदधानेऽस्य विष्णोः कथं व्यामोह इत्यत आह— **इत्यहंमानसंछन्न** इति । वाच्यार्थ[1]परित्यागेन लक्ष्यस्य चिदानन्दघनस्यानुसंधाने न व्यामोहः । अहंकारविशिष्टं त्वात्मानं मन्यमानस्य तस्यासदेव सार्वज्ञ्यं ब्रुवतः कथं न व्यामोह इत्यर्थः ॥ ७ ॥ ८ ॥

अविमर्शदशायां व्यामुह्यतोऽपि विष्णोर्विमर्शकाले विवेकः स्यात्तमपि शिवः संजहार ब्रह्मादिसकललोकव्यामोहजनना[2]-पराधनिमित्तेनेत्याह—**तस्य शक्तिमिति** ॥ ९ ॥

नन्दी देवानप्यनुग्रहीतुं समर्थ इत्याह—**सर्वविज्ञानेति** । न केवलमनुग्रहसमर्थः, अनुग्रहशीलोऽपीत्याह—**करुणालय** इति । उभयत्र कारणमाह—**शंकरवल्लभ** इति ॥ १० ॥ ११ ॥

परं भावमि[3]ति । भावः सत्ता । शिवस्य यः परो भावो निष्कलं रूपं तद्धि स्वरूपं पारमार्थिकत्वात्सदित्युच्यते । तदेव स्वात्मनि परिकल्पितेषु समस्तवस्तुषु सत्सदित्यनुगमात्सत्तेत्युच्यते । जलतरङ्गचन्द्रप्रतिबिम्बेष्वनुगतं चन्द्ररूपं [4]यथा तद्वत् । सा चानुगम्यमानवस्तूपहिताऽपरो भावः । उपाध्यपगमे त्वनुगतं सन्मात्रं सत्परो भावः । सकलं वा विश्वाधिकं सोऽपि स्वेतरसमस्तवस्त्व-तिशायित्वात्परो भावः । 'विश्वाधिको रुद्रो महर्षिरि'ति हि श्रुतिः । तस्य विश्वाधिकत्वे विश्वस्य स्वत्वं तस्य च स्वामित्वमिति स्वस्वामिभावलक्षणं कारणमाह—**विश्वजगन्नाथ** इति । भोगापवर्गप्रदानलक्षणं **शंकर** इति । नियमनसामर्थ्यं **परमेश्वर** इति । सर्वज्ञत्वं

भी देश या काल में मेरे तुल्य या मुझसे श्रेष्ठ कोई नहीं है । यह सारा जड-चेतन संसार मेरी सामर्थ्य का विस्तार है । सब जन्तुओं द्वार हमेशा मेरी ही आराधना की जानी चाहिये ।' (क्योंकि अपने व्यष्टि अभिमानरूप अहंकार का परित्याग कर यह नहीं कहा गया था इसीलिये यह गलत ज्ञान व गलत वचन थे । यदि शुद्ध त्वमर्थ का ब्रह्म से अत्यन्त अभेद समझकर कहा होता तो यही वचन सही ठहरते । जैसे कुन्ती आदि से अपने जन्म का वृत्तान्त पता लगने से पूर्व कर्ण यदि स्वयं को क्षत्रिय कहता तो वह खुद ही अपने को असत्यवक्ता समझता और अपनी उत्पत्ति का रहस्य जानकर अपने को क्षत्रिय कहते हुए उसे असत्यवदन की ग्लानि का प्रश्न ही नहीं, वैसे प्रकृत में समझना चाहिये ।) विष्णु का यह कथन ज्ञात होने पर सर्वस्वरूप, सर्वसाक्षी, स्वयम्प्रकाश महादेव ॥ ५–८ ॥ शंकर ने उनकी विमर्शकालीन विवेकशक्ति को भी हर कर उन्हें सर्वथा व्यामुग्ध कर दिया । इससे विष्णु, ब्रह्मा आदि सभी पशु—जीव होने से देवता भी पशु ही हैं—अत्यधिक ॥ ९ ॥ व्यामोह को प्राप्त हुए और शंभु की माया के सर्वथा परवश हो गये, पूज्यादिविषयक सही निर्णय कर पाने में असमर्थ हो गये । इसी समय शंकर-प्रिय, ॥ १० ॥ सब विद्यारत्नों की खान, करुणानिधि श्रीमान् नन्दी ने आकर हरि, ब्रह्मा आदि देवताओं को ॥ ११ ॥

---

१. ङ. °र्थस्य परि° । २. ग. °नाय बाध° । ३. ख. °मित्यव भा° । ४. क. ख. ग. यथा चन्द्रत्वमित्युच्यते ।

अस्य प्रसादलेशस्य लवलेशलवेन तु । इदं विष्णुपदं लब्धं त्वया नान्येन हेतुना ॥ १४ ॥

अन्येषामपि सर्वेषां पदमस्य प्रसादतः । अनेनेदं जगत्सर्वं विना न भवति स्वयम् ॥ १५ ॥

अयं धाता विधाता च सर्वदा सर्ववस्तुनाम् । यथा वैश्वानरेणेद्धमयो दहति भाति च ॥ १६ ॥

तथाऽनेन भवत्येतज्जगत्सर्वं विभाति च । अस्याऽऽनन्दस्य भूतानि लेशमन्यानि सर्वदा ॥ १७ ॥

लब्ध्वा संतोषमापन्नान्यतीव ब्रह्मवित्तमाः । अस्यैवाऽऽज्ञालवाकृष्टं जगन्नित्यं प्रवर्तते ॥ १८ ॥

अविज्ञायैनमात्मानं भवानत्यन्तमोहितः । अहंकाराभिभूतश्च भवता मोहितं जगत् ॥ १९ ॥

अतस्त्वं भ्रान्तिमुत्सृज्य स्वात्मभूतं महेश्वरम् । आराधयाऽऽदरेणैव सह देवैरुमापतिम् ॥ २० ॥

सूत उवाच

इत्युक्त्वा मुनयः श्रीमान्नन्दी शंकरवल्लभः । अगमद्रथमारुह्य श्रीमत्कैलासपर्वतम् ॥ २१ ॥

सर्वसाक्षीति । नित्यतृप्ततामाह–**महानन्द** इति । स्वात्मन्यध्यस्तस्य सर्वस्य सत्तास्फूर्तिप्रदत्वं **सर्वात्मत्वेनेति** । न केवलं भोग्यवर्गस्य अपि तु भोक्तृवर्गस्यापि स एवाऽऽत्मेत्याह–**स एव सर्वजन्तूनामात्मेति** । नच तदात्मकस्य तन्नियन्तृत्वाद्यसंभवः । वास्तवं हि तादात्म्यम् । लीलाकल्पितविभागनिबन्धनं तु नियन्तृत्वादिति[1] । अत एव हि श्रूयते–'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां [2]सदात्मे' ति । आत्मत्वे सत्ताप्रदत्वं कारणमाह–**सर्वावभासक** इति । स्वसत्तयैव लब्धसत्ताकं करोतीत्यर्थः ॥ १२ ॥ १३ ॥

विश्वाधिकत्वं वक्तुं शिवस्योत्कर्षमुक्त्वा तदन्यस्यापकर्षमाह–**अस्य प्रसादेति** ॥ १४ ॥ १५ ॥

धाता पोषकः । **विधाता** निर्माता । अतस्तेन पोष्यत्वं निर्मायमाणत्वं च तदन्यस्य ततोऽपकर्षे हेतुरित्यर्थः । **वस्तुनामिति** 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' इत्यदीर्घत्वम् । अन्येषामपि स्वोपजीविनः प्रति यत्पोषकत्वादि तच्छिवप्रसादलब्धत्वाच्छिवस्यैवेत्यत्र निदर्शनमाह–**यथा वैश्वानरेणेति** । अयसो यद्दग्धृत्वं भानं च तद्यथा वह्नेरेव तथेत्यर्थः । उत्तरत्र चायं दृष्टान्तः । अयसो यथा दाहप्रकाशौ वह्नेरेवैवं विषयानन्दाः सर्वेऽपि शिवस्यैव स्वरूपभूता इति ॥ १६ ॥

अस्याऽऽनन्दस्येति । 'एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इति श्रुतेः ॥ १७ ॥

अस्यैवाऽऽज्ञेति । 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठतः' इत्यादिश्रुतेः ॥ १८ ॥

अहंकाराभिभवो विष्णोः प्राक्सूतेनोक्तः । अधुना तु नन्दिनेति न पौनरुक्त्यम् ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥

शिव का पारमार्थिक स्वरूप समझाया ।

नन्दिकेश्वर ने कहा–हे विष्णु ! शिव ही सारे जगत् के स्वामी हैं, भोग व मोक्ष देने वाले हैं तथा संसार का नियमन करते हैं । सबके साक्षी होने से वे ही सर्वज्ञ हैं, सदा तृप्त रहते हैं एवं सबके अधिष्ठानरूप से विद्यमान हैं । सभी जीवों के प्रत्यगात्मा वे ही हैं । वे ही सबको प्रकाशित अर्थात् ज्ञानसे संबद्ध करते हैं ॥ १२–१३ ॥ इनकी कृपा के छोटे से अंश के प्रभाव से आपको यह विष्णुपद मिला है, और किसी कारण से नहीं ॥ १४ ॥ अन्य भी सब देवताओं को इन्हीं की कृपा से स्वकीय पद प्राप्त हुए हैं । इनके बिना यह जगत् स्वयं अपनी किसी सत्ता वाला नहीं है, शिवरूप सत्ता से ही यह सत्तान्वित है ॥ १५ ॥ ये ही हमेशा हर चीज़ के निर्माता और पोषक हैं । जैसे आग से तपा लोहा जलाता व चमकता है, (स्वयं अपने किसी तेज के कारण नहीं,) ॥ १६ ॥ वैसे शिव के कारण यह जगत् विद्यमान और प्रकाशित होता है । अन्य प्राणी इसके आनन्द के छोटे से हिस्से को पाकर ही अत्यन्त सन्तुष्ट होते हैं । हे ब्रह्मोपासक मुनियो ! (–यह सूत जी के द्वारा कहा गया सम्बोधन है ।) इन महादेव की आज्ञा से नियंत्रित हो यह जगत् सदा चलता है ॥ १७–१८ ॥ इस शिवरूप आत्मतत्त्व को न समझकर आप (विष्णु) अत्यन्त मोह में पड़ गये और अहंकार के वश में होकर आपने बाकी देवों को भी विवेकभ्रष्ट कर दिया ॥ १९ ॥ अतः आप भ्रम का परित्याग कर अपने आत्मरूप उमापति महेश्वर की सब देवताओं सहित आदर पूर्वक आराधना कीजिये ॥ २० ॥

सूत जी बोले–हे मुनियो ! इतना कहकर शिवप्रिय श्रीनन्दी रथपर चढ़कर कैलास पर्वत को चले गये ॥ २१ ॥

---

१. लीलादिनिबन्धनं यथा स्यात्तथा नियन्तृत्वं तस्मान्नासंभवइत्यर्थः । नियन्तृत्वादीति–इति बाल. पाठे लीलादिनिबन्धनं नियन्तृत्वादि इति हेतो र्नासंभव इति स्पष्टं वाक्यम् । २. ग. सर्वात्मेति ।

ततो विश्वाधिकं रुद्रं महर्षिं सर्वसाक्षिणम् । ब्रह्मविष्ण्वादयो देवाः पूजयामासुरादरात् ॥ २२ ॥

तथा लक्ष्म्यादयो देव्यस्तथाऽन्ये सर्वजन्तवः । पूजयामासुरीशानं पुरुषं कृष्णपिङ्गलम् ॥ २३ ॥

अथैषां पुरतः श्रीमानम्बिकापतिरीश्वरः । आविर्बभूव सर्वज्ञः शंकरो वृषवाहनः ॥ २४ ॥

दृष्ट्वा तं ब्रह्मविन्मुख्याः पशूनां पतिमीश्वरम् । ब्रह्मविष्ण्वादयः सर्वे प्रणम्य भुवि दण्डवत् ॥ २५ ॥

शिरस्यञ्जलिमाधाय प्रसन्नेन्द्रियमानसाः । अस्तुवन्मुक्तिदं भक्त्या भुक्तिदं भवभेषजम् ॥ २६ ॥

देवा ऊचुः—

नमस्ते देवदेवेश नमस्ते करुणालय । नमस्ते सर्वजन्तूनां भुक्तिमुक्तिफलप्रद ॥ २७ ॥

नमस्ते सर्वलोकानां सृष्टिस्थित्यन्तकारण । नमस्ते भवभीतानां भवभीतिविमर्दन ॥ २८ ॥

नमस्ते वेदवेदान्तैरर्चनीय द्विजोत्तमैः । नमस्ते शूलहस्ताय नमस्ते वह्नि[1]पाणये ॥ २९ ॥

नमस्ते विश्वनाथाय नमस्ते विश्वयोनये । नमस्ते नीलकण्ठाय नमस्ते कृत्तिवाससे ॥ ३० ॥

नमस्ते सोमरूपाय नमस्ते सूर्यरूपिणे । नमस्ते वह्निरूपाय नमस्ते [2]जलरूपिणे ॥ ३१ ॥

नमस्ते भूमिरूपाय नमस्ते वायुमूर्तये । नमस्ते व्योमरूपाय नमस्ते ह्यात्मरूपिणे ॥ ३२ ॥

महर्षिमिति । दर्शनादृषिः । 'ऋषिर्दर्शनादि'ति यास्कः । तस्य महत्त्वं सर्वज्ञत्वात् ॥ २२ ॥

[3]**पुरुषमिति** । अन्तर्यामित्वेन सर्वेषां हृदयेऽवस्थानात्पूर्षु शरीरेषु शेत इति पुरुषः । श्रूयते हि 'स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः' इति । **कृष्णपिङ्गलमिति** । कण्ठे कृष्णः । ललाटे पिङ्गलः 'पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्' इति हि श्रुतिः ॥ २३-२८ ॥

वेदवेदान्तैरिति । वेदान्तैः पारमार्थिकेन रूपेण ज्ञापनमर्चनं; वेदैः स्तुत्यत्वेन चेष्टव्यत्वेन वाऽभिधानम् ॥ २९ ॥ ३० ॥

नमस्ते सोमरूपायेत्यादिनाऽष्टमूर्तित्वकथनम् । **आत्मरूपिण इति** । आत्मा यजमानः ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

तब ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओं ने श्रद्धापूर्वक सर्वोत्कृष्ट, सर्वज्ञ, सर्वसाक्षी रुद्र की पूजा की ॥ २२ ॥ इसी प्रकार लक्ष्मी आदि देवियों ने तथा अन्य सब लोगों ने नीले कण्ठ और पिंगल ललाट वाले ईशानसंज्ञक पुरुष की पूजा की ॥ २३ ॥ तदनन्तर इन देवादि के सामने अम्बिकापति, सर्वनियन्ता, सर्वज्ञ, वृषभवाहन श्रीमान् शङ्कर प्रकट हुए ॥ २४ ॥ ब्रह्मोपासकों में मुख्य ब्रह्मा विष्णु आदि सबने उन्हें देख पृथिवी पर दण्डवत् प्रणाम किया ॥ २५ ॥ और सिर पर अंजलि बाँधकर, प्रशान्त इंद्रिय व मन वाले होकर, सर्वभोगप्रदाता, भव रोग की दवारूप तथा मोक्ष देने वाले शंकर की स्तुति की ॥ २६ ॥

देवताओं ने कहा—हे देव तथा देव-शासक ! आपको नमस्कार है । हे करुणासागर ! आपको प्रणाम है । सब प्राणियों को भोग व मोक्ष रूप फल देने वाले आपको नमस्कार है ॥ २७ ॥ समस्त लोकों की सृष्टि, स्थिति व विलय के कारणभूत आपको नमस्कार है । संसार से डरे लोगों के संसारभय के निवर्तक आपको नमस्कार है ॥ २८ ॥ वेदों द्वारा स्तोतव्य, वेदांतों द्वारा प्रतिपाद्य व उत्तम ब्राह्मणों द्वारा पूज्य आपको प्रणाम है । हाथ में शूल व वह्नि धारण करने वाले आपको प्रणाम है ॥ २९ ॥ जगद्रक्षक व जगत्स्रष्टा आपको नमस्कार है । नीले कण्ठ वाले एवं चर्मपरिधान वाले आपको नमस्कार है ॥ ३० ॥ चन्द्ररूप, सूर्यरूप, वह्निरूप, जलरूप, पृथ्वीरूप, वायुरूप, व्योमरूप तथा यजमानरूप आपको पुनः पुनः नमस्कार है ॥ ३१—३२ ॥

---

१. ग. °ह्निरूपिणे । २. क. ख. ग. जलमूर्तये । ३. ख. तथेति ।

नमस्ते सत्यरूपाय नमस्तेऽसत्यरूपिणे । नमस्ते बोधरूपाय नमस्तेऽबोधरूपिणे ॥ ३३ ॥

नमस्ते सुखरूपाय नमस्तेऽसुखरूपिणे । नमस्ते पूर्णरूपाय नमस्तेऽपूर्णरूपिणे ॥ ३४ ॥

नमस्ते ब्रह्मरूपाय नमस्तेऽब्रह्मरूपिणे । नमस्ते जीवरूपाय नमस्तेऽजीवरूपिणे ॥ ३५ ॥

नमस्ते व्यक्तरूपाय नमस्तेऽव्यक्तरूपिणे । नमस्ते शब्दरूपाय नमस्तेऽशब्दरूपिणे ॥ ३६ ॥

नमस्ते स्पर्शरूपाय नमस्तेऽस्पर्शरूपिणे । नमस्ते रूपरूपाय नमस्तेऽरूपरूपिणे ॥ ३७ ॥

नमस्ते रसरूपाय नमस्तेऽरसरूपिणे । नमस्ते गन्धरूपाय नमस्तेऽगन्धरूपिणे ॥ ३८ ॥

नमस्ते देहरूपाय नमस्तेऽदेहरूपिणे । नमस्ते प्राणरूपाय नमस्तेऽप्राणरूपिणे ॥ ३९ ॥

नमस्ते श्रोत्ररूपाय नमस्तेऽश्रोत्ररूपिणे । नमस्ते त्वक्स्वरूपाय नमस्तेऽत्वक्स्वरूपिणे ॥ ४० ॥

नमस्ते दृष्टिरूपाय नमस्तेऽदृष्टिरूपिणे । नमस्ते रसनारूप नमस्तेऽरसनात्मने ॥ ४१ ॥

नमस्ते सत्यरूपायेत्यादिभावाभावप्रपञ्चस्य समस्तस्य शिवे परिकल्पितत्वाच्छिव एव तस्य पारमार्थिकं रूपं रजतादेरिव शुक्त्यादीत्यर्थः । **असत्यरूपिण** इत्याद्यकारप्रश्लेषो द्वितीयपादेषु सर्वत्र । **सुखरूपाय** परमानन्दरूपाय । **पूर्णरूपाया**नन्ताय ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ **जीवरूपाया**ऽऽत्मरूपाय ॥ ३५ ॥

सत्यज्ञानानन्दात्मानन्तशब्दा अनृतजडदुःखानात्मत्वान्तवत्त्वव्युदासद्वारा ब्रह्म लक्षयन्तीति ह्युक्तं व्यासेन 'आनन्दादयः प्रधानस्य' इत्यत्र । तत्र देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदनिरासवाचिनाऽनन्तशब्देन वस्तुकृतस्यापि परिच्छेदस्य निरासाद्भावाभावावपि

सत्य तथा असत्यरूप आपको नमस्कार है । ज्ञानरूप व अज्ञानरूप आपको नमस्कार है । परमानन्दरूप एवं दुःखरूप आपके लिये प्रणाम है । अनन्त व सीमित आपको प्रणाम है । (शिव सर्वरूप है अतः असत्यादि भी शिव ही है, उनसे भिन्न हो असत्यादि भी क्यों विद्यमान हो पायेंगे ? अतः सर्वरूप शिव को प्रणाम करने के अवसर पर असत्यादि रूपों के लिये प्रणत होना उचित है । क्योंकि समस्त विशेष कल्पित हैं अतः असत्यादि से शिव में अणुमात्र के अपकर्ष की शंका को अवकाश नहीं । अत एव केवल अहेय गुणों को ही परमेश्वर में स्वीकारना जैसा अर्धजरतीय प्रयास अशोभनीय है । उपासना के लिये तत्क्रतुन्याय की प्रवृत्ति होने से श्रेष्ठ गुणों का ही अनुसन्धान हो यह तो इष्ट ही है । किन्तु एतावता हेयगुण शिव में कल्पित नहीं यह कहना शिवेतर को स्वीकारना होगा और वह श्रौतों के लिये असंभव है) ॥ ३३–३४ ॥ ब्रह्मरूप तथा अब्रह्मरूप आपको प्रणाम है । प्रत्यगात्मरूप व परागात्मरूप आपको प्रणाम है ॥ ३५ ॥ व्यक्तरूप तथा अव्यक्तरूप आपको प्रणाम है । (प्रत्यक्षविषय को व्यक्त और तद्भिन्न को अव्यक्त समझना चाहिये) । शब्दरूप व अशब्दरूप आपको नमस्कार है ॥ ३६॥ स्पर्शरूप एवं अस्पर्शरूप आपको नमस्कार है । रूपात्मक एवं अरूपात्मक आपको नमस्कार है ॥ ३७ ॥ रसरूप व रसरहितरूप आपको नमस्कार है । गन्धरूप व निर्गन्धरूप आपको नमस्कार है (पाँचों इन्द्रियाँ जिसे ग्रहण कर सकें व जिसे न ग्रहण कर सकें वह सब शिवरूप होने से तत्तद्विशेषों वाले भगवान् नमनीय हैं) ॥ ३८ ॥ शरीररूप व शरीररहितरूप आपको नमस्कार है । (प्रारब्धादि भोग व कर्म करने के लिये जिस भौतिक पिण्ड में स्थित हो पुर्यष्टक कार्यकारी होता है उस पिण्ड को शरीर कहते हैं । इनसे भिन्न मूर्तपिण्ड शरीररहितरूप हैं ।) प्राणरूप तथा अप्राणरूप आपको नमस्कार है । (शरीर को जीवित रखना आदि करते हुए शरीर में स्थित वायु का विकारविशेष–जो पुर्यष्टक में गणित है–प्राण है ।) ॥ ३९ ॥ कानरूप व कान से भिन्न रूप आपको नमस्कार है । यहाँ कान आदि शब्द इन्द्रियपरक हैं, गोलकपरक नहीं । शरीर में दीखने वाले कान आदि गोलक हैं । इन्द्रियाँ सूक्ष्मशरीर के अंग हैं । बाह्य कान यथावत् रहते हुए ही जिसके प्रतिबद्ध हो जाने से हम सुन नहीं पाते वह वस्तु–या सामर्थ्य–कान-इन्द्रिय है । 'बाह्य कान' से उस पूरे अंग को समझ लेना चाहिये जो स्थूल भूतों से बना है–इंद्रियग्राह्य है ।) त्वगिन्द्रियरूप तथा त्वगिन्द्रिय से भिन्न रूप वाले आपको नमस्कार है । (छूने की इंद्रिय त्वक् कहलाती है ।) ॥ ४० ॥ दृष्टिरूप एवं अदृष्टिरूप आपको नमस्कार है । (दृष्टि अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय ।) रसनारूप और रसना से अतिरिक्त रूप वाले आपको नमस्कार है । (चखने की इंद्रिय रसना है ।) ॥ ४१॥ घ्राणरूप व घ्राणेतररूप आपको प्रणाम है । (सूँघने की इंद्रिय घ्राण कही जाती है । इस प्रकार इन्द्रियों के विषयों

नमस्ते घ्राणरूपाय नमस्तेऽघ्राणरूपिणे । नमस्ते पादरूपाय नमस्तेऽपादरूपिणे ॥ ४२ ॥

नमस्ते पाणिरूपाय नमस्तेऽपाणिरूपिणे । नमस्ते वाक्स्वरूपाय नमस्तेऽवाक्स्वरूपिणे ॥ ४३ ॥

नमस्ते लिङ्गरूपाय नमस्तेऽलिङ्गरूपिणे । नमस्ते पायुरूपाय नमस्तेऽपायुरूपिणे ॥ ४४ ॥

नमस्ते चित्तरूपाय नमस्तेऽचित्तरूपिणे । नमस्ते मातृरूपाय नमस्तेऽमातृरूपिणे ॥ ४५ ॥

नमस्ते मानरूपाय नमस्तेऽमानरूपिणे । नमस्ते मेयरूपाय नमस्तेऽमेयरूपिणे ॥ ४६ ॥

नमस्ते मितिरूपाय नमस्तेऽमितिरूपिणे । नमस्ते सर्वरूपाय नमस्तेऽसर्वरूपिणे ॥ ४७ ॥

रक्ष रक्ष महादेव क्षमस्व करुणालय । भक्तचित्तसमासीन ब्रह्मविष्णुशिवात्मक ॥ ४८ ॥

सूत उवाच–

इति ब्रह्मादयः स्तुत्वा प्रणम्य भुवि दण्डवत् । भक्तिपारं गता देवा बभूवुः परमेश्वरे ॥ ४९ ॥

वस्तुतः परमात्मनो न पृथगित्यभिप्रायेण बहुधा भावाभावरूपताभिधानम् ॥ ३६-४४ ॥

मातृरूपायेत्यादि मितिः प्रमा तस्याः कर्ता माता ॥ ४५ ॥ करणं मानम् । विषयो मेयम् । तद्रूपायेत्यर्थः ॥ ४६-४७ ॥

रक्ष रक्षेति । 'अहमेव जगत्कर्ते'त्यादि यदुक्तं यच्चान्यैस्तथा प्रतिपन्नं तमपराधं **क्षमस्व** तन्निबन्धनादनर्थाच्च रक्ष । यतस्त्वं **करुणालय** इत्यर्थः । 'हृदि ह्ययमात्मा' 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' इति श्रुतिस्मृतिदर्शनात् । सर्वेषां चित्तेषु यद्यप्यस्ति तथाऽपि भक्तचित्तेषु विशेषत इत्याह–**भक्तचित्ते**ति । **ब्रह्मविष्णुशिवात्मके**ति । 'स ब्रह्मा स शिवः स हरिः' इति श्रुतिः ॥ ४८ ॥

भक्तिपारमिति । प्रियातिशयवशाच्चित्तस्य विषयान्तरव्यावृत्तस्य तदेकनिष्ठतां भक्तेः पारम् ॥ ४९ ॥

की तरह इन्द्रियाँ भी शिवरूप हैं और जो इन्द्रियाँ नहीं वह भी शिव ही है । ज्ञानेन्द्रियों के अनन्तर कर्मेन्द्रियों के प्रसंग को उठाते हैं–) पादरूप और पादभिन्नरूप आपको नमस्कार है । (चलने की इन्द्रिय पाद है । दीखने वाले पैर आदि द्वारा काम करने वाली उनसे भिन्न इन्द्रियाँ हैं ।) ॥ ४२ ॥ पाणिरूप और अपाणिरूप आपको नमस्कार है । (पकड़ने की इन्द्रिय पाणि है ।) वाग्रूप तथा वाग्भिन्नरूप आपको प्रणाम है । (बोलने की इन्द्रिय वाक् है ।) ॥ ४३ ॥ उपस्थरूप व उपस्थेतररूप आपको नमस्कार है । (मैथुन करने वाली इन्द्रिय उपस्थ है ।) पायुरूप एवं पायु-भिन्न रूप आपको नमस्कार है । (मल आदि का विसर्ग करने वाली इन्द्रिय पायु है ।) ॥ ४४ ॥ चित्त तथा चित्त-भिन्न रूप आपको नमस्कार है । (संशय, निश्चय, कामना, श्रद्धा, भय आदि करने वाली इन्द्रिय यहाँ चित्त कही गयी है ।) प्रमातारूप व अप्रमातारूप आपको प्रणाम है ॥ ४५ ॥ प्रमाणरूप एवं अप्रमाणरूप आपको प्रणाम है । प्रमेय तथा अप्रमेयरूप आपको नमस्कार है ॥ ४६ ॥ प्रमा और अप्रमारूप आपको नमस्कार है । सर्वरूप एवं असर्वरूप आपको नमस्कार है । (सर्व से समष्टि और असर्व से व्यष्टि समझना चाहिये ।) ॥ ४७ ॥ भक्तों के चित्तों में विशेषतः उपस्थित तथा ब्रह्मा विष्णु व शिव रूपों को ग्रहण करने वाले करुणासागर हे महादेव ! हम लोगों की हर तरह से रक्षा कीजिये ॥ ४८ ॥

सूत जी बोले–ब्रह्मा आदि देव यों स्तुतिकर और भूमि पर दण्डवत् प्रणामकर परमेश्वर में अत्यधिक भक्ति वाले हुए ॥ ४९॥

देवदेवो महादेवः सर्वभूतहिते रतः । अनुगृह्यावशान्देवानम्बिकापतिरीश्वरः ॥ ५० ॥

प्रनृत्य परमं भावं स्वकं सम्यक्प्रदर्शयन् । ब्रह्मविष्ण्वादिभिः साकं श्रीमद्व्याघ्रपुरं गतः ॥ ५१ ॥

तत्र सर्वे सुरा विप्राः श्रद्धया द्रष्टुमिच्छया । अवर्तन्ताखिलेशस्य नर्तनं भुक्तिमुक्तिदम् ॥ ५२ ॥

भवन्तोऽपि महादेवप्रसादाय मुनीश्वराः । पूजयध्वं महाभक्त्या महादेवं घृणानिधिम् ॥ ५३ ॥

इति श्रुत्वा मुनिश्रेष्ठा नैमिषीयास्तपोधनाः । प्रणम्य दण्डवद्भूमौ सूतमात्महितप्रदम् ॥ ५४ ॥

जज्ञिरे देवदेवोऽसौ शंकरस्त्वम्बिकापतिः । पूजनीय इति श्रीमान्सर्वदा सर्वजन्तुभिः ॥ ५५ ॥

तेषां शिष्याः प्रशिष्याश्च तथाऽन्ये सर्वजन्तवः । महादेवः सदा सर्वैः पूज्य इत्येव जज्ञिरे ॥ ५६॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे श्रीसूतसंहितायां शिवमाहात्म्यखण्डे नन्दीश्वरविष्णुसंवादेनेश्वरप्रतिपादनं नाम

तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

[1]अत एव व्यवहारान्तराक्षमत्वमाह—**अवशानिति** । ईदृग्दशोपलम्भेन देवान्मुख्याधिकारिणो ज्ञात्वा परतत्त्वविषयं साक्षात्कारं तेषामन्वग्रहीदित्याह—**अनुगृह्येति** । ईदृशी हि दशा साक्षात्काराधिकारकारणमुक्ता पतञ्जलिना—'विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिरि'ति । भावो देवादिविषया रतिः । यदाहुः—'रतिर्देवादिविषयाऽव्यभिचारि[2]तयाऽर्जिता । भावः प्रोक्तः' इति । स चेह विषयस्य शिवस्य परमानन्दरूपत्वात्तद्विषयः स्वयमपि परमः । तं स्वात्मनि वर्तमानं **परमं भावमभि**नयेन विशदं दर्शयितुं देवैः सह नृत्योचितं स्थानं श्रीमद्व्याघ्रपुरं गत इत्याह—**प्रनृत्य परमं भावमिति** । यथा रत्यादिस्थायिभावकार्यस्य वर्णनेनाभिनयेन वा प्रदर्शने स रत्यादिरभिव्यक्तः सन्शृङ्गारादिरसरूपतामापद्यते । उक्तं हि—'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः' इति । एवं परतत्त्वस्वरूपविषयो भावोऽपि तत्कार्येणाभिनयेन विशदीभूतः प्रकर्षेण दृश्यत इति । **प्रदर्शयन्निति** 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' इति हेतौ शतृप्रत्ययः ॥ ५० ॥ ॥ ५१ ॥

नर्तनं द्रष्टुमिच्छयेति संबन्धः । परापरपुरुषार्थैकसाधनत्वेनेच्छा न पुनरौत्सुक्यमात्रेणेत्याह—[3]**श्रद्धयेति** । **भुक्तिमुक्तिदमिति** । भोगमोक्षसाधनोपदेशाय ह्ययमध्याय आदावेवावतारितः ॥ ५२ ॥

भवन्तोऽपीति । **पूजयध्वमिति** मध्यमपुरुषाक्षिप्तस्य युष्मच्छब्दस्यापिना संबन्धः । **भवन्त** इति शत्रन्तम् । यूयमपि देववद्भक्तिपरवशाः सन्तः पूजयध्वमित्यर्थः । **पूज्य इत्येव जज्ञिर** इति फलाभिसंबन्धविरह **एवकारार्थः** । तादृशी हि पूजा सात्त्विकी । उक्तं हि गीतासु—'अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते । यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः' इति । जज्ञिर इति 'अनुपसर्गाज्ज्ञः' इत्यात्मनेपदम् ॥ ५३ ॥ ॥ ५४ ॥ ॥ ५५ ॥ ॥ ५६ ॥

इतिश्रीमत्काशीविलासक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवापरायणेनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन माधवाचार्येण विरचितायां श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां शिवमाहात्म्यखण्डे नन्दीश्वरविष्णुसंवादेनेश्वरप्रतिपादनं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

सब प्राणियों के हित में लगे रहने वाले अम्बिकापति देवाधिदेव महादेव मोहपरवश हुए देवताओं पर कृपा कर, ॥ ५० ॥ नाचकर उन्हें अपनी परम महत्ता का भली प्रकार से दर्शन कराने के लिये ब्रह्मा विष्णु आदि को साथ ले श्रीमद्व्याघ्रपुर को गये ॥ ५१ ॥ हे विप्रो ! सब देव समस्त संसार के शासक का भोग व मोक्ष देने वाला नृत्य श्रद्धापूर्वक देखने के लिये वहाँ (व्याघ्रपुर में) रहे ॥५२ ॥ हे मुनीश्वरो ! भक्तियुक्त हुए आप लोग भी महादेव की कृपा पाने के लिये परम भक्ति पूर्वक करुणाकर महादेव की पूजा कीजिये ॥ ५३ ॥ नैमिषारण्यवासी, तप को ही धन मानने वाले मुनिश्रेष्ठों ने यह सुनकर तथा अपने को हितबोध प्रदान करने वाले सूतजी को भूमि पर लेटकर दण्डवत् प्रणाम कर ॥ ५४ ॥ यह निश्चय किया कि अम्बिकापति देवाधिदेव वे श्रीमहादेव ही सदा सबके द्वारा पूजनीय हैं ॥ ५५ ॥ उनके शिष्यों, प्रशिष्यों व अन्य सब जन्तुओं ने भी यह निर्णय किया कि सदा सबके द्वारा महादेव ही पूज्य हैं ॥ ५६ ॥

---

१. ख. देवदेव इति । भक्त्याऽधीनानां देवानां व्यव° । २. क. °तयाऽजितः । ३. ख. तत्रेति ।

चतुर्थोऽध्यायः

नैमिषीया ऊचुः –

भगवन्देवदेवस्य नीलकण्ठस्य शूलिनः । ब्रूहि पूजाविधिं विद्वन्कृपया भुक्तिमुक्तिदम् ॥ १ ॥

सूत उवाच–

वक्ष्ये पूजाविधिं विप्राः शृणुध्वं भुक्तिमुक्तिदम् । श्रुतिस्मृत्युदितं कर्म कृत्वा श्रद्धापुरःसरम् ॥ २ ॥

स्नात्वा शुद्धे समे देशे गोमयेनोपलेपिते । समासीनः सदा मौनी निश्चलोदङ्मुखः सुखी ॥ ३ ॥

विचित्रमासनं तत्र निधाय ब्रह्मवित्तमाः । आगस्त्येनैव शास्त्रेण प्रोक्तलक्षणलक्षितम् ॥ ४ ॥

पूज्य[1]स्वरूपापरिज्ञाने पूजाया मन्दफलत्वादध्यायद्वयेन मुनयस्तत्स्वरूपं ज्ञात्वा पूजां जिज्ञासन्ते–**भगवन्देवदेवस्येति** ॥ १ ॥

कृतनित्यनैमित्तिकस्यैव पूजाधिकार इत्याह–**श्रुतिस्मृतीति** । **श्रद्धेति** उक्तं गीतासु–'अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् । असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह' इति ॥ २ ॥

स्नात्वेति । स्मार्तकर्माङ्गत्वेन वारुणं स्नानं कृतवताऽपि शिवपूजाङ्गत्वेन भस्मस्नानमपि कार्यमित्यर्थः । अथ वा 'ष्णा शौचे' इत्यतः स्नात्वेति पदं निष्पन्नम् । अतः पञ्चसु शुद्धीर्विधायेत्यर्थः । आह सोमशंभुः–'इत्थमात्माश्रयद्रव्यमन्त्रलिङ्गविशुद्धिषु । कृतासु देवदेवस्य पूजनं नान्यथा भवेत् ॥' इति **सदेति** यावत्पूजाकालमित्यर्थः । निश्चलश्चासावुदङ्मुखश्च । उदङ्मुखत्वं चोक्तं सोमशंभुना–'देवदक्षिणदिग्भागे संनिविष्टः सुखासने । उत्तरस्थो विनीतात्मा न्यस्तमन्त्रकरद्वयः' इति ॥ उदङ्मुखत्वे कारणमुक्तं ज्ञानरत्नावल्याम्–'न प्राच्यामग्रतः शंभोर्नोत्तरे योषिदाश्रये । न प्रतीच्यां यतः पृष्ठं तस्माद्दक्षं समाश्रयेत्' इति ॥ दक्षं देवस्य दक्षिणभागम् तं चाऽऽश्रित उत्तराभिमुख एव भवति ॥ ३ ॥

विचित्रमिति । स्थिरलिङ्ग आधारशक्त्यादिशिवासनपर्यन्तैर्विविधव्याप्तिभाव[2]नाविषयैश्चित्रमित्यर्थः । चरलिङ्गे तूक्तरूपं स्थिरासनं स्नानार्थं षडुत्थं चलासनं च दत्त्वेत्यर्थः । **आगस्त्येनेति** नानागमोपलक्षणम् । लिङ्गलक्षणमुक्तं श्रीकालोत्तरादिषु–'स्थिरलिङ्गे सदा कार्यं सिद्धिकामैः प्रयत्नतः । भुक्तिमुक्तिप्रदं पुंसां चरलिङ्गे शिवार्चनम् ॥ सर्वत्र संस्थितः पूज्यः सर्वाधारेषु सर्वदा । तथाऽपि लिङ्गे भगवान्पूजां गृह्णाति धूर्जटिः ॥ असंपूर्णा कृता पूजा मन्त्रद्रव्यक्रियागुणैः । तथाऽपि लिङ्गे संपूर्णा पूजा भवति षण्मुख ॥ लीयन्ते यत्र भूतानि निर्गच्छन्ति यतः पुनः । तेन लिङ्गं परं व्योम निष्कलः परमः शिवः ॥ लिङ्ग्यते चिन्त्यते येन भावेन भगवाञ्शिवः । योगिभिस्तत्त्रिधा लिङ्गं व्यक्ताव्यक्तोभयात्मकम् ॥ व्यक्तं तत्सकलं ज्ञेयमव्यक्तं निष्कलं मतम् । ज्ञानज्योतिर्मयं लिङ्गं व्यक्ताव्यक्तमिदं स्मृतम् ॥ स्फाटिकं त्रिविधं ज्ञेयं सूर्यचन्द्रानलात्मकम् । श्वेतं रक्तं च पीतं च कृष्णच्छायं द्विजास्त्रिषु ॥ त्रिपञ्चवारं यस्यैव तुलासाम्यं न जायते । तदा वाणं समाख्यातं शेषं पाषाणसंभवम् ॥ नद्यां वा प्रक्षिपेद्भूयो यदा तदुपलक्ष्यते । वाणलिङ्गं तदा विद्धि' इति ॥ तथा तत्रैव मृन्मयादिलिङ्गानामुत्तरोत्तरोत्कर्षाभिधानप्रस्तावे–'संस्थाप्य बाणलिङ्गं तु रत्नात्कोटिगुणं भवेत । रसलिङ्गं ततो वाणात्फलं कोटिगुणं स्मृतम् ॥ को गुणान्रसलिङ्गस्य वक्तुं शक्नोति शांकरि । सिद्धयो रसलिङ्गे स्युरणिमाद्याः सुसंस्थिताः' इति ॥ ४ ॥

ईश्वर-पूजा-विधान नामक चौथा अध्याय

नैमिषारण्य वासियों ने जिज्ञासा की–हे भगवन् ! हे विद्वान् सूत जी ! कृपाकर त्रिशूलधारी नीलकण्ठ देवाधिदेव महादेव की भोग व मोक्ष देने वाली पूजाविधि बताइये ॥ १ ॥

सूत जी ने कहना प्रारंभ किया–हे वेदज्ञ ब्राह्मणो ! भोग व मोक्ष देने वाली शिव पूजाविधि बताता हूँ, सुनिये । श्रद्धापूर्वक श्रुति-स्मृति में विहित नित्य-नैमित्तिक कर्म कर चुकने के बाद ॥ २ ॥ भस्म-स्नानकर तथा स्वयं को व पूजा-सामग्री आदि को शुद्धकर स्वच्छ, समतल एवं गोबर से लीपे स्थान पर उत्तर की ओर मुँहकर स्थिर रूप से आराम से बैठ जायें । पूजाकाल में बातें न करें ॥ ३ ॥ अपने संमुख आगस्त्य आदि आगमों में बताये लक्षणों वाला, आधारशक्ति आदि उत्तरोत्तर व्यापक विविध वस्तुओं की भावने से संकल्पित आसन रखें ॥ ४ ॥

---

१. ख. °ज्यस्य स्व° । २. ख. °वनया वि° ।

आदाय श्रद्धया विप्राः शिवलिङ्गं समाहितः । तत्रैवाऽऽवाह्य देवेशं प्रणवेन हृदि स्थितम् ॥ ५ ॥

अर्घ्यं दत्त्वा मुनिश्रेष्ठाः पूर्वोक्तेनैव मन्त्रतः । पाद्यमाचमनं चैव पुनः पूर्वोक्तमन्त्रतः ॥ ६ ॥

पुनः स्नाप्य महादेवमापोहिष्ठादिभिस्त्रिभिः । तथा पुरुषसूक्तेन श्रीमत्पञ्चाक्षरेण च ॥ ७ ॥

पुनराचमनं दत्त्वा प्रतिष्ठाप्याऽऽसने हरम् । दत्त्वा वस्त्रं मुनिश्रेष्ठाः प्रणवेन समाहितः ॥ ८ ॥

उपवीतं पुनर्दत्त्वा भूषणानि च सादरम् । गन्धं पुष्पं तथा धूपं दीपं चैवाऽऽदरेण च ॥ ९ ॥

श्रीमत्पञ्चाक्षरेणैव प्रणवेन युतेन च[1] । हविर्निवेद्य देवाय पानीयेन [2]सहाऽऽदरात् ॥ १० ॥

पुनराचमनं दत्त्वा ताम्बूलं सोपदंशकम् । माल्यं दत्त्वाऽनुलेपं च प्रणम्य भुवि दण्डवत् ॥ ११ ॥

लौकिकैर्वैदिकैः स्तोत्रैः स्तुत्वा हृदि विसर्जयेत् । प्रणवेन महादेवं सर्वज्ञं सर्वकारणम् ॥ १२ ॥

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च सुव्रताः । एवं दिने दिने देवं पूजयेदम्बिकापतिम् ॥ १३ ॥

प्रोक्तलक्षणलक्षितं **शिवलिङ्गमादाय** दीक्षापुरःसरं परिगृह्य । **आवाह्येति** । आवाहनं लिङ्गेऽभिव्यक्त्यनुसंधानम् । विसर्जनं तु निजरूपेणावस्थानचिन्तनम् । उक्तं हि–'आवाहनमभिव्यक्तिः [3]शक्तिभावो विसर्जनम्' इति । आवाहनं तदादिसंस्कारदशकोपलक्षणम् । यथाऽऽहुरागमविदः–'आवाहनं स्थापनं च सांनिध्यं संनिरोधनम्[4] । सकलीकारममृतीकरणं चाथ पाद्यकम् ॥ तत आचमनं चार्घ्यं पुष्पं च दश संक्रियाः' इति । **प्रणवेनेति** । तेन हि यत्कृतं तदशेषैर्मन्त्रैः कृतं भवति । श्रूयते हि–'यः प्रणवमधीते स सर्वमधीते' इति । यथा 'एतद्वै यजुस्त्रयीं विद्यां प्रत्येषा वागेतत्परममक्षरम्' इति ॥ ५ ॥

पूर्वोक्तेनेति प्रणवेन । **मन्त्रतो** मन्त्रेण पञ्चाक्षरेण ॥ ६ ॥**पञ्चाक्षरेण चेति** । चकारादन्यैरपि शतरुद्रियादिभिः ॥ ७-११ ॥

प्रणवेन हृदि विसर्जयेदिति । हृदि स्वप्रतिष्ठिततया शिवमनुसंदध्यादित्यर्थः । हृदयं तस्य नियतं स्थानम् । 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' इति [5]स्मृतेः । 'हृदयं[6] तद्विजानीयादि' त्यारभ्य 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' 'स ब्रह्मा स शिवः स हरिः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्' इति श्रुतेश्च । इत्थं संग्रहेण शिवपूजाविधिरुक्तः । एतावताऽप्यसौ पूर्ण एव । 'बह्वल्पं वा स्वगृह्योक्तं यस्य यावत्प्रकीर्तितम् । तस्य तावति शास्त्रार्थे कृते सर्वः कृतो भवेत्' इति न्यायात् ॥ प्रपञ्चस्तु पुराणान्तरादागमान्तरेभ्यश्चोक्तोऽविरुद्ध उपसंहर्तव्यः ॥ १२ ॥

उक्तपूजाविधावाश्रमभेदेन मन्त्रव्यवस्थामाह–**ब्रह्मचारीति** ॥ १३ ॥

फिर श्रद्धापूर्वक ध्यान से शिवलिंग को उस पर स्थिर करें और हृदय में स्थित देवेश्वर का उसमें प्रणव मंत्र से आवाहन करें। (लिंग में भगवान् अभिव्यक्त हो रहे हैं ऐसा चिन्तन आवाहन कहलाता है।) ॥ ५॥ प्रणवोच्चारण पूर्वक ही उन्हें अर्घ्य दें। फिर पंचाक्षरमन्त्र से पाद्य व आचमन समर्पित करें ॥ ६ ॥ तदनन्तर 'आपो हिष्ठा' इत्यादि तीन मंत्रों से, पुरुषसूक्त से, और पंचाक्षरादि मंत्रों से भगवान् को स्नान करावें ॥ ७ ॥ फिर आचमन देकर श्रीहर को आसन पर प्रतिष्ठित करें और एकाग्रता से प्रणवोच्चारणपूर्वक वस्त्र चढ़ायें ॥ ८ ॥ तदनन्तर आदरपूर्वक यज्ञोपवीत, आभरण, चन्दन, पुष्प, धूप और दीप समर्पित करें ॥ ९ ॥ प्रणवयुक्त पंचाक्षर मंत्र से नैवेद्य तथा जल समर्पित करें ॥ १० ॥ पुनः आचमन के लिये जल देकर इलायची आदि युक्त पान चढ़ावें। माला एवं अनुलेपन (चन्दनादि) समर्पित कर भूमि पर दण्डवत् प्रणाम करें ॥ ११ ॥ फिर वैदिक और लौकिक स्तोत्रों के पाठ से भगवान् की स्तुति कर सर्वज्ञ सर्वकारण महादेव को अपने हृदय में विसर्जित करें अर्थात् शिव मुझमें–मेरे हृदय में–प्रतिष्ठित हो रहे हैं ऐसा ध्यान करें ॥ १२॥ हे उचित निश्चय वालो। ब्रह्मचारी, गृहस्थ व वानप्रस्थ इस प्रकार प्रतिदिन गिरिजापति का पूजन करें ॥ १३ ॥

---

१. ख. तु । २. ङ. सदाऽऽद° । ३. ङ. शक्त्यभा° । ४. ङ. ° म् । संक° । ५. ख. भगवदुक्तेः । ६. ङ. °दयमित्या° ।

संन्यासी देवदेवेशं प्रणवेनैव पूजयेत् । नमोन्तेन शिवेनैव स्त्रीणां पूजा विधीयते ॥ १४ ॥

विरक्तानां च शूद्राणामेवं पूजा प्रकीर्तिता । अन्येषामपि सर्वेषां नराणां मुनिपुङ्गवाः ॥ १५ ॥

पूजा देवालयं दृष्ट्वा प्रणामस्तस्य कीर्तितः । एवं पूजा कृता येन सफलं तस्य जीवितम् ॥ १६ ॥

पूजया भुक्तिमाप्नोति पूजया मुक्तिमाप्नुयात् । पुरा कश्चिन्महापापी पुल्कसः पुरुषाधमः ॥ १७ ॥

ब्राह्मणानां कुलं हत्वा गवां वेदविदां वराः । अपहृत्य धनं मार्गे प्राणिहिंसापुरःसरम् ॥ १८ ॥

स्वच्छन्दं निर्घृणो विप्राश्चचार पृथिवीतले । तस्य मित्रमभूत्कश्चिद् ब्राह्मणो गणिकापतिः ॥ १९ ॥

पञ्चाक्षरपूजायां स्त्रीशूद्राणां विशेषमाह-**नमोन्तेनेति** ॥ १४ ॥

अन्येषामिति । संकरजातीनां देवालयं दृष्ट्वा तस्य देवालयस्य प्रणाम एव पूजा प्रकीर्तिता । पुराणान्तरेषु स्त्रीशूद्रादीनां सर्वेषां प्रणवमात्रं परित्यज्यावशिष्टेन पञ्चाक्षरेणैव पूजाऽभिहिता । यथाऽऽह वसिष्ठः-'ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः । सदों नमः शिवायेति शिवमन्त्रं समाश्रयेत् ॥ पञ्चाक्षरः सप्रणवो द्विजराज्ञोर्विधीयते । विट्शूद्रजन्मनां वाऽपि स्त्रीणां निर्बीज एव हि ॥ सबीजः सस्वरः सौम्य विप्रक्षत्रिययोर्द्वयोः । नेतरेषामितीशानः स्वयमेवाऽऽह शंकरः ॥ दुर्वृत्तो वृत्तहीनो वा पतितोऽप्यन्त्यजोऽपि वा । जपेत्पञ्चाक्षरीं विद्यां जपेनैवाऽऽप्नुयाच्छिवम्' इति ॥ शैवपुराणे शिवोऽप्याह-'समन्त्रकं तु पतितो ह्यर्चयेद्यदि पद्मज । नारकी स्यान्न संदेहो मम पञ्चाक्षरं विना ॥ मयोक्तमेतद्धि पुरा पवित्रं पञ्चाक्षरं मन्त्रमिमं शिवायै । साधारणं पद्मज वेदसारं ममाऽऽज्ञया सर्वमिदं सुरेश' इति ॥ नन्दीश्वरोऽपि-'शृणुष्वातिरहस्यं ते वदामि मुनिपुङ्गव । हिताय सर्वलोकानां पतितानां विशेषतः ॥ समन्त्रकं सकृद्वाऽपि पतितः पूजयेद्यदि । नारकी स्यान्न संदेहः शैवपञ्चाक्षरं विना' इति ॥ [1]इत्थमुक्ता पूजा । तत्फलमाह-**एवं पूजा कृता येनेति** ॥ १५ ॥ ॥ १६ ॥

तत्राऽऽदरातिश[2]यार्थमाख्यायिकामाह-**पुरा कश्चिदित्यादिना** । पुल्कसलक्षणमत्रैव वक्ष्यते-'जातः शूद्रेण राजन्यां वैदेहाख्यः स पुल्कसः' इति । पुल्कसकृतपापप्रपञ्चवर्णनं तादृगपि दभ्रसभादर्शनमात्रादेव विमुक्त इति सभादर्शनप्रभावोत्कर्ष-ज्ञापनाय ॥ १७ ॥ ॥ १८ ॥ ॥ १९ ॥

संन्यासी प्रणवोच्चारण से ही महादेव की पूजा करें । स्त्रियों के लिये नमोन्त मन्त्र से (नमः शब्द है अंत में जिसके ऐसे पंचाक्षर मन्त्र से) पूजा करना विहित है ॥ १४ ॥ विरक्त शूद्रों के लिये भी पूजा का यही (नमोन्त मन्त्र से करना) प्रकार है । हे मुनिपुंगवो ! अन्य सभी मनुष्यों के लिये ॥ १५ ॥ पूजा यही बतायी गयी है कि देवमंदिर देखकर उसे प्रणाम कर दें । यों अपने-अपने अधिकारानुसार जिसने पूजा की है उसका जन्म सार्थक है ॥ १६ ॥ (अन्य पुराणों के अनुसार स्त्री, शूद्र आदि सबको प्रणवरहित पंचाक्षर मन्त्र द्वारा पूजा करनी चाहिये । प्रणवसहित पंचाक्षर का प्रयोग ब्राह्मण व क्षत्रिय के लिये है ।) भक्त पूजा से ही भोग व मोक्ष प्राप्त कर सकता है । (इस विषय में यह आख्यायिका है-)

पूर्वकाल में एक महापापी पुल्कस जाति का (शूद्रपिता व क्षत्रियमाता की संकर संतान पुल्कस होती है ।) नीच पुरुष था ॥ १७ ॥ हे श्रेष्ठ वेदवेत्ताओ ! ब्राह्मण वंशों को व गायों को मारकर मार्ग में धन लूटकर प्राणियों की हिंसा करते हुए ॥ १८ ॥ दयाशून्य हो स्वच्छन्द वृत्ति से रहता था । हे विप्रो ! कोई वेश्यापति ब्राह्मण उसका मित्र बन गया ॥ १९ ॥

---

१. ग. इत्युक्ता । ° । २. ङ. °शयेन पूर्वमा° ।

तस्मै दत्तं धनं किंचित्पुल्कसेन द्विजोत्तमाः । स पुनर्ब्राह्मणस्तुष्टो मतिं तस्मै प्रदत्तवान् ॥ २० ॥

ब्राह्मण उवाच—

सुबन्धो मम दुर्बुद्धे त्वया पापानि निर्घृण । कृतानि सर्वदा[1] मूढ त्वहो किं ते फलिष्यति ॥ २१ ॥

इत्येवं बहुधा विप्रः पुल्कसं प्रत्यभाषत । सोऽपि विप्रवचः श्रुत्वा बहुशः पण्डितोत्तमाः ॥ २२ ॥

कालेन महता दान्तः पुल्कसः पुरुषाधमः । जन्मान्तरसहस्रेषु कृतपुण्यवशेन च ॥ २३ ॥

प्रणम्य दण्डवद्विप्रं पप्रच्छ ब्रह्मवित्तमाः ।

पुल्कस उवाच— देव विप्र सुबन्धो मे मया सर्वत्र सर्वदा ॥ २४ ॥

महाघोराणि पापानि कृतानि मम नायक । किं करोम्यहमद्यास्मिँल्लोके मूढोऽतिनिर्घृणः ॥ २५ ॥

तद्ददातिभयाविष्टं मानसं मम संततम् ।

ब्राह्मण उवाच—साधु साधु त्वयाऽद्योक्तं तव वक्ष्ये हितं शृणु ॥ २६ ॥

पुण्यक्षेत्रे महातीर्थे पुराणे वसुधातले । मुनिभिः सिद्धगन्धर्वैरमरैश्च सुसेविते ॥ २७ ॥

श्रीमद्व्याघ्रपुरे[2] यत्र प्रनृत्यत्यम्बिकापतिः । तत्र भक्तिपरो भूत्वा स्नात्वा प्रातः समाहितः ॥ २८ ॥

मतिं तस्मै प्रदत्तवानिति । दातुं प्रवृत्त[3]वान् । आदिकर्मणि क्तवतुः । अन्यथा 'अच उपसर्गात्तः' इति तत्वे प्रत्तवानिति स्यात् । आदिकर्मणि तु 'प्रदत्तं चाऽऽदिकर्मणि' इति तेन क्तवतोरप्युपलक्षणात्तत्वप्रतिषेधे ददादेश एव भवति । यदि वा ब्राह्मणेन पुल्कसं प्रति बुद्धिदानं बहुशः कृतं तदलम् । मतिदानस्य प्रारम्भमात्रं ततोऽप्यतिशयितस्यापरिमितस्य कर्तव्यस्य संभवात्कृतस्याऽऽरम्भमात्रत्वमित्यादिकर्माभिप्रायः ॥ २० ॥ ॥ २१ ॥ ॥ २२ ॥

दान्त इति । दम इन्द्रियाणां निषिद्धव्यापारोपरमः । विप्रजनितोपदेशेन जातनिर्वेदे मनस्युपरते तदधीनव्यापाराणि

पुल्कस ने उस ब्राह्मण को कुछ धन दिया । उससे संतुष्ट हुआ वह ब्राह्मण उसे शिक्षा देने में प्रवृत्त हुआ ॥ २० ॥ ब्राह्मण बोला— 'हे निर्दय निर्बुद्धि, दोस्त ! तुमने सदा पाप ही किये हैं । तुम मूर्ख हो । अरे ! तुम्हें कितना अनिष्ट फल मिलेगा !' ॥ २१ ॥—इस प्रकार ब्राह्मण ने पुल्कस को अनेक तरह से उसके कर्मों के विषय में कहा । हे पण्डितश्रेष्ठो ! उस पुल्कस ने भी बहुत बार कही ब्राह्मण की बात सुनकर ॥ २२ ॥काफी समय बाद संयतेन्द्रिय होकर हज़ारों पूर्व जन्मों के किये पुण्यों के फलोन्मुख होने के प्रभाव से ब्राह्मण को दण्डवत प्रणाम कर पूछा—; पुल्कस बोला—'हे भूसुर ! हे वेदज्ञ ! हे मेरे मित्र ! मेरे द्वारा सदा सर्वत्र महाघोर पाप किये गये हैं । मेरे मार्गदर्शक मित्र ! बताओ कि मैं इस संसार में अब क्या करूँ (कि दुर्गति से बचूँ) ?' ॥ २३—२५½ ॥ ब्राह्मण बोला—'आज तुमने बड़े कल्याण की बात पूछी है । सुनो, मैं तुम्हारे हितसाधक कर्तव्य को बताता हूँ ॥ २६ ॥ वसुधातल पर पुरातन काल से विद्यमान पुण्यक्षेत्र महातीर्थ श्रीमद्व्याघ्रपुर को जाओ, जो तीर्थ मुनि,

---

१. पूर्वजनुष्यपि तत एव नीचयोनौ जन्म । अग्रेऽपि तान्येव संभाव्यन्ते पूर्वकृतसंस्कारानुसारित्वादुत्तरप्रवृत्तेरित्यभिप्रेत्य सर्वदेत्युक्तम् । २. ख. °रे रम्ये प्र° । ३. ङ. °त्त इति । आ° ।

दृष्ट्वा दभ्रसभां दूरे प्रणम्य भुवि दण्डवत् । योगिनां भोगिनां नृणां दत्त्वा सर्वस्वमर्जितम् ॥ २९ ॥
स्थानस्यास्य भये जाते रक्षणं कुरु यत्नतः ।
सूत उवाच–एवं द्विजो[1] त्तमेनोक्तः पुल्कसः पुरुषाधमः ॥ ३० ॥
श्रीमद्व्याघ्रपुरं पुण्यं गतः श्रद्धापुरःसरम् । ब्राह्मणोऽपि सहानेन श्रद्धया मुनिपुङ्गवाः ॥ ३१ ॥
प्राप्तवानेतदत्यन्तं श्रद्धया स्थानमुत्तमम् । पुल्कसः श्रद्धया स्नात्वा ब्राह्मणा वेदवित्तमाः ॥ ३२ ॥
योगिभ्यश्च तथाऽन्येभ्यो दत्त्वा सर्वस्वमर्जितम् । श्रीमद्दभ्रसभां नित्यं [2] ब्राह्मणा वेदपारगाः ॥ ३३ ॥
दूरे दृष्ट्वा नमस्कृत्वा पञ्चक्रोशाद्बहिर्द्विजाः । उवास सुचिरं कालमेवं कृत्वा दिने दिने ॥ ३४ ॥
एवं चिरगते काले पुल्कसः पुण्यगौरवात् । स्थानसंरक्षणव्याजात्तत्रैव मरणं गतः ॥ ३५ ॥
स पुनर्मरणादूर्ध्वं भुक्त्वा भोगाननेकशः । श्रीमद्व्याघ्रपुरेशस्य प्रसादादम्बिकापतेः ॥ ३६ ॥
अवाप परमां मुक्तिमविघ्नेन द्विजोत्तमाः । ब्राह्मणोऽपि तथैवास्मिन्स्थाने प्रातः समाहितः ॥ ३७ ॥
स्नानं कृत्वा महादेवमम्बिकापतिमीश्वरम् । पूजयामास पूर्वोक्तप्रकारेण महेश्वरम् ॥ ३८ ॥
तस्यापि ब्रह्मविच्छ्रेष्ठाः पूजया परमेश्वरः । श्रीमद्दभ्रसभानाथः प्रददौ मुक्तिमीश्वरः ॥ ३९ ॥
बहवो वेदविच्छ्रेष्ठाः पूर्वोक्तेनैव वर्त्मना । शिवलिङ्गार्चनं कृत्वा विमुक्ता भवबन्धनात् ॥ ४० ॥
केचिद्वाराणसीं गत्वाऽऽपूज्य पूर्वोक्तवर्त्मना । महादेवं महात्मानं विमुक्ता भवबन्धनात् ॥ ४१ ॥
केचिच्छ्रीसोमनाथाख्यं केचित्केदारमद्भुतम् । केचिच्छ्रीपर्वतं मुख्यं केचिद्द्रोणपर्वतं नराः ॥ ४२ ॥

तस्माद् व्यापारादुपारमन्नित्यर्थः ॥ २३-३३ ॥

नमस्कृत्वेति । नम इति शब्दपरो निर्देशः । नम इत्येतत्पदप्रयोगं कृत्वेत्यर्थः । **नमस्कृत्वेति** तु पाठेऽर्थपरस्य नमः-शब्दस्य गतिसमासे 'नमस्पुरसोर्गत्योः' इति सत्वम् । नमस्कृत्वेति तु पाठे 'क्त्वाऽपि च्छन्दसी'ति ल्यपोऽपवादः क्त्वादेशश्छान्दसः ॥ ३४ ॥

स्थानसंरक्षणव्याजादिति । व्याजशब्देन निमित्तमात्रं लक्षितम् । संरक्षणाद्धेतोरित्यर्थः ॥ ३५ ॥ ॥ ३६ ॥

ब्राह्मणोऽपीति । गणिकापतिरपि **ब्राह्मणः** सभादर्शनमात्रेण कृतप्रायश्चित्त इति पूर्वोक्तप्रकारेण प्रणवेन पूजयामासेत्युक्तम् ॥ ३७ ॥ ॥ ३८ ॥ ॥ ३९ ॥ ॥ ४० ॥

सिद्ध, गन्धर्व तथा देवताओं द्वारा सेवित होता है तथा जहाँ अम्बिकानाथ अलौकिक नृत्य करते हैं । वहाँ भक्तियुक्त होकर, प्रातः स्नान कर, एकाग्रता से शिवसभा का दर्शन कर, (अपने वर्ण का ख्याल करते हुए) दूर से दण्डवत् प्रणामकर अपने द्वारा इकट्ठे किये सारे धन को योगियों को एवं गृहस्थ ब्राह्मणों को दानकर निवास करो तथा उस स्थान पर यदि कोई आपत्ति आये तो यत्नपूर्वक उस स्थान की रक्षा करो ।' ॥ २७–२९ $^1/_2$ ॥ सूतजी बोले–पुल्कसजाति का वह नीच पुरुष द्विजों में उत्तम ब्राह्मण जाति वाले अपने मित्र से यों समझकर श्रद्धासमेत श्रीमद्व्याघ्रपुर को गया । हे मुनियो ! वह ब्राह्मण भी श्रद्धायुक्त हो उसके साथ गया ॥ ३०–३१ ॥ ब्राह्मण सहित वह पुल्कस श्रद्धासहित उस उत्तम तीर्थ में पहुँचा । श्रद्धापूर्वक स्नानकर उसने योगियों व अन्य अधिकारियों में अपनी अर्जित सारी सम्पत्ति बाँट दी और प्रतिदिन शिव सभा को दूर से देखकर प्रणाम करता था तथा सभा से पाँच कोस दूर रहता था । यों करते हुए वह बहुत समय तक वहाँ रहा ॥ ३२–३४ ॥ इस प्रकार काफी काल बीत जाने पर पुल्कस ने पुण्यप्रभाव से उस तीर्थ की रक्षा करने का अवसर पाया और उसमें मर गया ॥ ३५ ॥ मरने के बाद उसने शिवकृपा से अनेक भोग भोगकर बिना किसी विघ्न के परम मोक्ष प्राप्त किया ॥ ३६ $^1/_2$ ॥ वह ब्राह्मण भी उसी तरह उस दिव्य स्थान पर प्रातः स्नानकर एकाग्रमन से सर्वनियन्ता अम्बिकानाथ सर्वफलदाता महादेव का पूर्वोक्त प्रकार

१. अत्र द्विजपदं द्विजातिमात्रपरं, ब्राह्मणेषूत्तमत्वस्य गणिकापतौ विधातुमनौचित्यात् । २. ग. ब्राह्मणान्वेदपारगान् ।

केचिद्दक्षिणकैलासं केचिदग्नीश्वराभिधम् । केचिच्छ्रीहरतीर्थाख्यं केचिद् वृद्धाचलाभिधम् ॥ ४३ ॥
केचिद्वल्मीकमाश्चर्यं केचिद्धालास्यसंज्ञितम् । केचिद्रामेश्वरं पुण्यं केचित्कान्तारमादरात् ॥ ४४ ॥
प्राप्य पूर्वोक्तमार्गेण शिवं पूज्य द्विजोत्तमाः । अनायासेन संसाराद्विमुक्ता वेदवित्तमाः ॥ ४५ ॥
केचित्स्वे स्वे गृहे देवं समाराध्य यथाबलम् । पूर्वोक्तेनैव मार्गेण विमुक्ता भवबन्धनात् ॥ ४६ ॥
केचिद्भोगेच्छया देवं पूर्वोक्तेनैव वर्त्मना । श्रद्धयाऽऽपूज्य देवेशं भुक्तवन्तो महासुखम् ॥ ४७ ॥
किमत्र बहुनोक्तेन श्रूयतां मुनिपुङ्गवाः । पूजया सर्वजन्तूनां भोगमोक्षौ च नान्यथा ॥ ४८ ॥
तस्माद्भवन्तोऽप्यमुना पूर्वोक्तेनैव वर्त्मना । पूजयध्वं महादेवं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥ ४९ ॥
इति श्रुत्वा मुनिश्रेष्ठाः सूतं सर्वार्थसागरम् । प्रणम्य पूजयामासुः शंकरं शशिभूषणम् ॥ ५० ॥
तेषां पुत्राश्च पौत्राश्च ज्ञातयः सुहृदो जनाः । पूजयामासुरीशानं मुनिभिस्तैः प्रचोदिताः ॥ ५१ ॥
पूजया सदृशं पुण्यं नास्ति लोकत्रयेष्वपि । पूजयैव महादेवः शंकरः परमेश्वरः ॥ ५२ ॥
नीलकण्ठो विरूपाक्षः शिवो नित्यं प्रसीदति । पूजिते देवदेवेशे पुराणे सर्वकारणे ॥ ५३ ॥
पूजिता देवताः सर्वा इति वेदान्तनिश्चयः । भोगं मोक्षं च लभते नात्र कार्या विचारणा ॥ ५४ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे श्रीसूतसंहितायां शिवमाहात्म्यखण्ड ईश्वरपूजाविधानं नाम चतुर्थोऽध्याय : ॥ ४ ॥

क्षेत्राणां प्रभावोत्कर्षतरतमभावसंभवेऽप्युक्तपूजाविधानमाहात्म्यान्निरतिशयश्रद्धापूर्वकात्सममेव फलमपवर्गलक्षणं प्रतिपन्ना इत्याह–**केचिद्वाराणसीमिति** । **आपूज्येत्याकारप्रश्लेषः** । **शिवं पूज्येत्यसमासे**ऽपि ल्यबादेशश्छान्दसः ॥ ४१-४५ ॥

यथाबलमिति । बलं सामर्थ्यमनतिक्रम्य विद्यमानसामर्थ्यमवञ्चयित्वा । अत एव गृहे शिवं समाराध्य विमुक्ताः । भवो जन्म स एव दुःखमयसंसारबन्धहेतुत्वाद्बन्धनं जन्माभावे हि दुःखाभावोऽपवर्गो भवति । उक्तं हि गौतमेन 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानाना-मुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' इति, शास्त्रजनिततत्त्वज्ञानादहं मनुष्य इति मिथ्याज्ञानापाये रागादिदोषापायाद्धर्माधर्मयोः प्रवृत्त्यभावेन तन्निबन्धनजन्माभावादात्यन्तिकदुःखनिवृत्तिरूपोऽपवर्गो भवतीत्यर्थः ॥ ४६ ॥

भोगेच्छयेति । भोगापवर्गसाधनं शिवपूजेति ह्युक्तम् ॥ ४७ ॥ ॥ ४८ ॥ **तस्मादिति** । **भवन्त** इति शत्रन्तम् । यूयमपि प्रागुक्ता इव सन्तः पूजयध्वमित्यर्थः ॥ ४९-५१ ॥

पूजयैवेति । यथाधिकारं प्रागुक्तया मानस्या बाह्यया वा ॥ ५२ ॥ ॥ ५३ ॥

पूजिता देवताः सर्वा इति वेदान्तनिश्चय इति । उक्तं ह्यथर्वशिरसि शिवेनैव 'मां यो वेद स सर्वान्देवान्वेद' इति[1] ॥ ५४ ॥

इति श्रीमत्काशीविलासक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवापरायणेनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन माधवाचार्येण विरचितायां श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां शिवमाहात्म्यखण्ड ईश्वरपूजाविधानं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

से पूजन करते हुए रहा ॥ ३७–३८ ॥ हे ब्रह्मोपासकों में श्रेष्ठ मुनियो ! उसके द्वारा की पूजा से भी प्रसन्न होकर दभ्रसभा के अध्यक्ष श्रीपरमशिव ने उसे मोक्ष प्रदान किया ॥ ३९ ॥ अन्य भी श्रेष्ठ वेदज्ञों ने पूर्वोक्त विधि से शिवलिंग का अर्चनकर संसार बंधन से मोक्ष पाया है ॥ ४० ॥ कुछ लोग वाराणसी जाकर वहाँ पूर्वोक्त ढंग से कृपालु महादेव की सर्वविध पूजाकर भवसागर से पार हुए हैं ॥ ४१ ॥ कुछ लोग सोमनाथ में, कुछ विलक्षण केदारनाथ में, कुछ श्रीपर्वत पर (श्रीशैल पर), कुछ लोग गोपर्वत पर, कुछ दक्षिण कैलास में (श्रीकालहस्तीश्वर), कुछ अग्नीश्वर नामक स्थान पर, कुछ श्रीहरतीर्थ नामक स्थल पर, कुछ वृद्धाचल पर, कुछ आश्चर्यजनक वल्मीकतीर्थ पर, कुछ हालास्य नामक स्थान पर, कुछ रामेश्वर नामक पुण्य स्थल पर, कुछ कान्तारनामक स्थान पर (व ऐसे ही अन्यान्य पवित्र क्षेत्रों में) श्रद्धापूर्वक पहुँचकर पूर्वोक्त विधान से शिव की पूजाकर अनायास ही संसार बन्धन से सर्वथा मुक्त हो चुके हैं ॥ ४२–४५ ॥ कुछ भक्त अपने-अपने घरों में ही पूर्वोक्त ढंग से यथाशक्ति महादेव की पूजाकर भवबन्धन से मुक्त हुए हैं ॥ ४६ ॥ कुछ अर्थार्थिभक्तों ने भोगप्राप्ति की इच्छा से पूर्वोक्त प्रकार से श्रद्धापूर्वक शिव की भली भाँति पूजाकर महान् सुख भोगे हैं ॥ ४७ ॥ हे श्रेष्ठ मुनियो ! इस विषय में अधिक क्या कहें, सार सुन लीजिये–सभी जन्तुओं को शिवपूजा से ही भोग व मोक्ष मिलते हैं, और किसी कारण से नहीं ॥ ४८ ॥ अतः आप लोग भी इस पूर्व में बताये विधान से भोग व मोक्ष देने वाले महादेव का पूजन कीजिये ॥ ४९ ॥

यह सुनकर उन श्रेष्ठ मुनियों ने समस्त पुरुषार्थों के उपायों के ज्ञान की वारिधिरूप सूतजी को प्रणाम किया और शशिशेखर शिव की पूजा की ॥ ५० ॥ उन मुनियों की आज्ञा से उनके पुत्र पौत्र आदि कुल वालों ने, जाति-भाइयों ने व मित्रों ने भी ईश्वर की पूजा की ॥ ५१ ॥ तीनों लोकों में पूजा के तुल्य कोई पुण्यकर्म नहीं है । कल्याणकारी सर्वनियन्ता नीलकण्ठ विरूपाक्ष आनन्दरूप महादेव पूजा से ही सदा प्रसन्न होते हैं ॥ ५२ ½ ॥ सर्वकारण सर्वादि देवाधिदेव की पूजा हो जाने से सभी देवता पूजित हो जाते हैं यह उपनिषदों में निश्चित किया गया है । शिव पूजा से भोग व मोक्ष दोनों मिलते हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ५४ ॥

१. 'एष उ ह्येव सर्वे देवा' (बृ. १. ४. ६) इत्याद्याः श्रुतयः 'यान्ति मामपि' (१८. २३) इत्याद्याः स्मृतयोपि द्रष्टव्याः ।

पञ्चमोऽध्यायः

नैमिषीया ऊचुः —

भगवन्सर्वशास्त्रार्थपरिज्ञानवतां वर । ब्रूहि पूजाविधिं शक्तेः परायाः संग्रहेण तु ॥ १ ॥

सूत उवाच—

वक्ष्ये पूजाविधिं शक्तेः पराया आस्तिकोत्तमाः । अत्यन्तश्रद्धया सार्धं शृणुध्वं भुक्तिमुक्तिदम् ॥ २ ॥

पूजा शक्तेः परायास्तु द्विविधा परिकीर्तिता । बाह्याभ्यन्तरभेदेन बाह्या तु द्विविधा मता ॥ ३ ॥

वैदिकी तान्त्रिकी चेति द्विजेन्द्रास्तान्त्रिकी तु सा । तान्त्रिकस्यैव नान्यस्य वैदिकी वैदिकस्य हि ॥ ४ ॥

उक्तभोगापवर्गलक्षणं फलं परमेश्वरः स्वशक्त्यैव दातुं शक्तो नान्यथा । तदुक्तम्—'शक्तो यया स शंभुर्भुक्तौ मुक्तौ च पशुगणस्यास्य । ता[१]मेनां चिद्रूपामाद्यां सर्वात्मनाऽस्मि नतः' इति ॥ अत उक्तशिवपूजाफलावाप्तयेऽवश्यापेक्षितां मुनयः शक्तिपूजां पृच्छन्ति[२]**भगवन्सर्वशास्त्रार्थे**ति । अस्ति काचित्पराशक्तिर्नाम यत्पूजया शिवपूजा प्रोक्तफला भवतीति सामान्यतो ज्ञात्वा शक्तिस्वरूपतद्विभागततपूजाविधींश्च विशेषतो जिज्ञासूनां मुनीनामयं प्रश्नः । दाहपाकप्रकाशादिविषयाः शक्तयो वह्न्यादावपि सन्ति । इयं तु शिवस्य जगन्निर्माणादिविषयेति **पराया** इति विशेषणम् । **अत्यन्तश्रद्धये**ति । शिवपूजाया ज्ञातत्वात्प्रासङ्गिकीयं जिज्ञासेति मा भूत्, तत्साफल्यस्य तदधीनत्वादत्रातिशयेन भवितव्यमित्याशयः । यथा दण्डचक्रादयः स्वरूपेण तथा व्यपदिश्यमाना अपि कार्यघटादिप्रतियोगि[३]निरूप्येण रूपेण कारणानीत्युच्यन्ते, एवं परशिवस्वरूपेण तथोच्यमानोऽपि कृत्यपञ्चकलक्षणशक्येन निरूप्यमाणः परा शक्तिरित्युच्यते । उक्तं हि तस्य कृत्यपञ्चकम्—'पञ्चविधं तत्कृत्यं सृष्टिस्थितिसंहृतितिरोभावाः । तद्वदनुग्रहकरणं प्रोक्तं सततोदितस्यास्य' इति ॥ परमार्थतस्तु सा च शक्तिः शक्तिमतः शिवाद[४]भिन्नैवेत्यागमेषु बहुधा प्रपञ्चितम्—'पावकस्योष्णतेवेयमुष्णांशोरिव दीधितिः । चन्द्रस्य चन्द्रिकेवेयं शिवस्य सहजा ध्रुवा' इत्यादिभिः ॥ १ ॥ ॥ २ ॥

तत्पूजायां अधिकारिभेदेन व्यवस्थां दर्शयितुं विभागमाह—**पूजा शक्तेरि**त्यादि ॥ ३ ॥

तन्मूलस्मृतिपुराणादिप्रतिपादिता **वैदिकी** । तदनपेक्षया शिवप्रोक्ता कामिकाद्यागमप्रतिपादितप्रकारा **तान्त्रिकी** । तत्र तान्त्रिक्या अधिकारिविशेषमाह **तान्त्रिकस्यैवे**ति । तन्त्रोदीरितकुण्डमण्डपादिपुरःसरदीक्षासंस्कृतस्यै[५]व न तद्रहितस्येत्यर्थः । **वैदिकस्ये**ति स्वगृह्योक्तसंस्कारसंस्कृतस्यैवेत्यर्थः ॥ ४ ॥

शक्तिपूजा-विधि नामक पाँचवा अध्याय

नैमिषारण्यस्थ मुनियों ने कहा—हे भगवन् ! सब शास्त्रों के जानकारों में श्रेष्ठ रोमहर्षण जी ! परा शक्ति की पूजा की विधि संक्षेप में बताइये ॥ १ ॥

सूतजी बोले—हे श्रेष्ठ आस्तिको ! मैं परा शक्ति की भोग व मोक्ष देने वाली पूजाविधि बताता हूँ, अत्यन्त श्रद्धा सहित सुनिये ॥ २ ॥

परा शक्ति की पूजा बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार की बतायी गयी है । बाह्य पूजा पुनः दो प्रकार की मानी गयी है—॥ ३ ॥ एक वैदिकी और दूसरी तान्त्रिकी । हे उत्तम ब्राह्मणो ! कामिकादि आगम-प्रतिपादित तान्त्रिकी पूजा करने के अधिकारी वे ही हैं जो तान्त्रिक दीक्षा से संस्कृत हैं । अदीक्षितों के लिये तान्त्रिकी पूजा नहीं है । वैदिकों के लिये—अर्थात् जो स्वकीय गृह्यसूत्र के अनुसार संस्कारों से संस्कृत हो चुके हैं उन वेदमार्ग पर चलने वालों के लिये—वैदिकी पूजा ही कर्त्तव्य है ॥ ४ ॥

---

१. ग. ङ. तामेतां । २. ख. भगवन्निति । ३. ङ. °गिरूपे° । ४. ख. °भिन्नेत्या° । ५. ग. घ. °स्यैवेत्यर्थः ।

इत्थं समस्तदेवानां पूजा विप्रा व्यवस्थिता । अविज्ञायान्यथा पूजां कुर्वन्पतति मानवः ॥ ५ ॥

आसनावाहने चार्घ्यं पाद्यमाचमनं तथा । स्नानं वासोत्तरीयं च भूषणानि च सर्वशः ॥ ६ ॥

गन्धपुष्पं तथा धूपं दीपमन्नेन तर्पणम् । माल्यानुलेपनं चैव नमस्कारं विसर्जनम् ॥ ७ ॥

सर्वं मातृकया कुर्यान्मातृका मन्त्रनायिका । मातृकाव्यतिरेकेण मन्त्रा नैव हि सत्तमाः ॥ ८ ॥

मातृका च त्रिधा स्थूला सूक्ष्मा सूक्ष्मतराऽपि च[1] । गुरूपदेशतो ज्ञेयो नान्यथा शास्त्रकोटिभिः ॥ ९ ॥

न केवलं शक्तेः, शिवविष्णुविनायकादीनामपि वैदिकतान्त्रिकविभागेन पूजादिभेदस्तदधिकारिभेदश्चेत्याह–[2]**इत्थं समस्तेति** । अधिकारिविभागाभिधानप्रयोजनमाह–**अविज्ञायेति** । स्वमार्गातिक्रमो हि श्रुत्यैव निन्दितः 'यो वै स्वां देवतामपि त्यजते स स्वायै देवतायै च्यवते न परां प्राप्नोति पापीयान्भवति' इति । स्वां देवतामिति स्वोचितमार्गोपलक्षणम् ॥ ५ ॥

तत्र बाह्यां पूजामाह–**आसनावाहने चार्घ्यमित्यादि** । इयं हि बाह्योपकरणसव्यपेक्षत्वाद्बाह्या । **वासोत्तरीयमिति** । वास इति वाससोऽन्त्यलोपश्छान्दसः ॥ ६ ॥

उक्तोपचारजातस्य शक्तिपूजामात्रस्य पूजांगं मन्त्रमाह– **सर्वं मातृकयेति** । तयैव करणे कारणमाह–**मन्त्रनायिकेति** । तत एवोद्धृत्य हि सर्वमन्त्रा नीयन्त इत्यर्थः । **मातृकाव्यतिरेकेणेति** । नहि मातृकायामननुप्रविष्टमक्षरमस्ति न चानक्षरात्मको मन्त्रोऽप्यस्ति । अतो मातृकया कृतं सर्वैरेव मन्त्रैः कृतं स्यादित्यर्थः ॥ ७ ॥ ॥ ८ ॥

प्रथममध्यमोत्तमानामधिकारिणां स्वाधिकारानुसारेण मातृकारूपपूजाकरणमित्यभिप्रेत्य तस्यास्त्रैरूप्यमाह–**मातृका च त्रिधेति** । प्रथमोऽधिकारी स्थूलया मातृकया पूजयेत् । मध्यमः सूक्ष्मया । उत्तमः सूक्ष्मतरयेति विभागः । स्थूलादिरूपत्रयं चैवमवगन्तव्यम् । नियतकालपरिपाकाणां हि प्राणिकर्मणां मध्ये परिपक्वाणामुपभोगेन प्रक्षयादितरेषां चापरिपक्वाणां भोगाभावेन तदर्थायाः सृष्टेरनुपयोगात्प्राकृतप्रलये ग्रस्तसमस्तप्रपञ्चा माया स्वप्रतिष्ठे निष्कले परशिवे विलीना यावदवशिष्टकर्मपरिपाकं वर्तते । उक्तं हि–'प्रलये व्याप्यते तस्यां चराचरमिदं जगत्' इति ॥ तथा–'जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते । तेजस्यापः प्रलीयन्ते तेजो वायौ प्रलीयते ॥ वायुः प्रलीयते व्योम्नि तदव्यक्ते प्रलीयते । अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्म निष्कले संप्रलीयते' इति ॥ अव्यक्तं माया तस्याश्च सम्यक्प्रलयो नाम मुक्ताविव नाऽऽत्यन्तिको नाशः । किंतु सुप्तौ सति मायागोचरप्रवृत्तीनामप्यभावात्स्व- प्रतिष्ठपरमात्म प्रकाशस्याप्यत्यन्तनिर्विकल्पतया तद्बलाद्भासमानाया अप्यप्रतिभातप्रायत्वं न पुनरनवभानमेव, प्रतिभासमात्रशरीरस्य हि मिथ्यावस्तुनोऽनवभाने सत्यभाव एव स्यादिति । न चाभाव एवास्तु । उत्तरसर्गानुपपत्तिप्रसङ्गादिति । अवशिष्टैः प्राणिकर्मभिश्च तस्यां मायायां विलीयैव क्रमेण प्राप्तपरिपाकैः स्वफलप्रदानाय परमेश्वरस्य सिसृक्षात्मिका मायावृत्तिर्जन्यते । सैषा मायावस्थेक्षण-कामतपोविचिकीर्षादिशब्दैरभिधीयते । 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति च्छान्दोग्ये । 'स ऐक्षत लोकान्नु सृजै' इत्यैतरेयके । 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इति तैत्तिरीयके । 'तपसा चीयते ब्रह्म' इति मुण्डके । 'विचिकीर्षुर्घनीभूता क्वचिदभ्येति बिन्दुताम्' इति प्रपञ्चसारे ।अपरिपक्वकर्मभिदाद् घनीभावस्तदर्थव्यापारो विचिकीर्षा । परिपक्वकर्माकारपरिणतमायाविशिष्टं विन्दुस्तदिदमविभागा-

शक्ति की ही नहीं, सभी देवताओं की पूजा इसी तरह वैदिकी व तान्त्रिकी विभागों में बँटी है । जो इनके अधिकार के विभाजन को न जानकर स्वाधिकार का अतिक्रमण कर पूजा करता है, वह मनुष्य पतित होता है ॥ ५ ॥ बाह्य पूजा का संक्षेप है–आसन, आवाहन, अर्घ्य, पाद्य, आचमन, स्नान, अधोवस्त्र, उत्तरीय, हर तरह के गहने, चंदन, फूल, धूप, दीप, नैवेद्य, माला, उद्वर्तन, नमन और विसर्जन–ये सब उपचार मातृका से (अक्षरात्मक मंत्रों से) समर्पित करने चाहिये क्योंकि मातृका सब मंत्रों में मुख्य है । इसमें कारण है कि मातृका से (अक्षरों से) विरहित कोई मंत्र नहीं हैं । (सभी मंत्र अक्षरघटित होते ही हैं । अतः सब अक्षरों के उच्चारण से सभी मन्त्र उच्चरित हो गये ।) ॥ ६–८ ॥

---

१. ङ. वा । २. ख. इत्थमिति ।

अथाभ्यन्तरपूजायामधिकारो भवेद्यदि । त्यक्त्वा बाह्यामिमां पूजामाश्रयेदपरां बुधः ॥ १० ॥

पूजा याऽभ्यन्तरा साऽपि द्विविधा परिकीर्तिता । साधारा च निराधारा निराधारा महत्तरा ॥ ११ ॥

वस्थमव्यक्तमुच्यते । अत एव तस्योत्पत्तिः स्मर्यते—'तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम' इति । स एव जगदङ्कुराकारोऽध्यात्मं चाऽऽधारादा[1]वभिव्यज्यमानः कुण्डल्यादिशब्दैरुच्यते । यदाहुः—'शक्तिः कुण्डलिनीति विश्वजननव्यापारबद्धोद्यमां ज्ञात्वेत्थं न पुनर्विशन्ति जननीगर्भेऽर्भकत्वं नराः'' इति । 'कुण्डली सर्वथा ज्ञेया सुषुम्नान्तर्गतैव सा' इति । बिन्दोः कालक्रमेण चिदचिदंशविभागात्त्रैविध्यं तत्रैवोक्तम्—'कालेन विद्यमानस्तु स बिन्दुर्भवति त्रिधा ॥ स्थूलसूक्ष्मपरत्वेन तस्य त्रैविध्यमिष्यते । स बिन्दुनादबीजत्वभेदेन च निगद्यते' इति ॥ अचिदंशः स्थूलो बीजम् । चिदचिन्मिश्रः सूक्ष्मो नादः । स एव पुरुषश्चिदंशः परो बिन्दुः स एवेश्वरः । तस्य च त्रिधाविभागसमये शब्दब्रह्मापरनामधेयस्य रवस्योत्पत्तिरुक्ता—'बिन्दोस्तस्माद्भिद्यमानाद्रवो व्यक्तात्मको भवेत् । स रवः श्रुतिसंपन्नैः शब्दब्रह्मेति गीयते' इति ॥ स एव शब्दब्रह्मात्मको रवो जगदुपादानं बिन्दुतादात्म्येन सर्वगतोऽपि प्राणिनां मूलाधारेऽभिव्यज्यत इत्युक्तम्—'स तु सर्वत्र संस्यूतो मूले व्यक्तस्तथा पुनः । आविर्भवति देहेषु प्राणिनामर्थविस्तृतः' इति ॥ देहेष्विति मूलाधारप्रदेशे तस्यानुस्यूतस्य रवस्य संस्थितपवनबलेनाभिव्यक्तिराविर्भावः । तत्र हि पवनस्योत्पत्तिरुक्ता 'देहेऽपि मूलाधारेऽस्मिन्समुद्यति समीरणः' इति । ज्ञातमर्थं विवक्षोः पुरुषस्येच्छया जातेन प्रयत्नेन मूलाधारस्थः पवनः संस्कृतस्तेन पवनेन सर्वत्र स्थितं शब्दब्रह्म तत्राभिव्यज्यते । तदभिव्यक्तं शब्दब्रह्म कारणबिन्द्वात्मकं स्वप्रतिष्ठतया निस्पन्दं सत्परा वागित्युच्यते । तदेव नाभिपर्यन्तमागच्छता तेन वायुनाऽभिव्यक्तं विमर्शरूपेण मनसा युक्तं सामान्यस्पन्दप्रकाशरूपिणी कार्यबिन्दुतत्त्वात्मिकाऽधिदैवमीश्वररूपा पश्यन्ती वागित्युच्यते । तदेव शब्दब्रह्म तेनैव वायुना हृदयपर्यन्तमभिव्यज्यमानं निश्चयात्मिकया बुद्ध्या युक्तं विशेषस्पन्दरूपनादबिन्दुमय्यधिदैवतं हिरण्यगर्भरूपा मध्यमा वागित्युच्यते । तदेवाऽऽस्यपर्यन्तं तेनैव वायुना कण्ठादिस्थानेष्वभिव्यज्यमानमकारादिक्षकारान्तवर्णमालारूपं परश्रोत्र-ग्रहणयोग्यं बीजात्मकमधिदैवं विराड्रूपं वैखरी वागित्युच्यते । तदुक्तमाचार्यैः—'मूलाधारात्प्रथममुदितो यस्तु भावः पराख्यः पश्चात्पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धियुङ्मध्यमाख्यः । वक्त्रे वैखर्यथ रुरुदिषोरस्य जन्तोः सुषुम्नां बद्धस्तस्माद्भवति पवनः प्रेरितो वर्णसंज्ञः' इति ॥ तत्र वैखरी **स्थूला** मातृका सा प्रथमाधिकारिण पूजोपकरणम् । मध्यमा **सूक्ष्मा** मातृका मध्यमाधिकारिणः पूजोपकरणम् । कारणकार्यबिन्द्वात्मिका परापश्यन्तीरूपा **सूक्ष्मतरा** मातृकोत्तमाधिकारिणः पूजोपकरणम् । मातृकात्रैविध्यं सर्वमन्त्रोपलक्षणम् । अतश्च सर्वमन्त्रा उक्तरीत्या स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतररूपाः प्रथममध्यमोत्तमाधिकारिविषया इत्यर्थः । बहुवक्तव्यश्चा-यमर्थः । किंचित्तु प्रकृतोपयोगादाविष्कृतमिति । **गुरूपदेशत** इति । उपदेशमन्तरेण शास्त्रैर्दुरधिगमत्वात्तथैव च फलातिशयत्वा-च्चेत्यर्थः ॥ ९ ॥

प्रथममभिधानाद्बाह्यपूजैव मुख्येतरा जघन्येतिभ्रमनिरासाय सुलभत्वनिमित्तं बाह्यायाः प्रथममभिधानम् । उत्तमा त्वितरैवेत्याह—**अथाभ्यन्तरेति** । पूजास्वरूपस्य शास्त्रतः सम्यक्परिज्ञानं चित्तस्यैकाग्रता **वाऽधिकारः** ॥ १० ॥

मनसा परिकल्पितमूर्तावाधारे सच्चिदानन्दैकरसस्य शिवस्याऽऽवाहनाद्यात्मिका या सा साधारेत्याह—**साधारेति** । आधारकल्पितमन्तरेण साक्षात्तस्यैवानुसंधानं **निराधारा** । अत एव **महत्तरेत्युक्तम्** ॥ ११ ॥

मातृकाओं का उच्चारण तीन प्रकार से होता है—वैखरी द्वारा स्थूल रूप से, मध्यमा द्वारा सूक्ष्मरूप से और परा व पश्यन्ती द्वारा सूक्ष्मतर रूप से । मातृकाओं को गुरुमुख से जानना चाहिये अन्यथा करोड़ों शास्त्रों द्वारा उन्हें नहीं समझा जा सकता ॥ ९ ॥ यदि इस पूजा से चित्त शुद्ध होने के कारण या अन्य कारण से चित्त में एकाग्रता अधिक हो आभ्यन्तर पूजा में अधिकार हो जाये तो बुद्धिमान् को चाहिये कि इस बाह्य पूजा को छोड़कर आन्तर पूजा करे ॥ १० ॥

जो आभ्यन्तर पूजा है वह भी दो प्रकार की बतायी गयी है । एक साधार, जिसमें मन से मूर्ति की कल्पना कर उसमें आवाहनादि मन से ही किये जाते हैं, व दूसरी निराधार जिसमें मूर्ति आदि आधार की कल्पना के बिना सीधे ही उपास्य का चिन्तन किया जाता है ॥ ११ ॥

---

१. क. ग. ङ. °दाऽऽनाभि° ।

साधारा या तु साधारे निराधारा तु संविदि । आधारे वर्णसंक्लृप्तविग्रहे परमेश्वरीम् ॥ १२ ॥

आराधयेदतिप्रीत्या गुरुणोक्तेन वर्त्मना । या पूजा संविदि प्रोक्ता सा तु तस्यां मनोलयः ॥ १३ ॥

संविदेव परा शक्तिर्नेतरा परमार्थतः । अतः संविदि तां नित्यं पूजयेन्मुनिसत्तमाः ॥ १४ ॥

संविद्रूपातिरेकेण यत्किञ्चित्प्रतिभासते । स हि संसार आख्यातः सर्वेषामात्मनामपि ॥ १५ ॥

अतः संसारनाशाय साक्षिणीमात्मरूपिणीम् । आराधयेत्परां शक्तिं प्रपञ्चोल्लासवर्जिताम् ॥ १६ ॥

संविद्वाचकशब्देन संविद्रूपामनाकुलः । अर्चयेदादरेणैव शिवामादौ महामतिः ॥ १७ ॥

कल्पिताधारस्वरूपमाह—**आधार** इति । मूलाधारमुखोद्गतबिसतन्तुनिभप्रभाप्रभावितसुधियाऽऽधारविस्तृतलिपिजाताहितमुखकरचरणादिकायां मुद्राक्षमालामृतकलशपुस्तकहस्तायां मूर्तौ संविद्यावाहनादिभिराराधयेदित्यर्थः । **सा तु तस्यामि**[1]ति तुशब्देनाऽऽधारवन्मानसोपचारकल्पनाया अपि विरहलक्षणं वैलक्षण्यमाह । किं तर्ह्यस्याः पूजाया रूपमित्यत आह—**तस्यां मनोलय** इति । विषयान्तरव्यावृत्त्या तदेकविषयचित्तप्रवाहानुवृत्तिरि[2]त्यर्थः ॥ १२ ॥ ॥ १३ ॥

कथमस्या निराधारतेति चेत् ? पूज्यतदधिष्ठानयोरात्यन्ति[3]कभेदविरहादित्याह—**संविदेवेति** । शक्तिस्वरूपं तु 'वक्ष्ये पूजाविधिं शक्तेः परायाः' इत्यत्रोक्तम् । शक्तिशक्तिमद्भेदव्यवहारोऽप्यौपाधिकादेव भेदान्न वास्तवादित्याह—**नेतरेति** । अत एवातः **संविदि तां नित्यमि**त्यपि भेदव्यवहार आधारान्तरविरहनिबन्धन एवेति । 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' इतिवत् ॥ १४ ॥

उक्ते निराधाराया महत्त्वे संसारसागरोत्तारणहेतु[4]त्वकारणमाह—**संविद्रूपातिरेकेणेति** । साधारायामिव पूज्यपूजाधिकरणपूजकपूजोपकरणादिप्रपञ्चलक्षणसंसारसमुल्लासविरहात्संसारनाशहेतुत्वेनेयं महत्तरेत्यर्थः ॥ १५ ॥

साक्षिणीमिति । साक्ष्यप्रपञ्चोल्लासविरहेऽपि साक्षित्वं स्वरूपा[5]परोक्षाभिप्रायं तदुल्लाससमयभावि वा तद्विरहदशायामसदप्युपलक्षणत्वेनोपादीयते ॥ १६ ॥

निरस्तसमस्तोपाधौ निर्विकल्पिकायां संविदि चित्तमवतारयितुमुपायक्रममाह—**संविद्वाचके**ति । संविद्वाचकशब्दाः प्रणवहृल्लेखादिमन्त्राः । प्रणवो ह्यकारोकारमकारैर्जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिसाक्षिणीं बिन्दुनादशक्तिशान्तैश्च तुरीयतुरीयातीतशक्तिशान्तात्मिकां संविदं प्रतिपादयन्निष्प्रपञ्चसंविदि पर्यवस्यति । एवं हृल्लेखामन्त्रोऽपि हकाररेफेकारबिन्दुनादशक्तिशान्तलक्षणैः सप्तभिर्मार्गैरिति । अनयोश्चैते भागा आगमे प्रदर्शिताः—'अकारश्चाप्युकारश्च मकारो बिन्दुरेव च । नादः शक्तिश्च शान्तश्च तारभेदाः प्रकीर्तिताः ॥ हकारो रेफ ईकारो बिन्दुनादौ तथैव च । शक्तिशान्तौ च संप्रोक्ताः शक्तेर्भेदास्तु सप्त[6]धा' इति ॥ **संविद्रूपा**मिति । संविदेव हि हृल्लेखामन्त्रप्रतिपाद्या देवतोक्ता 'बोधस्वरूपवाची संवित्तत्रैव देवता गुरुभिः' इति । प्रणवस्य तु संविद्वाचकता सकलश्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासैरु[7]द्घोष्यत एव । अत **आदौ** प्रथमावस्थायां विक्षेपकविषयव्यावृत्तेन चेतसा यथोक्तमन्त्ररूपैः संविद्वाचकशब्दैर्निर्विकल्पायां संविद्यवतरेदित्यर्थः ॥ १७ ॥

जो साधार आभ्यन्तर पूजा है यह आधार में (मनःकल्पित मूर्ति आदि में) की जाती है और निराधार तो ज्ञान में ही की जाती है । साधार पूजा के अधिकारी को चाहिये कि वर्णघटित मूर्तिरूप आधार में गुरु द्वारा बताये प्रकार से प्रसन्नतापूर्वक परमेश्वरी की आराधना करे । जो निराधार पूजा ज्ञान में कही गयी है उसका तो स्वरूप है अन्य कोई चिन्तन न करते हुए केवल उपास्य विषयक चिन्तन करना—ध्यान करना ॥ १२–१३ ॥ वस्तुतः ज्ञान ही परा शक्ति है, उससे भिन्न नहीं । अतः ज्ञान रूप से ही उसका नित्य चिन्तन करना चाहिये ॥ १४ ॥ ज्ञान से अतिरिक्त जो कुछ भी प्रतीत होता है वही संसार कहा गया है । अतः सभी के व अपने संसरण की निवृत्ति के लिये प्रपंचरूप उद्रेकरहित, समस्तसाक्षिरूप, आत्मरूपिणी परा शक्ति की आराधना करनी चाहिये ॥ १५–१६ ॥ शान्त व विवेकी व्यक्ति को चाहिये कि प्रणवादि ज्ञानबोधक शब्दों के सहारे पहले ज्ञानरूप शिवा का श्रद्धापूर्वक अर्चन—अर्थात् अनुसन्धान—करे ॥ १७ ॥

---

१. ख. °मित्यत्र तु° । २. ख. °रिति द्वयोरर्थः । ३. °न्तिकाद्भे° इति बाल. । ४. ख. ग. °तुत्वं का° । ५. ङ. °पापारोक्षाभि° । ६. ङ °प्तचेति । ७. ग. °रुद्घोध्यत ।

पुनः समस्तमुत्सृज्य स्वपूर्णां[1] परसंविदम् । स्वात्मनैवानुसंधाय पुनस्तच्च विसर्जयेत ॥ १८ ॥

स्वानुभूत्या स्वयं साक्षात्स्वात्मभूतां महेश्वरीम् । पूजयेदादरेणैव पूजा सा पुरुषार्थदा ॥ १९ ॥

पूजाविधिर्मया शक्तेः प्रोक्तो वेदैकदर्शितः । पूजयध्वं भवन्तोऽपि मुदा तामुक्तवर्त्मना ॥ २० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे श्रीसूतसंहितायां शिवमाहात्म्यखण्डे शक्तिपूजाविधिर्नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अत्र योगे निष्णातस्यानन्तरकक्षामाह—**पुनः समस्तमिति** पादत्रयेण । आलम्बनमात्रपरित्यागेन जागरादिक्रमपरित्यागेन च परमायामेव संविदि प्रत्ययावृत्तिं कृत्वेत्यर्थः । तृतीयां कक्षामाह—**पुनस्तच्च विसर्जयेदिति** । इत्थमनुसंधानेन साक्षात्कृतपरसंवित्स्वरूपः स्वयं तदात्मा भूत्वा ध्यानध्यातृध्येयविभागानुसंधानमपि परित्यजेदित्यर्थः । द्वितीयकक्षायां हि प्रत्यया अप्यनुसंधीयन्ते । इह तु स्वरूपतः सतोऽपिताननुसंधाय प्रत्येतव्यमेवानुसंधीयत इत्येतावानेव विशेषः । प्रत्ययस्वरूपस्याप्यभावे तु सुषुप्तितः समाधेरविशेषापातः ॥ १८ ॥

परित्यज्य कथं तिष्ठेदित्यत आह—**स्वानुभूत्येति** । प्रत्ययानामप्यनवभासे परानन्दैकरसस्वप्रकाशसंविदात्मना स्वयमपरोक्षतयाऽवभासमानोऽवतिष्ठतीति । इयं हि संविदः परमा पूजा । एषा च सकलसंसारकारणाविद्यानिरासेन यावदारम्भककर्मसंस्कारानुवृत्तिस्तावज्जीवन्मुक्तिलक्षणं, तन्निवृत्तौ परकैवल्यलक्षणं च पुरुषार्थं ददातीत्यर्थः ॥ १९ ॥

वेदैकदर्शित इति । श्वेताश्वतरे ध्यानयोगस्यैव परशक्तिसाक्षात्कारहेतुतोक्ता 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इति । एको मुख्यः केवलो वा संदर्शित एकदर्शितः । वेदेनैकेन दर्शित इति विग्रहे 'पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन' इति प्रथमानिर्देशादेकशब्दस्यैव पूर्वनिपात एकवेददर्शित इति स्यात् । **पूजयध्वमिति**मध्यमपुरुषेणाऽऽक्षिप्तस्य युष्मच्छब्दस्यापिनाऽन्वयः । **भवन्त** इति तु प्रथमानिर्देशो शत्रन्तम् । यूयमपि तां संविदमुक्तवर्त्मना तद्रूपाः सन्तोऽलभ्यलाभनिबन्धनया मुदोपेताः पूजयध्वमित्यर्थः ॥ २० ॥

इति श्रीमत्काशीविलासक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवापरायणेनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन माधवाचार्येण विरचितायां श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां शिवमाहात्म्यखण्डे शक्तिपूजाविधिर्नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

फिर शब्दादि सहारे छोड़कर स्वतः पूर्ण परा ज्ञानशक्ति का स्वात्मरूप से ध्यान करे । तदनन्तर ध्याता-ध्यान-ध्येय के विभाग को भी छोड़ दे और स्वयं अपरोक्ष स्वानुभवरूप से स्थित रहे, यही स्वात्मरूप महेश्वरी की सर्वश्रेष्ठ पूजा है । यों श्रद्धापूर्वक पूजा करनी चाहिये । यह चरम पूजा परमपुरुषार्थदायिका है ॥ १८—१९ ॥ वेदों में मुख्यतः बतायी शक्तिपूजाविधि मैंने आप लोगों को बता दी । आप भी प्रसन्नता से उसका इस विधि से पूजन कीजिये ॥ २० ॥

---

१. ग. स्वपूर्णं ।

षष्ठोऽध्यायः

नैमिषीया ऊचुः —भगवञ्शिवभक्तस्य कथं पूजा प्रकीर्तिता ।

फलं च कीदृशं प्रोक्तं पूजायास्तद्वदाऽऽदरात् ॥ १ ॥

सूत उवाच—वक्ष्ये पूजाविधिं विप्राः शिवभक्तस्य सादरम् ।

शृणुध्वं श्रद्धयोपेताः कुरुध्वं यत्नतः सदा ॥ २ ॥

येन केन प्रकारेण शिवभक्तस्य जायते । मनस्तृप्तिस्तथा कुर्यात्पूजा सैव मयोदिता[1] ॥ ३ ॥

शु[2]द्धतोयं समादाय शिवभक्तस्य सादरम् । पादं प्रक्षालयेत्ताऽपि पूजा विप्रा गरीयसी ॥ ४ ॥

तैलाभ्यङ्गं तथा पूजां प्रवदन्ति मनीषिणः । गात्रमर्दनमप्यस्य शिवभक्तस्य सुव्रताः ॥ ५ ॥

वेदेन मुख्यतया दर्शितसंवित्पूजाविधौ ये न समर्थास्तेषामपि सामर्थ्यप्राप्तिरनायासेन तत्फलप्राप्तिश्च यया शिवभक्तपूजया भवति सा कीदृशीति मुनयः पृच्छन्ति—भग[3]वन्निति[4] । अष्टविधा भक्तिस्तन्मध्येऽपि शिवभक्तपूजैव प्रथमत उक्ता शिवपुराणे—'मद्भक्तजनवात्सल्यं पूजायां चानुमोदनम् । स्वयमभ्यर्चनं भक्त्या मदर्थं चाङ्गचेष्टितम् ॥ मत्कथाश्रवणे भक्तिः स्वरनेत्राङ्गविक्रिया । मन्नामकीर्तनं नित्यं यश्च मां नोपजीवति' इति ॥ १ ॥

अल्पेन सुकरेणोपायेन परमपुरुषार्थः कथं सिध्येदित्यनाश्वासात्तच्छ्रवणे[5] करणे वाऽनादरो न विधेय इत्याह—**शृणुध्वं श्रद्धयोपेता** इति ॥ २ ॥ संग्रहेण पूजामाह—येन केनेति ॥ ३ ॥

शिवभक्त-पूजाविधि नामक छठा अध्याय

नैमिषारण्यवासियों ने सूतजी से निवेदन किया—हे भगवन् ! हमें कृपया यह बताइये कि शिवभक्तों की पूजा कैसे की जाती है और उसका क्या फल है ॥ १ ॥ (पुराणादि में बताया है कि भक्तिमार्ग के आठ सोपानों में भक्तों की सेवा प्रथम है । अतः उस सेवा के स्वरूप की जिज्ञासा संगत है) ।

सूतजी ने कहा—हे विप्रो ! मैं सावधान होकर शिवभक्त की पूजा का विधान बताता हूँ, आप लोग श्रद्धायुक्त होकर सुनें व प्रयत्न पूर्वक उसे करें ॥२॥

जिस किसी प्रकार के क्रियाकलाप से शिवभक्त का मन सन्तुष्ट हो, उसे (क्रियाकलाप को) करना भक्तपूजा है, यह मेरा संक्षिप्त कथन है ॥ ३ ॥ साफ पानी से शिवभक्त के चरण धोना उनकी श्रेष्ठ पूजा है ॥ ४ ॥ हरानुचर की तेल-मालिश करना उसका शरीर दाबना, उसे अन्नपान देना, धन देना, वस्त्र देना, माला-चंदनादि देना, कन्या देना, भूमि देना, गायें देना, तिल देना, जल का बर्तन देना, घर देना, तालपत्र देना, बर्तन देना, छाता व पादुका देना, शय्या देना—ये सभी शिवभक्त की पूजा हैं ॥ ५—९ ॥

---

१. यथोक्तं वायुसंहितायामुत्तरभागे (३.३०)—'सर्वाभयप्रदानं च सर्वानुग्रहणं तथा । सर्वोपकारकरणं शिवस्याराधनं विदुः ॥'' इति । अन्यत्रापि—'येन केनाप्युपायेन यस्य कस्यापि प्राणिनः । सन्तोषं जनयेत्प्राज्ञस्तदेवेश्वरपूजनम् ॥' इति । नन्वेवं मद्यकामिने सुरादानस्य शिवपूजात्वं स्यात् ? न स्यात्, सुरायाः सन्तोषाहेतुत्वात् । पुनः सुरालोलुभतादर्शनात् । न चैवमन्नादिदानमप्यपूजनमिति वाच्यम्, अस्माद्वचनात् तस्य पूजात्वाऽसिद्धेरिष्टत्वात् । यया कया च विधया शिवज्ञानं समेषां जनयेदित्यत्रैव तात्पर्यात् । प्रकृते तु प्राणिमात्रस्यासंग्रहाद्भक्तस्यैव वचनात्तस्य पुन र्दुष्टेच्छाऽसंभवान्न शंकावकाशः । २. घ. ङ., शुद्धं तो° । ३. क. ख. ग. भगवञ्शिवभक्तस्येति । ४. ख. °ति ॥ १ ॥ ५.ग. °णे वा°

अन्नपानप्रदानं च प्रोक्ता पूजा गरीयसी । अ[1]र्थदानं च पूजा स्याद्वस्त्रदानमपि द्विजाः ॥ ६ ॥

स्रक्चन्दनादिदानं च वनितादानमेव[2] च । भूमिदानं च गोदानं तिलदानमपि द्विजाः ॥ ७ ॥

जलपात्रप्रदानं च गृहदानं तथैव च । तालवृन्तप्रदानं च पात्रदानं तथैव च ॥ ८ ॥

छत्रपादुकयोर्दानं शय्यादानं तथैव च । शिवभक्तस्य पूजेति प्रवदन्ति[3] विपश्चितः ॥ ९ ॥

पुरा कश्चिद् द्विजा वैश्यः समृद्धोऽभून्महीतले । तस्य पुत्राः समुत्पन्नाश्चत्वारो वेदवित्तमाः ॥ १० ॥

तेषां ज्येष्ठतमः पुत्रः सत्यवादी महाधनः । सर्वभूतानुकम्पी च ब्रह्मचर्यपरायणः ॥ ११ ॥

शिवभक्तः सदा विप्राः प्रसन्नो नियताशनः । जन्ममृत्युभयाक्रान्तस्त्वरमाणो विमुक्तये ॥ १२ ॥

श्रीमद्वाराणसीमेत्य ब्रह्मविष्ण्वादिसेविताम् । स्वधनं शिवभक्तेभ्यः प्रदत्त्वा श्रद्धया सह ॥ १३ ॥

पूजया शिवभक्तानां विमुक्तः कर्मबन्धनात् । द्वितीयो वैश्यपुत्र[4]स्तु धनिकोऽतीव सुव्रताः ॥ १४ ॥

सोमनाथं महास्थानं सर्वकामफलप्रदम् । समागत्य सह स्वस्य भार्यया वेदवित्तमाः ॥ १५ ॥

सर्वस्वं शिवभक्तेभ्यः प्रदत्त्वा श्रद्धया सह । पूजया शिवभक्तानां तथा मुक्तिमवाप्तवान् ॥ १६ ॥

पुत्रस्तृतीयो वैश्यस्य प्रोज्झिताशेषबान्धवः । अन्यायेनैव मार्गेण वर्तमानश्चिरं द्विजाः ॥ १७ ॥

महाधनपतिर्भूत्वा पूर्वपुण्यबलेन सः । श्रीमद्व्याघ्रपुरं पुण्यं समागत्य द्विजोत्तमाः ॥ १८ ॥

प्रपञ्चयति–**शुद्धमित्यादिना** ॥ ४ ॥ ॥ ५ ॥ ॥ ६ ॥ ॥ ७ ॥ ॥ ८ ॥ ॥ ९ ॥

संग्रहविवरणाभ्यामभिहितायां पूजायामाश्वासातिशयजननाय पुरावृत्तान्युदाहरति–**पुरा कश्चिदित्यध्यायशेषेण** ॥ १० ॥

सत्यदयाब्रह्मचर्यैरेव शिवभक्तिर्लभ्येत्याह–**सत्यवादीति** ॥ ११ ॥

तत्प्रसादवतामेव सकलप्राणिसाधारणावपि जन्ममृत्यू भयहेतुत्वेन भासेते इत्याह–**जन्ममृत्युभयेति** । श्रूयते हि–विवेकिनं नाचिकेतसं प्रति संतुष्टस्य मृत्योर्वचनम्–'न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् । अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे' इति ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥१७ ॥ १८ ॥

प्राचीन काल में पृथ्वी पर एक सम्पत्तिशाली बनिया था जिसके चार पुत्र थे ॥ १० ॥ उनमें बड़ा पुत्र सत्यवादी, बहुत धनी, सबपर कृपा करने वाला व ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला था ॥ ११ ॥ वह शिव का भक्त था अतएव सदा प्रसन्न रहता था । नियत आहार ग्रहण करता था और जन्ममृत्युरूप संसार से भयभीत हो मोक्ष-प्राप्ति के लिये आतुर था ॥ १२॥ जहाँ ब्रह्मा विष्णु आदि देवता शिवाराधन करते हुए स्थायी निवास करते हैं उस वाराणसी नगरी को वह वणिकपुत्र गया । वहाँ शिवभक्तों को श्रद्धापूर्वक अपना धन देकर इस शिवभक्तों की पूजा के फलस्वरूप कर्मबन्धन से छूट गया । हे सुव्रतो ! बनिये का दूसरा पुत्र अतीव धनी था ॥ १३–१४ ॥ वह सारी कामनाओं को सिद्ध करने वाले सोमनाथ नामक उत्तम तीर्थ को अपनी पत्नी समेत गया ॥ १५ ॥ वहाँ श्रद्धासहित उसने अपना सर्वस्व शिवभक्तों को अर्पित कर दिया । यों शिवभक्तों की पूजा के कारण उसने भी मोक्ष प्राप्त किया ॥ १६ ॥ बनिये का तीसरा पुत्र अपने सब बन्धुओं से पृथक् हो गलत रास्ते पर चलता हुआ बहुत धनी हो गया । किन्तु पूर्वजन्म के पुण्यवशात् वह व्याघ्रपुर नामक शिवक्षेत्र को प्राप्त हुआ ॥ १७–१८ ॥

१. ग. अर्घ्यदानं । २. विवाहेच्छुकाय तस्मै स्वीयाया अन्यदीयाया वा योग्यायाः कन्यायाः दानं दापनं वेत्यर्थः । ३. ग. °न्ति हि पण्डिताः । ४. ग. ङ. °त्रश्च ध° ।

अन्नपानं तथा वस्त्रं चन्दनं पुष्पमेव च । ताम्बूलं शिवभक्तेभ्यः प्रदत्त्वा श्रद्धया सह ॥ १९ ॥

संवत्सरत्रयं कृत्वा पूजामेव द्विजोत्तमाः । पूजया शिवभक्तानां विमुक्तः कर्मबन्धनात् ॥ २० ॥

वैश्यपुत्रश्चतुर्थोऽपि ब्राह्मणानविचारतः । हत्वा सर्वधनं तेषां समादाय मुनीश्वराः ॥ २१ ॥

विटानां च नटानां च गायकानां तथैव च । मूर्खाणामपि दत्त्वा स सदा वेश्यापरोऽभवत् ॥ २२ ॥

स पुनः सर्वरोगार्तो गृहीतो ब्रह्मरक्षसा । एवं चिरगते काले पिता तस्य महाधनः ॥ २३ ॥

पुत्रस्नेहेन संतप्तः सत्वरं द्विजपुङ्गवम् । सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञं समागत्य मुनीश्वराः ॥ २४ ॥

प्रणम्य दण्डवद्विप्रं दत्त्वा तस्मै महाधनम् । पुनर्विज्ञापयामास पुत्रवृत्तमशेषतः ॥ २५ ॥

श्रुत्वा वृत्तं द्विजस्तस्य ब्राह्मणैः पण्डितोत्तमैः । विचार्य सुचिरं कालं विनिश्चित्याब्रवीद् द्विजाः ॥ २६ ॥

ब्राह्मण उवाच—

श्रीमद्वृद्धाचलं नाम स्थानं सर्वनिषेवितम् । सर्वोपद्रवनाशाय शंकरेण विनिर्मितम् ॥ २७ ॥

ब्रह्मविष्ण्वादिभिर्नित्यं सेवितं सर्वदाऽऽदरात् । नराणां दर्शनादेव वत्सराद् भुक्तिमुक्तिदम् ॥ २८ ॥

अल्पदानेन सर्वेषां महादानफलप्रदम् । ब्रह्महत्यासुरापानस्वर्णस्तेयादिनाशनम् ॥ २९ ॥

अगस्त्येन च रक्षार्थं लोकानां पूजितं पुरा । मणिमुक्तानदीतीरे सर्वतीर्थसमावृते ॥ ३० ॥

अस्ति तत्सह पुत्रेण समागत्य मम प्रियः[1] । नद्यामस्यां स्वपुत्रेण सह स्नात्वा दिने दिने ॥ ३१ ॥

प्रदत्त्वेति । संज्ञापूर्वकस्य विधेरनित्यत्वाल्ल्यबभावः ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥

वाराणसीसोमनाथव्याघ्रपुरवृद्धाचललक्षणानि महत्तमानि तीर्थानि प्राप्तानामपि तद्बलाल्लब्धविवेकाना[2]मन्ततः शिवभक्तपूजयैव परमपुरुषार्थप्राप्तिर्जातेति पुरावृत्तचतुष्टयोदाहरणतात्पर्यम् । अत एव हि तदभावे तेषामपि न फलवत्तेति वक्ष्यति—"अदत्त्वा

वहाँ उसने श्रद्धापूर्वक शिवभक्तों को अन्न, पेय, वस्त्र, चन्दन, फूल, ताम्बूल आदि समर्पित किये ॥ १९ ॥ यों तीन साल तक उसने भक्तपूजा की जिसके प्रभाव से वह कर्मप्रबन्ध से मुक्त हो गया ॥ २० ॥ बनिये का चौथा पुत्र तो बिना किसी विवेक के ब्राह्मणवध कर उनका सब धन ले उसे विट, नट, गायक व मूर्खों में बाँटते हुए वेश्यागामी हो रहा ॥ २१–२२ ॥ (विटादि की चाटुकारिता से सन्तुष्ट हो उन्हें अपना प्रशंसक बनाये रखने के लिये अन्याय से अर्जित धन को उन्हें देता रहा यह समझना चाहिये) । यों करते हुए वह सभी रोगों से ग्रस्त हुआ तथा किसी ब्रह्मराक्षस का उस पर आवेश हो गया । इस प्रकार बहुत समय तक उसके रुग्ण रहने पर उसका धनी पिता पुत्रस्नेहवश दुःखी हुआ और सब शास्त्रों के जानकार किसी श्रेष्ठ ब्राह्मण के पास गया ॥ २३–२४ ॥ उसे दण्डवत् प्रणामकर, बहुत धन भेंटकर अपने पुत्र का सारा हाल बताया ॥ २५ ॥ सारी बात सुनकर उस ब्राह्मण ने अन्य उत्तम पण्डितों से काफी विचारविमर्श कर यह बताया—॥ २६ ॥ ब्राह्मण बोला—भगवान शंकर ने वृद्धाचल नामक एक तीर्थ स्थान पृथ्वी पर बनाया है जो सभी आपत्तियों को निवृत्त करता है । सभी शैव उस स्थान का सेवन करते हैं ॥ २७ ॥ ब्रह्मा विष्णु आदि नित्य वहाँ श्रद्धापूर्वक विराजते हैं । एक साल तक नियमतः उसका दर्शन करने से लोगों को भोग व मोक्ष प्राप्त होते हैं ॥ २८ ॥

---

१. क. ख. प्रिय । ग. प्रिया । २. क. ख. ग. °मन्तः शि° ।

श्रीमद्वृद्धाचलेशानं दण्डवत्प्रणिपत्य च । कृत्वा प्रदक्षिणं भक्त्या शतमष्टोत्तरं हरम् ॥ ३२ ॥

प्रसादयित्वा सद्वैश्य ब्राह्मणं चान्यमेव च । शिवभक्तं समाराध्य स्थानेऽस्मिञ्श्रद्धया सह ॥

पूजया शिवभक्तस्य पुत्रमुद्धर यत्नतः ॥ ३३ ॥

सूत उवाच–

एवमुक्तस्तु वैश्योऽपि ब्राह्मणेन समाहितः । सह पुत्रेण चार्थेन भार्यया बन्धुबान्धवैः ॥ ३४ ॥

श्रीमद्वृद्धाचलं पुण्यं समागत्य मुनीश्वराः । मणिमुक्तानदीतोये महापापविनाशने ॥ ३५ ॥

स्नानं कृत्वा महादेवं श्रीमद्वृद्धाचलेश्वरम् । भक्त्या प्रदक्षिणीकृत्य[1] नित्यमष्टोत्तरं शतम् ॥ ३६ ॥

मनोरमं मठं कृत्वा दत्त्वा तच्छिवयोगिने । नित्यं प्रपूजयामास शिवभक्तानतिप्रियः[2] ॥ ३७ ॥

धनेन धान्येन तिलेन तण्डुलैस्तथैव तैलेन तथोदकेन च ।

दुकूलपुष्पाभरणैरपि द्विजा मनोनुकूलेन च पूजनेन ॥ ३८ ॥

मुष्टिमात्रं यो देशेऽस्मिन्मुनि[3]पुङ्गवाः । यो भुङ्क्ते तस्य संसारान्नहि मुक्तिः कदाचन" इति ॥ 'पूजया शिवभक्तानां भोगमोक्षौ च ना[4]न्यतः' इति ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

बन्धुबान्धवैरिति । बन्धूनां संबन्धिनो बान्धवाः । बन्धुभिस्तद्वन्धुभिश्चेत्यर्थः ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

अष्टोत्तरं शतम् । वारानिति शेषः ॥ ३६ ॥३७ ॥ ३८ ॥

यहाँ किये अल्पदान का भी वही फल है जो अन्यत्र किये महादान का फल होता है । ब्रह्महत्या, सुरापान, स्वर्ण की चोरी आदि महापापों का नाश उस तीर्थ का साल भर किया नियमित दर्शन कर देता है ॥ २९ ॥ पूर्व काल में संसार की रक्षा के लिये अगस्त्य महर्षि ने उसकी पूजा की थी । वृद्धाचल नामक यह स्थान मणिमुक्ता नामक नदी के किनारे है । उस तट पर अन्य भी अनेक तीर्थ हैं ॥ ३० ॥ हे मेरे प्रिय सेठ ! अपने पुत्र सहित यहाँ जाओ । उस नदी में पुत्र सहित रोज़ नहाकर ॥ ३१ ॥ वृद्धाचलेश्वर महादेव को दण्डवत् प्रणाम कर एक सौ आठ बार उनकी परिक्रमा करो ॥ ३२ ॥ हे सद्वैश्य ! उस स्थान पर श्रद्धा से ब्राह्मण और अन्य भी शिवभक्तों को प्रसन्न करो । शिव भक्तों की पूजा से अपने पुत्र का कल्याण करो ॥ ३३ ॥

सूतजी बोले–ब्राह्मण द्वारा यों बताया गया वह वैश्य भोगादि से अपना मन हटाकर पुत्र, पत्नी, बन्धु-बान्धवों सहित वृद्धाचल नामक पुण्य तीर्थ को गया । महापापों के विनाशक मणिमुक्तानदी के जल में स्नान कर वृद्धाचलेश्वर महादेव की प्रतिदिन एक सौ आठ परिक्रमायें करते हुए वह वहाँ रहा ॥ ३४–३६ ॥ यहाँ उसने एक सुंदर मठ बनवाया और एक शिवयोगी को समर्पित कर दिया । वह रोज शिवभक्तों की पूजा करता था ॥ ३७ ॥ धन, अनाज, तिल, चावल, तेल, जल, वस्त्र, पुष्प, अलंकार आदि द्वारा मनोरम पूजन से वह शिवभक्तों को सन्तुष्ट करता था ॥ ३८ ॥

---

१. ङ. °त्य शिवम° । २. शिवभक्ता इति मुनीन्प्रति सम्बोधनम् । नतिप्रियः सन् पूजयामास वैश्य इति च सम्बन्धः । अथवा, भक्तपूजनादेवासौ समेषामतिप्रियः समभवदित्यर्थः । ३. क. ख. °निसत्तमाः । ४. ख. नान्यथेति ।

एवं संवत्सरेऽतीते पुत्रो नीरोगतां गतः । पूजया शिवभक्तानां निवृत्तो ब्रह्मराक्षसः ॥ ३९ ॥

स पुनः शिवभक्तेभ्यः प्रदत्त्वा धनमर्जितम् । अस्मिन्देशे विमुक्तोऽभूत्पूजया परयाऽनया ॥ ४० ॥

पिता तस्य महाधीमान्देशस्यास्य तपोधनाः । ज्ञात्वा माहात्म्यमाह्लादात्सर्वस्वं वेदवित्तमाः ॥ ४१ ॥

प्रदत्त्वा शिवभक्तानां विमुक्तः कर्मबन्धनात् । तस्य बन्धुजनाश्चैव शिवभक्तस्य पूजया ॥ ४२ ॥

अनायासेन संसाराद्विमुक्तास्तत्र सुव्रताः । अस्मिन्देशे प्रदत्तं यन्मुष्टिमात्रमपि द्विजाः ॥ ४३ ॥

तदनन्तं भवत्येव नात्र कार्या विचारणा । अदत्त्वा मुष्टिमात्रं यो देशेऽस्मिन्मुनिसत्तमाः ॥ ४४ ॥

यो भुङ्क्ते तस्य संसारान्न हि मुक्तिः कदाचन । अगस्त्यशिष्यो धर्मिष्ठः श्वेताख्यो भगवान्मुनिः ॥ ४५ ॥

वैश्यपुत्रस्य वैश्यस्य बन्धूनामपि सुव्रताः । श्रुत्वा मुक्तिमगस्त्येन प्रेरितो मुनिसत्तमाः ॥ ४६ ॥

प्राप्यैतच्छ्रद्धया स्थानं श्रीमद्वृद्धाचलाभिधम् । मणिमुक्तानदीतोये स्नानं कृत्वा समाहितः ॥ ४७ ॥

अर्कवारे तथाऽष्टम्यां पर्वण्यार्द्रादिने तथा । मघर्क्षे च महादेवं श्रीमद्वृद्धाचलेश्वरम् ॥ ४८ ॥

पूजयामास धर्मात्मा मणिमुक्तानदीजलैः । तज्जलं पूजितं तेन श्वेतेनैवाभवन्नदी ॥ ४९ ॥

नाम्ना श्वेतनदीत्युक्ता सर्वपापविनाशिनी । पुनः श्वेतो मुनिः श्रीमाञ्श्रद्धया परया सह ॥ ५० ॥

पूजयामास धर्मज्ञः शिवभक्ताननेकधा । देवदेवो महादेवः श्रीमद्वृद्धाचलेश्वरः ॥ ५१ ॥

सांनिध्यमकरोत्तस्य भक्तानां पूजया तथा । मुनिश्च देवदेवेशं श्रीमद्वृद्धाचलेश्वरम् ॥ ५२ ॥

पूजयामास पुष्पेण पत्रेणैवोदकेन च । एतस्मिन्नन्तरे विप्राः शिवस्य परमात्मनः ॥ ५३ ॥

नीरोगतां गतः । निवृत्तो ब्रह्मराक्षस इति । न केवलं परमफलमपवर्ग एवावान्तरफलमारोग्यादिकमपि शिवभक्तपूजया भवतीत्यर्थः ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

इस प्रकार करते हुए एक साल बीतने पर उसका पुत्र नीरोग हो गया तथा शिवभक्तों की पूजा के प्रभाव से ब्रह्मराक्षस भी निवृत्त हो गया ॥ ३९ ॥ उस वणिकपुत्र ने भी अपना कमाया धन शिवभक्तों में बाँट दिया तथा इस श्रेष्ठ पूजा द्वारा उसी स्थान पर मोक्ष पा गया ॥ ४० ॥ उसके पिता ने भी उस तीर्थ का माहात्म्य निश्चित कर अपना सर्वस्व शिवभक्तों को समर्पित किया और कर्मफल के चक्र से छूट गया । उसके बन्धुबान्धवों ने भी वहाँ शिवभक्तों की पूजा से अनायास ही संसार से मुक्ति पा ली । हे द्विजो ! इस पुण्य तीर्थ में किया मुट्ठीभर दान भी अनन्त पुण्य देता है, इसमें सन्देह नहीं । यहाँ जो मुट्ठीभर का भी दान किये बिना भोजन करता है उसका कभी संसार से मोक्ष संभव नहीं ॥ ४१–४४½ ॥

अगस्त्य के शिष्य श्वेतनामक धार्मिकोत्तम मुनि ने वैश्य, उसके पुत्र व बन्धुओं के मोक्ष का प्रसंग सुन अगस्त्य की प्रेरणा से वृद्धाचल पर वास किया । उन्होंने श्रद्धासहित वृद्धाचल पहुँचकर, मणिमुक्ता नदी में स्नानकर रविवार, अष्टमी, पूर्णिमा, अमावस्या, आर्द्रा तथा मघा नक्षत्रों वाले दिनों में एकाग्रवृत्ति पूर्वक मणिमुक्तानदी के जल से श्रीमद्वृद्धाचलेश्वर महादेव की पूजा की । श्वेत मुनि द्वारा आदृत होने के कारण उस नदी का नाम भी श्वेत पड़ गया ॥ ४५–४९ ॥

प्रसादाच्छिवभक्तानां पूजया परया तथा । अवाप परमां मुक्तिं मुनिः श्वेतो महामतिः ॥ ५४ ॥

बहुनाऽत्र किमुक्तेन ब्राह्मणा वेदवित्तमाः । पूजया शिवभक्तानां भोगमोक्षौ न चान्यतः ॥ ५५ ॥

इति श्रुत्वा महात्मानो नैमिषारण्यवासिनः । सादरं पूजयामासुः शिवभक्ताननेकधा ॥ ५६ ॥

पूजया शिवभक्तानां प्रसन्नः परमेश्वरः । ननर्त पुरतस्तेषां मुनीनामम्बिकापतिः ॥ ५७ ॥

मुनयो देवदेवस्य शंकरस्य शिवस्य तु । दृष्ट्वाऽऽनन्दमहानृत्तमवशा अभवन्मुदा ॥ ५८ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे श्रीसूतसंहितायां शिवमाहात्म्यखण्डे शिवभक्तपूजाविधिर्नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

पूजयामासेति । जलं समर्प्य **पूजयामास** 'ल्यब्लोपे पञ्चमी'[1] **तेनैव** च कारणेन तज्जलं लोके **पूजितमभूत्** । **तेनैव** निमित्तेन सा नद्यपि नाम्ना श्वेतनदीत्युक्ताऽभवदित्यर्थः ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

ननर्तेति । अभिनयेनैव परानन्दसाक्षात्कारोपदेशो नृत्ताभिप्राय इति प्रागेव व्याख्यातम् । तेनोपदेशेन जनितसाक्षात्काराणां मुनीनां बाह्यविषयास्फुरणेन तत्परवशतानुवृत्तिमाह—**दृष्ट्वाऽऽनन्दमहानृत्तमिति** ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

इति श्रीमत्काशीविलासक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवापरायणेनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन माधवाचार्येण विरचितायां श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां शिवमाहात्म्यखण्डे शिवभक्त पूजाविधिर्नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

श्वेत नदी कही जाने वाली वह मणिमुक्ता नदी सब पापों का विनाश करती है । फिर श्रीश्वेत मुनि ने सश्रद्ध शिवभक्तों की नाना प्रकार से पूजा की । शिवाराधना एवं शिवभक्तपूजा से प्रसन्न हो देवाधिदेव महादेव ने श्वेतमुनि को दर्शन दिया । मुनि ने सम्मुखस्थ साक्षात् वृद्धाचलेश्वर की जल, पत्र व पुष्प से पूजा की । उसी समय शिवभक्तों की पूजा के प्रभाव से और परमेश्वर की कृपा से परम बुद्धिमान् श्वेतमुनि ने मोक्ष पा लिया ॥ ५०—५४ ॥

हे वेदज्ञ ब्राह्मणो ! इस प्रसंग में अधिक क्या कहें, शिवभक्तों की पूजा से भोग व मोक्ष मिलते हैं, उसके बिना नहीं ॥ ५५ ॥

सूतजी से यह सुनकर नैमिषारण्यस्थ मुनियों ने नाना प्रकार से शिवभक्तों का पूजन किया ॥ ५६ ॥ शिवभक्तों की पूजा से प्रसन्न हुए अम्बिकानाथ परमेश्वर ने उन मुनियों को अपने आनन्दताण्डव का दर्शन दिया ॥ ५७ ॥ मुनियों ने शंकर के उस सुखमय नृत्त को देखकर परमानन्द का अनुभव किया ॥ ५८ ॥ (आधुनिक परिवेश में मनुष्यों व अन्य प्राणियों के प्रति सेवाभाव का प्रचार ईसानुयायियों की देन माना जाता है जो शास्त्र, इतिहास व संस्कृति नज़रन्दाज करने का फल है । भूतबलि, अतिथिसेवादि सनातन धर्म में रोज़ाना के कर्म हैं । श्रेष्टजनों की आदरपूर्वक शुश्रूषा होने से अन्यान्य लोग तथा बालक श्रेष्टता पाने को उत्सुक होते हैं अतः शिवभक्तों की पूजा का माहात्म्य है । आज सिर्फ धनाधिक्य आदरपात्रता का हेतु दीखने से आबालवृद्ध चाहे जिस तरह अर्थार्जनपरक होकर हर तरह की सामाजिक कुरीतियाँ स्थापित कर रहे हैं । इसे रोकने का सरल उपाय है उन्हे प्रश्रय देना जो अर्थ-काम की उपेक्षाकर धर्म-मोक्ष की ओर चलने वाले ईश्वरभक्त हैं । इससे सभी का इह-पर-लोक सुधरेगा ।)

---

१. एतद्व्याख्यानानुरोधेन मूले मणिमुक्तानदीजलादिति पञ्चम्यन्त एव पाठोऽवगम्यते ।

सप्तमोऽध्यायः

नैमिषीया ऊचुः —

भगवञ्श्रोतुमिच्छामः सर्वतत्त्वविशारद । केचित्केवलविज्ञानं प्रशंसन्ति विमुक्तये ॥ १ ॥

केचित्समुच्चितं कर्म ज्ञानेन ब्रह्मवित्तम । केचिद् दानं प्रशंसन्ति तथा केचिद् व्रतं बुधाः ॥ २ ॥

केचिद्यज्ञं प्रशंसन्ति तपः केचित्तपोधनाः । ब्रह्मचर्याश्रमं केचिद्गार्हस्थ्यं भुवि केचन ॥ ३ ॥

वानप्रस्थाश्रमं केचित्संन्यासं भुवि केचन । तीर्थसेवां प्रशंसन्ति स्वाध्यायं भुवि केचन ॥ ४ ॥

शिवेनाभिनयरूपोपदेशेन विशदीकृतपरतत्त्वा जीवन्मुक्ताः कृतकृत्या अपि मुनयः सकललोकोपकाराय सुलभं मुक्तिसाधनं जिज्ञासमानाः संशयबीजभूता बुद्धेर्विप्रतिपत्तीरुदाहरन्ति—**भगवञ्श्रोतुमिच्छाम** इति । **केवलविज्ञान**मिति वेदान्ततत्त्वविदः ॥ १ ॥

समुच्चितं कर्मेति । तदेकदेशिनः—'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' ॥ 'यथाऽन्नं मधुसंयुक्तं मधु चान्नेन संयुतम् । एवं तपश्च विद्या च संयुक्तं भेषजं महत्' ॥ इत्याद्याः श्रुतिस्मृतयो मोक्षकर्मसमुच्चया इति मन्यमानाः । **केचिद्दान**मिति 'किं भगवन्तः परमं वदन्ति' इति प्रस्तुत्य 'दाने सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्दानं परमं वदन्ति' इति श्रुतौ श्रद्दधानाः । **केचिद्व्रत**मिति 'न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत तद्व्रतं [1]तस्माद्यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्' 'अन्नं न निन्द्यात्तद्व्रतम्' इत्यादि पश्यन्तः ॥ २ ॥

केचिद्यज्ञमिति । 'यज्ञेन हि देवा दिवं गताः' इत्यारभ्य 'तस्माद्यज्ञं परमं वदन्ति' इति श्रुतिमाद्रियमाणाः । **तपः केचि-दि**ति । तप इति 'तपो नानशनात्परम्' इत्यारभ्य 'तस्मात्तपः परमं वदन्ति' इति श्रुतिमुदाहरन्तः । **ब्रह्मचर्याश्रम**मिति 'येषां तपो ब्रह्मचर्यम्' । 'नैष्ठिको ब्रह्मचारी वा वसेदामरणान्तिकम्' इत्यादिश्रुतिस्मृ[2]ती परिशीलयन्तः । **गार्हस्थ्य**मिति 'ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद्गार्हस्थ्यस्य' इति गौतमवचसा वञ्चिताः ॥ ३ ॥

वानप्रस्थाश्रममिति । ''तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः'' इति श्रुतिमभ्यसन्तः । **संन्यास**मिति । 'न्यास इति ब्रह्मे' त्युपक्रम्य 'तानि वा एतान्यवराणि तपाँसि न्यास एवात्यरेचयत्' इति श्रुतितात्पर्यविदः । **तीर्थसेवा**मिति । 'तीर्थे स्नाति तीर्थमेव समानानां भवति' इति श्रुतिदर्शिनः । **स्वाध्याय**मिति । 'अपहतपाप्मा स्वाध्यायो देवपवित्रं वा तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यो यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवति' इति श्रुतिमधीयानाः ॥ ४ ॥

मुक्तिसाधन-प्रकार नामक सातवाँ अध्याय

नैमिषारण्यवासियों ने सूतजी से कहा—सब विषयों के तात्त्विक ज्ञान में पारंगत हे भगवन् ! हम आपसे इस विषय में निर्णय सुनना चाहते हैं—कुछ वेदान्तवेत्ता मोक्ष के लिये निर्विशेष तथा कर्म-असहकृत आत्मज्ञान को ही साधन बताते हैं ॥ १ ॥ हे ब्रह्मज्ञोत्तम ! कुछ लोग ज्ञान से सहकृत कर्म को मोक्षोपाय कहते हैं । कुछ मोक्षसाधनतया दान की प्रशंसा करते हैं व अन्य विद्वान् व्रत का ही मोक्ष के उपायरूप से उपदेश देते हैं ॥ २ ॥ कुछेक यज्ञ की मोक्षसाधनता मानते हैं । तपस्वियों ने तप को ही मुक्ति का उपाय बताया है । संसार में कोई ब्रह्मचर्याश्रम के धर्मों के अनुष्ठान से मोक्ष मानते हैं, कोई गृहस्थाश्रमधर्मों के अनुष्ठान से ॥ ३ ॥ कुछ लोग वानप्रस्थाश्रम की व अन्य संन्यासाश्रम की इस रूप में प्रशंसा करते हैं । कोई तीर्थपरायणता को और कोई वेदपाठपरायणता को परम कल्याण का उपाय बताते हैं ॥ ४ ॥

---

१. क. ख. पुस्तकयोस्तस्मादित्यारभ्येत्यादिपर्यन्तो ग्रन्थो नहि । २. क. ख. °स्मृतीः प° ।

केचित्स्थाने महेशस्य विशिष्टे वर्तनं सदा । एवमन्यानि लोकेऽस्मिन्प्रशंसन्ति विमुक्तये ॥ ५ ॥

एषां यत्सर्वजन्तूनां कर्तुं शक्यं विमुक्तिदम् । तदस्माकं महाभाग वद सूत हिते रत ॥ ६ ॥

सूत उवाच–

शृणुध्वं मुनयः सर्वे समाधाय मनः सदा । पुरा नारायणं व्यासः श्रीवैकुण्ठनिवासिनम् ॥ ७ ॥

प्रणम्य दण्डवद्भक्त्या पर्यपृच्छदिदं बुधाः । सोऽपि नारायणः श्रीमानतीव प्रीतमानसः ॥ ८ ॥

समुत्थाय महालक्ष्म्या ब्रह्मणा च सुरैः सह । वेदव्यासेन कैलासमगमत्परमर्षयः ॥ ९ ॥

तत्र देव्या समासीनं नीलकण्ठमुमापतिम् । तेजसा भासयन्सर्वं चतुर्वर्गफलप्रदम् ॥ १० ॥

ईश्वराणां च सर्वेषामीश्वरं परमेश्वरम् । पतिं पतीनां परमं दैवतानां च दैवतम् ॥ ११ ॥

स्मृतिमात्रेण सर्वेषामभीष्टफलदायिनम् । सत्यं विज्ञानमानन्दं संपूर्णं सर्वसाक्षिणम् ॥ १२ ॥

प्रणम्य परया भक्त्या पप्रच्छेदं जगद्धितम् । महादेवोऽपि सर्वज्ञः सर्वभूतहिते रतः ॥ १३ ॥

प्राह सर्वामरेशानो वाचा मधुरया बुधाः ।

ईश्वर उवाच–

साधु साधु महाविष्णो भवता पृष्टमच्युत ॥ १४ ॥

पुरा देवी जगन्माता सर्वभूतहिते रता । मामपृच्छदिदं भक्त्या प्रणम्य परमेश्वरी ॥ १५ ॥

केचित्स्थान इति । 'संप्राप्य काशीं शिवराजधानीं मङ्क्त्वा तदग्रे मणिकर्णिकायाम् । दृष्ट्वाऽथ विश्वेश्वरमेकदाऽऽर्ये स्पृष्ट्वा प्रणामः परमो हि धर्मः' ॥ इत्यादिवचनसहस्राणि व्याहरन्तः । **एवमन्यानीति** । 'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' इत्यारभ्य 'परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इत्यादिश्रुतीर्विमृशन्तः प्रणवध्यानादिकमेव प्रशंसन्ति ॥ ५ ॥ ॥ ६ ॥ सूतस्त्वाख्यायिकयैवोत्तरमाह–**पुरा नारायणं व्यास** इत्यादिना ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

भासयन्निति द्वितीयार्थे प्रथमा । **तेजसा सर्वं** भासयन्यश्चतुर्वर्गफलप्रदस्तमिति प्रकृत्यर्थविशेषणं वा, शोभनं पठतीतिक्रियाविशेषणवत् । विष्णुर्वा भासयन्नस्तु ॥ १० ॥

यतः सर्वेषामीश्वराणामीश्वरोऽतः परमेश्वरः ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥

कुछ लोग कहते हैं कि शंकर के विशिष्ट काशी आदि स्थानों में रहना ही मोक्ष-कारण है । इसी प्रकार संसार में मुक्ति के अन्यान्य उपाय प्रशंसित होते रहते हैं । इनमें जो साधन सब लोगों द्वारा किया जा सकता हो एवं मोक्ष का निश्चित कारण हो वह हमें बताइये ॥ ६ ॥

सूतजी बोले– हे मुनियो ! मैं बताता हूँ, सब ध्यान से सुनें । पूर्वकाल में व्यासजी ने वैकुण्ठ निवासी श्रीनारायण को दण्डवत् प्रणामकर उनसे यही पूछा था । वे नारायण इस प्रश्न से अत्यन्त प्रसन्न हुए किन्तु स्वयं उत्तर न देकर परम प्रामाणिक उत्तर उपलब्ध कराने के लिये महालक्ष्मी, ब्रह्मा, अन्य देवताओं और व्यास जी सहित कैलास पर्वत को गये ॥ ७–९ ॥ वहाँ देवी सहित बैठे महादेव को उन सबने प्रणाम किया । वे उमापति नीलकण्ठ थे और अपने तेज से सबको प्रकाशित कर रहे थे । लौकिक-अलौकिक सभी चेष्टाओं का फल देने वाले वे ही हैं ॥ १० ॥ क्योंकि वे सब शासकों के भी शासक हैं अतः परमेश्वर हैं । सभी रक्षकों के परम रक्षक तथा सब देवताओं से श्रेष्ठ देवता हैं ॥ ११ ॥ केवल याद कर लिये जाने से ही वे सभी को इच्छित फल दे देते हैं । वे ही एकमात्र सत्य हैं, अनुभवस्वरूप व आनन्दघन हैं, अनन्त हैं तथा सबके साक्षी हैं ॥ १२ ॥ उन्हें प्रणामकर विष्णु ने परमभक्ति से सर्वोपकारक वही प्रश्न उनसे पूछा । सब प्राणियों का हित साधने में तत्पर सर्वज्ञ महादेव ने भी मधुर वाणी से यह उत्तर दिया–

परमेश्वर ने कहा–हे अच्युत महाविष्णु ! आपने बड़ी अच्छी बात पूछी है ॥ १३–१४ ॥ पूर्व में जगन्माता परमेश्वरी ने भी मुझसे यह प्रश्न किया था ॥ १५ ॥

तदिदं कृपया वक्ष्ये तव सर्वजगद्धितम् । ज्ञानमेव महाविष्णो मोक्षसाधनमुच्यते ॥ १६ ॥

ज्ञानं वेदशिरोद्भूतमिति मे निश्चिता मतिः । अनेकजन्मशुद्धानां श्रौतस्मार्तानुवर्तिनाम् ॥ १७ ॥

जायते तच्छिवज्ञानं प्रसादादेव मे हरे । निवृत्तिधर्मनिष्ठस्तु ब्राह्मणः पङ्कजेक्षण ॥ १८ ॥

उक्तो मुख्याधिकारीति ज्ञानाभ्यासे मया हरे । अन्ये च ब्राह्मणा विष्णो राजानश्च तथैव च ॥ १९ ॥

वैश्याश्च तारतम्येन ज्ञानाभ्यासेऽधिकारिणः । द्विजस्त्रीणामपि श्रौतज्ञानाभ्यासेऽधिकारिता ॥ २० ॥

अस्ति शूद्रस्य शुश्रूषोः पुराणेनैव वेदनम् । वदन्ति केचिद्वि[1]द्वांसः स्त्रीणां शूद्रसमानताम् ॥ २१ ॥

विदितप्रश्नाभिप्रायः शिवः सुलभं सर्वाधिकारं च मुक्तिसाधनं वक्तुं प्रतिजानीते—**तव सर्वजगद्धितमिति** । सुलभस्य सुकरस्य सर्वाधिकारस्य च विवक्षिततीर्थजातस्य [2]ज्ञानद्वारा मुक्तिसाधनतां च वक्तुं साक्षान्मोक्षसाधनत्वं ज्ञानस्यैवेत्याह—**ज्ञानमेव महाविष्णो** इति । 'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति श्रुतेः ॥ १६ ॥

तदपि ज्ञानमुपनिषद्वाक्यादेवेत्याह—**वेदशिरोद्भूतमिति** । 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति । 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' इति श्रुतम् । तस्य तु ज्ञानस्य वक्ष्यमाणोपाय[3]रहितैः प्रयत्नातिशयलभ्यतामाह—**अनेकजन्मेति** । निष्कामकृतानि हि कर्माणि भगवदाराधनद्वारेणैव तत्त्वज्ञानं साधयन्ति । फलं तु तत्त्वज्ञानमन्यद्वा शिवप्रसादादेव भवति । उक्तं हि—"फलमत उपपत्ते"—रिति ॥ १७ ॥

शिवज्ञानमिति मदीयनिष्कलतत्त्वज्ञानमित्यर्थः । उक्तज्ञानसाधनेषु तारतम्येनाधिकारिविभागमाह—**निवृत्तिधर्मेति** । **निवृत्तिधर्मः** संन्यासपूर्वकं श्रवणमननादिकम् । याज्ञवल्क्यः प्रवव्राज । 'द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति श्रूयते ॥ १८ ॥

अन्ये चेति—अकृतसंन्यासादिकाः[4] । **तारतम्येनेति** । न्यूनाधिकभावेन तरतमशब्दाभ्यां तरतमप्रत्ययवाचकाभ्यां तदर्थावतिशयौ लक्ष्येते । तत्रापि द्वयोरतिशयात्तरबर्थाद्बहूनामतिशयस्तमबर्थोऽधिक इति तद्भावस्तारतम्यम् । **द्विजस्त्रीणामिति** । 'अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ' इत्यादौ गार्ग्यादेर्विद्याव्यवहारदर्शनात् ॥ १९ ॥ २० ॥

अस्तिपदस्य पूर्वार्धेन संबन्धः । **शूद्रस्य शुश्रूषोरिति** । स्वधर्मनिष्ठस्य द्विजशुश्रूषा हि शूद्रस्य मुख्या वृत्तिः । 'शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा तया जीवन्वणिग्भवेत्' इतिस्मृतेः । **पुराणेनैवेति** । वेदवाक्यश्रवणस्य निषिद्धत्वात् । 'अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां

उन्हें जो उत्तर दिया था वही समस्त संसार के कल्याण का उत्तर आप लोगों को भी देता हूँ—हे महाविष्णु ! मोक्ष का साक्षात् साधन केवल निर्विशेष आत्मज्ञान ही है ॥ १६ ॥ प्रकृत में ज्ञान वही है जो उपनिषदों के श्रवण से उत्पन्न होता है, यह मेरा निश्चय है । वह मेरे निष्कल तत्त्व का ज्ञान मेरी कृपा से उन्हें ही होता है जिनका चित्त अनेक जन्मों में शुद्ध होता चला आया है और जो श्रौत-स्मार्त मार्ग का अनुसरण करते हैं । हे हरि ! ज्ञान के अभ्यास का—श्रवणादि का—मुख्य अधिकारी वह ब्राह्मण है जो शम आदि निवृत्ति-धर्मों में ही निरत हो । जो सर्वकर्मसंन्यासी नहीं ऐसे ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य भी न्यूनाधिकभाव से ज्ञानाभ्यास अर्थात् श्रवणादि के अधिकारी हैं । (वैराग्यादि के आधिक्य या अल्पत्व से अधिकार का आधिक्य या न्यूनत्व है । अधिकार की अधिकता का भी तात्पर्य है शीघ्र फलप्राप्ति की संभावना । वैराग्य अधिक होने से शीघ्र ज्ञानलाभ की संभावना अधिक है, अन्यथा कम है । वैराग्य न होने पर तो सर्वथा नहीं है) । द्विजाति स्त्रियों को भी ज्ञानाभ्यास के श्रौत उपायों में—उपनिषत्-श्रवणादि में—अधिकार है ॥ १७–२० ॥ द्विजों की सेवा में तत्पर शूद्र को पुराण द्वारा ज्ञान हो सकता है । कुछ

---

१. केचिदित्यनेनेहास्वारस्यं सूचितम् । द्विजस्त्रीणां कर्मांगतया केषुचिद्वाक्येष्वधिकारस्य पूर्वतन्त्रेप्यभ्युपगन्तव्यत्वान्न वेदत्वावच्छिन्ने तासामनधिकारस्ततश्च विवेकादिवत्त्या द्विजस्त्रियो वेदान्तश्रवणाधिकारः स्यादेव । शूद्रस्त्रियस्तु शूद्रत्वादेवानधिकारः । न चैवं तासां न त्रयी श्रुतिगोचरेत्यादिस्मृतिविरोधः, स्मृतेः सामान्यविषयत्वात्, समस्तवेदं ता न शृणुयुरित्येव तदर्थोऽन्यथा यज्ञादौ यजमानसंनिधौ तस्या उपवेश एव न सिद्ध्येदिति दिक् । २. ख. ज्ञानसाधन° । ३. ङ. °यसहितप्र° । ४. ज्ञानाभ्यासएवेतरेषां गौणोधिकारो न तु संन्यासेपीति भावः । संन्यासपदं चेहाश्रमपरम् । ततः प्रवृत्तित्यागेन विद्यमानतालक्षणे संन्यासे नानधिकारप्रसंग इति ध्येयम् ।

अन्येषामपि सर्वेषां ज्ञानाभ्यासो विधीयते । भाषान्तरेण कालेन[१] तेषां सोऽप्युपकारकः ॥ २२ ॥

येषामस्ति परिज्ञानं विनेह ज्ञानसाधनम् । कल्प्यं तत्साधनं तेषां पूर्वजन्मसु सूरिभिः ॥ २३ ॥

श्रोत्रप्रतिपूरणम्' इति । इदमेवोक्तं व्यासेन 'श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च' इति । **स्त्रीणां शूद्रसमानतामिति** । यथाऽऽहुः– 'स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा । इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्' ॥ इति । गार्गीमैत्रेय्यादीनामपि श्रुतिवाक्यात्र तत्त्वबोधः किंतु पौरुषेयैरेव वाक्यैर्जातस्तत्त्वावबोध आख्यायिकारूपया श्रुत्या व्यवहृत इत्येतावदिति हि ते मन्यन्त इत्यर्थः ॥ २१ ॥

येषां तु हीनजातीनां पुराणेऽप्यनधिकारस्तेषामपि स्वदेशभाषया तत्त्वविद्यायामस्त्यधिकार इत्याह–**अन्येषामिति** । नचैवं सर्वेषां फलसाम्यम् । कालसंनिकर्षविप्रकर्षादिकृतवैषम्यसंभवादित्याह–**कालेनेति** ॥ २२ ॥

ननु निवृत्तिधर्मश्रवणादिकं विनैव वामदेवादेर्गर्भस्थस्यैव स्वतो बोधः श्रूयते–'गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदम्' इति प्रस्तुत्य 'गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाचे'ति तत्कथं श्रवणादेः साधनतेति ? तत्राऽऽह–**येषामस्तीति** ॥ २३ ॥

विद्वान् सभी स्त्रियों की शूद्र से समानता बताते हैं अर्थात् द्विज स्त्रियों को भी उपनिषत्-श्रवणादि में नहीं, पुराण श्रवणादि में ही अधिकार है ऐसा मानते हैं। (चाहे उपनिषत् से हो चाहे पुराणादि से, ज्ञान वही होता है। वेदाधिकारी को भी यद्यपि पुराण आदि से वही ज्ञान प्राप्त हो सकता है तथापि स्वतः प्रमाण होने से वेद श्रेष्ठतर उपाय है अतः अधिकारी उसी का उपयोग करे यही शोभनीय है। जैसे जो सीधे संस्कृत में मूल ग्रंथ समझ सकता है यह अनुवाद पढ़ता शोभा नहीं देता, चाहे अनुवाद से भी ज्ञान वही होता है जो मूल से होना है वैसे यहाँ भी समझना चाहिये। क्योंकि ज्ञान वही प्राप्य है अतः जिन्हें अधिकार नहीं उन्हें अनावश्यक आग्रह से श्रुति के अनुशीलन का प्रयास नहीं करना चाहिये। यद्यपि वह प्रयास पदपदार्थ के ज्ञाता के लिये सफल हो सकता है चाहे ज्ञाता अधिकारी हो या न हो, तथापि निषिद्धाचरण से उत्पन्न होता हुआ पाप चित्त को कलुष करता रहेगा जिससे तत्त्वज्ञानरूप फल नहीं हो पायेगा। अतः स्वाधिकारानुसार ज्ञानाभ्यास करना चाहिये)। जिन हीन जाति वालों का पुराणश्रवणादि में भी अधिकार नहीं उन सभी के लिये भी अन्य भाषा के द्वारा–हिन्दी अंग्रेजी आदि भाषाओं में परात्मैक्यप्रतिपादक ग्रन्थों का अनुशीलन आदिरूप–ज्ञानाभ्यास विहित है। यह अभ्यास भी उपकार तो करता है किन्तु समय अधिक लेता है। (उपनिषत्, पुराण आदि का श्रवण अधिकारी के चित्त को भी संस्कृत करता चलता है अतः शीघ्र फल देने वाला है। भाषान्तर ग्रन्थ यद्यपि बात तो वही बताने से तत्त्वज्ञान का उत्पादक तो होता है तथापि चित्तशोधक नहीं हो पाता अतः देर से उपकार करता है। यद्यपि अनधिकारियों के लिये विहित होने से भाषान्तरद्वारा ज्ञानाभ्यास भी उनका धर्म अतएव शोधक भी है, तथापि शक्तशब्दों में शक्त्यतिशय होने से वे शीघ्र शोधन करते हैं यह समझना चाहिये। श्रवणजन्य चित्तशुद्धि अवान्तर फल है। मुख्य फल तो तत्त्वज्ञान है। विहितत्वसामान्य से फलहेतुता भी समान हो यह मुख्य फल के लिये नियम हो सकता है। अवान्तरफल के विषय में यह नियम नहीं। दृष्टान्त के रूप में समझ सकते हैं कि भोजन पकाने के दो साधन हैं–गैस का चूल्हा और लकड़ी का चूल्हा। दोनों साधनों से भोजन पक जायेगा अतः दोनों के मुख्य फल में समानता है। किन्तु अवान्तर फल शीतनिवृत्ति आदि लकड़ी के चूल्हे से तो होगी, गैस के चूल्हे से नहीं या अत्यल्प होगी। ऐसे ही उपनिषत्, पुराण व भाषाग्रन्थ तीनों ज्ञान के उत्पादक होंगे इसमें तो समानता है, शुद्धि आदि में वैषम्य है।) ॥ २१–२२ ॥ जिन वामदेव आदि में ज्ञान के साधन श्रवणादि के बिना ही तत्त्वज्ञान देखा जाता है उनके विषय में विचारकों को चाहिये कि यह कल्पना करें कि उन्होंने पूर्वजन्मों में उन साधनों का अनुष्ठान किया था। (ज्ञानसाधनों का अनुष्ठान उत्तरजन्मों में भी उपकारक होता है। ज्ञानकी तरह ज्ञानसाधनों की सद्यः फलकता का कोई नियम नहीं। पूर्वजन्म का अनुष्ठान भी फलबलकल्प्य ही है। अतः यह सोचकर कि हम भी उनका अनुष्ठान कर ही चुके होंगे, उनकी उपेक्षा केवल मूर्खता है। जैसे पुष्टि देखकर भोजन की कल्पना होती है, इतने से हम बिना पुष्टि देखे ही भोजन की कल्पना करें तो निश्चित ही भूखे मर जायेंगे, वैसे ही यदि हमें शिवज्ञान हो गया तो चाहे पूर्वजन्म के साधनानुष्ठान की कल्पना करें किन्तु उसके बिना कल्पना करना हमारा कोई हित नहीं साधेगी।) ॥ २३ ॥

---

१. जन्मान्तरेणेति केचित् । वयन्तु मानमेयादिगोचरासम्भावनाविपरीतभावनयोरभावे शोधितपदार्थानां पुंसां केनचिदपि प्रकारेणाभेदज्ञाने जाते सद्यो मोक्ष एव ज्ञानस्य दृष्टफलत्वादिति युक्तमुत्पश्यामः । लौकिकवाक्यस्याप्यात्मयाथात्म्ये प्रामाण्यं स्वयं स्थापयिष्यति (४. १०. ३७)।

मुख्याधिकारिणां नृणां प्रतिबन्धविवर्जितम् । ज्ञानमुत्पद्यतेऽन्येषां प्रतिबद्धं विजायते ॥ २४ ॥

प्रतिबद्धं परिज्ञानं नेह मुक्तिं प्रयच्छति । विशुद्धं ब्रह्मविज्ञानं विशुद्धस्यैव सिध्यति ॥ २५ ॥

अतः सर्वमनुष्याणां नहि मुक्तिरयत्नतः । यज्ञदानादिकर्माणि न साक्षान्मुक्तिसिद्धये ॥ २६ ॥

सर्वेषां फलसाम्याभावाय वैषम्यान्तरमाह–**मुख्याधिकारिणामिति** ॥ २४ ॥

प्रतिबद्धेन किं क्रियत इति चेत् ? अनेकजन्मव्यवधानमित्याह–**प्रतिबद्धं परिज्ञानमिति** । उक्तं हि व्यासेन– 'ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्' इति । भगवानप्याह–'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' इति । इह जन्मनि जन्मान्तरे वा मुक्तिश्चेत्सिध्यति कियान्विशेष इति चेत् ? 'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः' इति तलवकारोपनिषदि महतो वैषम्यस्य[1] दर्शनादिहापि जायमाने वाऽधिकारिभेदेन वैल[2]क्षण्यमाह–**विशुद्धमिति** । उक्तमुख्याधिकारिणोऽपरोक्षानुभवपर्यन्तं ज्ञानमितरस्य तु स्वाधिकारतारतम्येन परोक्षमपीत्यर्थः ॥ २५ ॥

अधिकारवैचित्र्यमुपसंहरति–**अतः सर्वेति** । यानि कैश्चिन्मुक्तिसाधनान्युक्तानि तान्यत्यन्तविप्रकृष्टान्येवेत्याह–**यज्ञदाना-दीति** । निष्कामकृतान्यपि हि यज्ञादीनि प्रतिबन्धकपापनिरासद्वारा सत्त्वशुद्धिमात्रं जनयन्ति, तेन च विषयदोषदर्शनं ततो वैराग्यं, तेन च श्रेयसि जिज्ञासा, ततः संन्यासपूर्वकान्मनननिदिध्यासनोपाकृताच्छ्रवणात्तत्त्वज्ञानेनापवर्ग इति । अतस्तेषां परमतत्त्वाद्यभिधा-नमपि परम्परासाधनताभिप्रायमेव । तथाच–'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति यज्ञादीनां विविदिषामात्रे साधनत्वं, न वेदनेऽपि किमुत तत्फले मोक्षे । 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय सह' इत्यत्राप्यविद्याशब्दाभिधेयस्य कर्मणो विद्यया सहोपायोपेयभावेन वेदन एव सहभावः श्रुतो, न पुनरनुष्ठाने[3] । अतो ज्ञानकर्मणोः क्रमसमुच्चय एव । यान्यप्यन्यानि ज्ञानकर्मसमुच्चयवचनानि तान्यप्युक्तरीत्या क्रमसमुच्चयपराण्येव । अतो ज्ञानमेव साधनम् । तच्चाधिकारिवैचित्र्यात्साधनप्रयत्नवैचित्र्याच्चानेकतारतम्योपेतमिति प्रकरणार्थः ॥ २६ ॥

जो मुख्य अधिकारी हैं–त्यक्तकर्मा ब्राह्मण हैं–उन्हें तो अप्रतिबद्ध ज्ञान होता है । जो उनसे भिन्न हैं–वैराग्यातिशय न होने से दृष्ट व आनुश्रविक कर्मों में व्यापृत हैं–उन्हें प्रतिबद्ध ज्ञान ही होता है । (असंभावना-विपरीत भावना ही ज्ञान के प्रतिबंधक हैं । ये सर्वकर्मपरित्याग पूर्वक शमादि अभ्यास करते हुए श्रवणादि करने से ही नियृत्त होते हैं । अतः अन्यों को ज्ञान होने पर भी इन दोनों से प्रतिबद्ध ही रहता है । यही भेद ज्ञान व दृढज्ञान आदि शब्दों से प्रकट किया जाता है । गीता में भगवान् ने 'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तः' (१८.५१) आदि से जो निरूपण किया है उसका भी यही अभिप्राय है ।) ॥ २४ ॥ प्रतिबद्ध ज्ञान यहाँ मुक्ति नहीं देता । (यह अवश्य है कि जन्मान्तर में वैराग्यादि होने पर वह तुरन्त सफल हो जायेगा ।) विशुद्ध अर्थात् अप्रतिबद्ध ज्ञान विशुद्ध अर्थात् रागादि सर्वदोष रहित व्यक्ति को ही होता है ॥ २५ ॥ अतः किसी भी मनुष्य को साधनानुष्ठान के बिना ही मोक्ष हो यह संभव नहीं । इतना अंतर हो सकता है कि किसी को यहीं साधना करनी पड़े व किसी ने पूर्वभव में साधना कर रखी हो जिससे इस जन्म में उसे सुविधा हो ।

यज्ञ दान आदि कर्म मुक्ति की सिद्धि के साक्षात् साधन नहीं हैं, परम्परा से ही साधन हैं ॥ २६ ॥

---

१. नेह मुक्तौ वैषम्यं विवक्षितम् । इहैव तल्लाभाय यतेत–इत्येव विधित्सितमिति ज्ञेयम् । २. इदं च वैलक्षण्यं ज्ञाने । अनधिकारिणो मुख्यं ज्ञानमेव न जायत इति स्थितिः, जातं वा तदसम्भावनादिनाच्छन्नं सत्र फलाय कल्पते । तस्मादथशब्दोक्तसम्पल्लाभाय यतनीयमिति भावः । विद्यां चेत्यादिमन्त्रोऽपि न समुच्चयबोधकः । परस्परविरोधत्वान्न सहावस्थितिस्तयोः ॥ ३. तदुक्तं वार्तिकामृते (१.४.१७६४–६६)–'विद्यां चेत्यादिमन्त्रोऽपि न समुच्चयबोधकः । परस्परविरोधत्वान्न सहावस्थितिस्तयोः ॥ स्वाभाविकं कर्म मृत्युः विद्या शास्त्रीयमुच्यते ॥ मृत्युः स्वाभाविकं ज्ञानं शास्त्रीयं संभवस्तथा । क्त्वायोगात् पूर्वकालत्वमविद्यायाः प्रतीयते । स्वाभाविकं कर्म मृत्युः विद्या शास्त्रीयमुच्यते ॥ मृत्युः स्वाभाविकं ज्ञानं शास्त्रीयं संभवस्तथा । शास्त्रीयेणेतरत्तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥' इति । माण्डूक्यभाष्येऽपि (३.२५)–'एषणालक्षणाविद्याया मृत्योरतितीर्णस्य विरक्तस्योपनिषच्छास्त्रार्थालोचनपरस्य नान्तरीयकी परमात्मैकत्वविद्योत्पत्तिरिति पूर्वभाविनीमविद्यामपेक्ष्य पश्चाद्भाविनी ब्रह्मविद्याऽमृतत्वसाधनैकेन पुरुषेण सम्बध्यमानाऽविद्यया समुच्चीयत इत्युच्यते'–इत्येवं क्रमसमुच्चयपरतया विद्यां चेत्यादि मन्त्रार्थो दर्शित इति भाष्याद्यनुगुणमेव इहत्यं व्याख्यानम् ।

तस्मादयत्नतो मुक्तिः सर्वेषां येन हेतुना । तं वदामि महाविष्णो हिताय जगतां शृणु ॥ २७ ॥

सन्ति लोके विशिष्टानि स्थानानि मम माधव । तेषामन्यतमे स्थाने वर्तनं भुक्तिमुक्तिदम् ॥ २८ ॥

श्रीमद्वाराणसी पुण्या पुरी नित्यं[1] मम प्रिया । यस्यामुत्क्रममाणस्य प्राणैर्जन्तोः कृपाबलात् ॥ २९ ॥

तारकं ब्रह्मविज्ञानं दास्यामि श्रेयसे हरे । तस्यामेव महाविष्णो प्राणत्यागो विमुक्तिदः ॥ ३० ॥

स्थानं दक्षिणकैलाससमाख्यं सत्कृतं मया । यत्र सर्वाणि तीर्थानि सर्वलोकगतानि तु ॥ ३१ ॥

सुवर्णमुखरीतोये पवित्रे पापनाशने । मासि मासि व्यतीपाते मघर्क्षे माघमासि च ॥ ३२ ॥

अर्कवारेऽप्यमावास्यां स्नानं कृत्वा महेश्वरम् । श्रीकालहस्तिशैलेशं पूजयेन्मां सुरेश्वरम् ॥ ३३ ॥

यत्र संवत्सरं भक्त्या यो वा को वा दिने दिने[2] । दृष्ट्वा दक्षिणकैलासवासिनं करुणानिधिम् ॥ ३४ ॥

भुङ्क्ते तस्य महाविष्णो ज्ञानं तस्य विमुक्तिदम् । जायते मरणे काले तेन मुक्तो भवेन्नरः ॥ ३५ ॥

श्रीमद्व्याघ्रपुरे नित्यं यो वा को वा महेश्वरम् । प्रणम्य दण्डवद्भूमौ मासद्वादशकं मुदा ॥ ३६ ॥

तस्य सिद्धा परा मुक्तिर्न हि [3]संशयकारणम् । श्रीमद्वृद्धाचले भक्त्या वर्तते वत्सरद्वयम् ॥ ३७ ॥

यो वा को वा महादेवं श्रीमद्वृद्धाचलेश्वरम् । प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा प्रणम्य परमेश्वरम् ॥ ३८ ॥

तस्य मुक्तिरयत्नेन सिध्यत्येव न संशयः । स्थाने वर्तनमात्रेण विशिष्टे मानवोऽच्युत ॥ ३९ ॥

यदर्थोऽयं प्रपञ्चस्तमिदानीं तीर्थविशेषप्रभावं वर्णयितुमारभते—**तस्मादयत्नत** इत्यादिना ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

प्राणत्याग इति । यक्ष्यमाणतीर्थविशेषेष्वपीति [4]शेषः ॥ ३० ॥

तानि क्रमेणाऽऽह—**स्थानं दक्षिणकैलासे**त्यादिना ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

हे महाविष्णु ! सभी जन्तुओं को जिस अत्यल्प प्रयास से मुक्ति प्राप्त हो सकती है उसे मैं संसार के हित के लिये बताता हूँ, सुनो ॥ २७ ॥

हे माधव ! संसार में कुछ मेरे विशिष्ट स्थान हैं । उनमें किसी एक में नियमपूर्वक रहना भोग व मोक्ष दोनों देता है (या, कर्मफलों का भोग करने से मुक्ति दिला देता है । मोक्षसाधन का उपक्रम कर भोगहेतुता बताना उचित नहीं । अथवा प्रशंसा में तात्पर्य है । क्योंकि भोग भी देता है अतः नियमतः उसका सेवन करना चाहिये, यह अभिप्राय है ।) ॥ २८ ॥ वाराणसी नामक पुण्य स्थल मुझे सदा प्रिय है । वहाँ जब कोई जन्तु मरने लगता है तब मैं कृपा के कारण संसार से तारने वाला मुक्तिफलक ब्रह्मज्ञान दे देता हूँ । काशी में ही मरना मोक्ष प्रदान करता है । (शिवोपदेश से ज्ञान हो ही जाता है यह भाव है ।) ॥ २९–३० ॥

---

१. अवान्तरप्रलयेष्वपि तस्या अनाशात्तदापि सा मम प्रिया तिष्ठतीति नित्यमित्युक्तम् । २. छ. हरम् । ३. छ. संसारकारणम् । ४. काशीमरणान्मोक्षो यथा श्रुतिस्मृतिसंमतस्तथा तीर्थान्तरे मरणान्नासी सिद्ध्यतितराम् । अन्यत्र स्थलविशेषे मृतो जन्मान्तरे काशीमरणं प्राप्नोति ततो मुच्यत इति व्यवस्थेह ज्ञेया । एतेन 'तस्यामेवे' त्येवकारसंगतिरपि व्याख्याता । कोटिरुद्रसंहितायान्तु (२२.२६) 'अन्यत्र प्राप्यते मुक्तिः सारूप्यादिर्मुनीश्वराः । अत्रैव प्राप्यते जीवैः सायुज्या मुक्तिरुत्तमा ॥' इति व्यवस्थापितम् ।

अयत्नेन विमुच्येत स्वसंसारमहद्भयात् । तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन्नयत्नेनैव मानवः ॥ ४० ॥

भजेदन्यतमं स्थानमेतेषां श्रद्धया सह ।

सूत उवाच–

इति श्रुत्वा हरिर्ब्रह्मप्रमुखैरमरैरपि ॥ ४१ ॥

वेदव्यासेन लक्ष्म्या च सह वेदविदां वराः । प्रणम्य परया भक्त्या भवं [1]भक्तप्रिये रतम् ॥ ४२ ॥

विहाय पद्मसंभूतं पाराशर्यं सुरानपि । श्रीमद्दक्षिणकैलासं सर्वदेशोत्तमोत्तमम् ॥ ४३ ॥

पञ्चयोजनविस्तीर्णं दशयोजनमायतम् । ब्रह्मणा च सरस्वत्या वज्रिणा नीलया[2] तथा ॥ ४४ ॥

कालेन हस्तिना चान्यैर्देवगन्धर्वराक्षसैः । मुनिभिः पूजितं स्थानं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥ ४५ ॥

अवाप पद्मया विष्णुः सह सर्वजगत्पतिः । ब्रह्मा वेदविदां मुख्यः श्रीमद्वृद्धाचलं मुदा ॥ ४६ ॥

यो वा को वेति । प्रागुक्ताधिकारादिवैचित्र्यनिबन्धनोऽपि न विशेषः कश्चिदस्तीत्यर्थः ॥ ३४-४६ ॥

दक्षिणकैलास नामक स्थान का भी मैं आदर करता हूँ । सारे संसार में होने वाले तीर्थ यहाँ एकत्र हैं ॥ ३१ ॥ वहाँ हर महीने व्यतीपातयोग होने पर तथा मघा नक्षत्र होने पर, रविवार को, अमावस्या को तथा पूरे माघमास में सुवर्णमुखरी नदी में स्नान कर श्रीकालहस्तीश्वर नाम से स्थित मुझ महेश्वर की पूजा करनी चाहिये ॥ ३२–३३ ॥ जो कोई भी वहाँ साल भर प्रतिदिन करुणानिधि महादेव का दर्शन कर ही भोजन करता है, उसे मरते समय मोक्षदायक ज्ञान हो जाता है जिससे वह मनुष्य मुक्त हो जाता है । (यहाँ मोक्षशब्द कैवल्येतर चतुर्विध मोक्षविषयक समझा जा सकता है । ज्ञान का अर्थ भी तदनुकूल अभिमान समझ सकते हैं । अतः केवल काशी में ही मरना मोक्षप्रद है यह वचन भी संगत है । वहाँ कैवल्य मोक्ष विवक्षित हो सकता है । अथवा शिवपुराण की कोटिरुद्रसंहिता के (२२.२६) वचनानुसार काशीमरण से उत्तम सायुज्य मोक्ष तथा अन्यत्र सारूप्यादिमुक्तियाँ मिलती हैं यह व्यवस्था समझनी चाहिये ।) ॥ ३४–३५ ॥

जो कोई भी व्यक्ति व्याघ्रपुर में बारह महीने प्रतिदिन महादेव को दण्डवत् नमस्कार करता हुआ रहे, उसके लिये भी मोक्षप्राप्ति सुरक्षित है ॥ ३६ $^1/_2$ ॥ वृद्धाचल में जो कोई भी दो साल तक प्रणाम करते हुए वृद्धाचलेश्वर की तीन परिक्रमायें करे उसके मोक्ष के विषय में भी कोई संदेह नहीं ॥ ३७–३८ $^1/_2$ ॥ विशिष्ट स्थानों में नियमतः रहने मात्र से अपना संसरण समाप्त किया जा सकता है । अतः मुमुक्षु को चाहिये कि भक्तिपूर्वक किसी एक विशिष्टस्थान पर नियमपूर्वक रहे ॥ ३९–४० $^1/_2$ ॥

सूत जी बोले–शिव का यह उपदेश सुनकर ब्रह्मा आदि देवताओं, वेदव्यास तथा लक्ष्मी सहित श्रीहरि ने भक्तों के हितकारी भगवान् को प्रणाम किया ॥ ४२ ॥ तथा ब्रह्मा, व्यास व अन्य देवताओं को छोड़कर सब स्थानों में उत्तम दक्षिणकैलास को चले गये ॥ ४३ ॥ वह स्थान पाँच योजन चौड़ा व दस योजन लम्बा है । ब्रह्मा, सरस्वती, इन्द्र, नीला (नीलानामक नदी की अधिष्ठात्री देवता), यम (अथवा सर्प), हाथी, अन्य देवों, गन्धर्वों, राक्षसों व मुनियों द्वारा उस स्थान का आदर व वहाँ महादेव का पूजन किया गया है । वहाँ की शिवपूजा भोग व मोक्ष दोनों प्रदान करती है ॥ ४४–४५ ॥ लक्ष्मी सहित विष्णु उस स्थान को प्राप्त हुए ।

भारती समेत ब्रह्मा प्रसन्नतापूर्वक पापनिवारक वृद्धाचल पहुँचे ॥ ४६ $^1/_2$ ॥ ज्ञानविज्ञान के सागर व्यासमुनि वाराणसी

---

१. ङ. भक्तहिते । २. 'वेणा इरावती नीला उत्तरात्पूर्ववाहिनी' इति हारीतादौ प्रसिद्धा नदी नीला, तदधिष्ठातृदेवतयेत्यर्थः । यद्वा सरस्वतीविशेषणमिदम् ।

प्राप्तवानाशु भारत्या प्रसन्नः पापनाशनम् ।

वेदव्यासो मुनिः श्रीमान्विश्वविज्ञानसागरः ॥ ४७ ॥

प्राप्तवानादरेणैव श्रीमद्वाराणसीं पुरीम् ।

तथा सर्वे सुरा विप्राः प्रसन्ना भुक्तिमुक्तिदम् ॥ ४८ ॥

श्रीमद्व्याघ्रपुरं भक्त्या प्राप्तवन्तो मुनीश्वराः ।

तथाऽन्ये मुनयो व्याघ्रपुरं पूर्वतपोबलात् ॥ ४९ ॥

अवापुर्यत्र देवेशः प्रनृत्यत्यम्बिकापतिः ।

अहं व्यासवचः श्रुत्वा श्रद्धया परया सह ॥ ५० ॥

श्रीमद्दक्षिणकैलासेऽप्युषित्वा वत्सरं बुधाः । पुण्डरीकपुरे[१] तद्वच्छ्रीमद्वृद्धाचले तथा ॥ ५१ ॥

वाराणस्यामपि ज्ञानं लब्धवानतिशोभनम् । भवन्तोऽपि यथाश्रद्धं वर्तध्वं पण्डितोत्तमाः ॥ ५२ ॥

एषामन्यतमे स्थाने विशिष्टे मुक्तिसिद्धये । बहवो वर्तनादेषु विमुक्ता भवबन्धनात् ॥ ५३ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे श्रीसूतसंहितायां शिवमाहात्म्यखण्डे मुक्तिसाधनप्रकारो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

विश्वविज्ञानसागर इति विष्णोरवतारभेदस्य व्यासस्य विशेषणं तदीयादरविषयभूताया वाराणस्याः सर्वत उत्कर्षाभिप्रायेण ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥

अत एव सूतः स्वयमपि दक्षिणकैलासव्याघ्रपुरवृद्धाचलेषु वत्सरं वत्सरमुषित्वा वाराणस्यामेव परमपुरुषार्थं प्राप्तवानस्मीत्याह–**श्रीमद्दक्षिणकैलासेऽपीति** ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

इति श्रीमत्काशीविलासक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवापरायणेनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन माधवाचार्येण विरचितायां श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां शिवमाहात्म्यखण्डे मुक्तिसाधनप्रकारो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

पुरी को गये । तथा अन्य सब देवता भोग-मोक्ष देने वाले व्याघ्रपुर को परम भक्तिपूर्वक गये । अन्य मुनि भी पूर्वकृत तपस्या के फलस्वरूप व्याघ्रपुर पहुँचे जहाँ अम्बिकापति नृत्य करते हुए विराजमान हैं ॥ ४७–४९ $^{१}/_{२}$ ॥

व्यास जी का उपदेश सुनकर मैं परमश्रद्धा से एक-एक साल दक्षिणकैलास, पुण्डरीकपुर (चिदंबर), वृद्धाचल और वाराणसी में रहा व मैंने अतिश्रेष्ठ ज्ञान पाया ॥ ५०–५१ $^{१}/_{२}$ ॥ हे उत्तम पण्डितो ! आप लोग भी अपनी अपनी श्रद्धा के अनुसार इनमें से किसी एक स्थान पर मोक्षलाभ के लिये रहिये । इन स्थानों में निवासमात्रसे अनेक भक्त भवबन्धन से मुक्त हुए हैं ॥ ५२–५३ ॥

---

१. भारतेऽपि (३.८३.८३) पुण्डरीकतीर्थस्योल्लेखः ।

अष्टमोऽध्यायः

नैमिषीया ऊचुः —

कालसंख्या कथं विद्वन्कथिता कालवेदिभिः । कः कालेनानवच्छिन्नो वद कारुण्यतोऽनघ ॥ १ ॥

सूत उवाच—

कालसंख्या मया वक्तुं न शक्या जन्मकोटिभिः । मुनीन्द्रैरपि देवैश्च शिवेनापि महात्मना ॥ २ ॥

तथाऽपि संग्रहेणाहं वक्ष्ये युष्माकमादरात् । काष्ठा[1] पञ्चदश प्रोक्ता निमेषाः पण्डितोत्तमाः ॥ ३ ॥

तासां त्रिंशत्कला तासां त्रिंशन्मौहूर्तिकी[2] गतिः । मुहूर्तानां द्विजास्त्रिंशद्दिवारात्रं तु मानवम् ॥ ४ ॥

उक्ततीर्थसेवया जनिततत्त्वज्ञानानां मुक्तानामपि कालपरिच्छेदं[3] संसारिभ्यः सकाशादविशेषप्रसङ्गाद्विशेषज्ञानाय परिच्छेदकं कालस्वरूपं तदनवच्छिन्नस्वरूपं च मुनयो जिज्ञासन्ते—**कालसंख्या कथमिति** ॥ १ ॥

सर्गप्रलयप्रवाहस्याऽऽनन्त्यादियद्दिन इयन्मास इयद्वर्ष[4] एव वा काल इति हि परिच्छेदरूपा कालसंख्या भवद्भिर्जिज्ञासिता, सा नास्त्येव । असती च सा मया मुनीन्द्रैः शिवेन वा कथं वक्तुं शक्या ? नहि नरविषाणस्य परिमाणं केनचिद्वक्तुं शक्यमित्याह— **कालसंख्या मयेति** । युगमन्वन्तरकल्पमहाकल्पानां वर्षादिसंख्या चेत्पृच्छ्यते सा कथ्यत इत्याह—**तथाऽपीति** । अपरिज्ञातपरिमाणं कल्पादिकं ज्ञापयितुं परिज्ञातपरिमाणं [5]निमेषादिकमारभते—**काष्ठा पञ्चदशेति** । **दिवारात्रं तु मानवमित्येवमन्तं**[6] सायनमानाभिप्रायम् । सौरचान्द्रनाक्षत्रमानेषु मनुष्याणां रात्रिंदिवविभागव्यवहाराभावात् । स हि विभागव्यवहारः सूर्यसावने मानवानाम् । चान्द्रमाने पितॄणाम् । सौरमाने देवानाम् । तथाहि सूर्यदर्शनादर्शनोपलक्षितयोर्हि कालभागयोर्दिवारात्रिशब्दौ व्युत्पन्नौ । तौ च सूर्योदयमारभ्य षष्टिघटिकात्मककालमध्ये मनुष्याणां भवतः । चन्द्रवृद्धिक्षयावच्छिन्नस्तु कालश्चान्द्रो मासः । तत्र पितॄणां कृष्णाष्टम्यां [7]सूर्योदयः । दर्शोऽहर्मध्यम् । शुक्लाष्टम्यामस्तमयः । पौर्णमास्यां रात्रिमध्यमिति च चान्द्रोऽहोरात्रः ॥ २-४ ॥

कालका माप और उससे असीमित स्वरूप का कथन नामक आठवाँ अध्याय

नैमिषारण्यवासियों ने प्रश्न किया— हे विद्वान् ! काल के जानकारों ने काल की संख्या किस प्रकार बतायी है ? हे निष्पाप रोमहर्षण जी ! कृपया यह भी बताइये कि कालसीमा से रहित कौन है ? ॥ १ ॥

सूतजी ने उत्तर दिया—'इतने दिन या इतने साल का काल है' इस प्रकार काल की पूर्णायुरूप कोई संख्या नहीं है अतः मैं करोड़ों जन्मों में उसे नहीं बता सकता । बड़े-बड़े मुनि, देवता या शिवजी भी उसे नहीं बता सकते । जो है ही नहीं ऐसे नृशृंगतुल्य को भला कौन बता सकेगा ! ॥ २ ॥ हाँ, यदि आपका अभिप्राय युग, मन्वन्तर आदि का परिमाण जानने से है तो मैं संक्षेप में बताता हूँ । उत्तम पण्डितों ने बताया है कि पन्द्रह निमेषों की एक काष्ठा होती है । (पलक झपकने का समय एक निमेष कहा जाता है) । तीस काष्ठाओं की एक कला और तीस कलाओं का एक मुहूर्त होता है । हे द्विजो ! तीस मुहूर्तों का एक मानव अहोरात्र होता है । (फलतः अड़तालीस मिनट का एक मुहूर्त हुआ । इसी तरह कला आदि समझ सकते हैं) ॥ ३—४॥

---

१. अष्टादशनिमेषास्तु काष्ठा इति त्वमरे । २. अमरसिंहस्तु 'तास्तु त्रिंशत्क्षणास्ते तु मुहूर्तो द्वादशा' इत्याह । ३. मा स्वीकार्षीत्— इति शेषः । तत्र हेतुमाह संसारीत्यादिना । ४. ग. एव का° । घ. एतावान्काल । ङ. एव हि का° । ५. क. ख. घ. निमेषमारभते । ६. क. ख. ग. घ. मतं सा° । ७. क. ख. सूर्यस्योदयः ।

अहोरात्राणि विप्रेन्द्राः पक्षः पञ्चदशः स्मृतः । पक्षद्वयेन मासः स्यान्मासैः षड्भिर्द्विजोत्तमाः ॥ ५ ॥

अयनं द्वेऽयने वर्षं क्रमात्ते दक्षिणोत्तरे । रात्रिर्दिवौकसां पूर्वं दिवा चैवोत्तरायणम् ॥ ६ ॥

मनुष्याणां यथा तद्वद्देवानामपि सूरिभिः । पक्षमासायनाब्दानां विभागः कथितो द्विजाः ॥ ७ ॥

अहोरात्राणि विप्रेन्द्रा इति तिथ्यभिप्रायम् । तेषु हि शुक्लप्रतिपदादिपौर्णमास्यन्तेषु मानवानां शुक्लपक्षव्यवहारः शेषे कृष्णपक्षव्यवहार इति । **पक्षद्वयेन मासः स्यात्** इति तु चान्द्रमासाभिप्रायम् । स हि यथोक्तपक्षद्वयात्मकः । सावनस्तु मासो यदा कदाचिदारभ्य त्रिंशत्सूर्योदयात्मकः । सौरस्तु सूर्यस्यैकराशिभोगमात्रात्मक इति न तौ पक्षद्वयात्मकत्वेन व्यवह्रियेते । **मासैः षड्भिरित्यारभ्य** सौरमानेन ॥ ५ ॥

यद्यपि चान्द्रादीनामपि दक्षिणोत्तरायणे विधेते तथाऽपि न तयोर्मासषट्कात्मकत्वम् । नापि तद्द्वयस्य वर्षात्मकत्वम् । **क्रमात्ते** इति । कर्कटायनमारभ्य मकरायणपर्यन्तं दक्षिणायनम् । तस्मिन्खलु काले क्रान्तमण्डलस्योत्तरमवसानमारभ्य दिने दिने सूर्यो दक्षिणत एति मकरायणपर्यन्तम् । तदारभ्य दिने दिने क्रान्ते दक्षिणावसानमारभ्योत्तरतं एति कर्कटायनपर्यन्तमिति तदुत्तरायणम् । **पूर्वं** दक्षिणायनं देवानां रात्रिः । **उत्तरायणं** तेषामहरित्यर्थः । ननु मेषादिराशिषट्कं निरक्षदेशादुत्तरतश्चरति तत्रस्थं सूर्यं सदा देवाः पश्यन्ति । अतस्तेषां तदहः । तुलादिराशिषट्कं निरक्षदेशाद्दक्षिणतश्चरति तत्रस्थं सूर्यमसुरा नित्यं पश्यन्ति देवा न कदाचिदतो देवानां सा रात्रिः । उक्तं हि सूर्यसिद्धान्ते–'सुरासुराणामन्योन्यमहोरात्रं विपर्ययात्' इति । अत उत्तरायणानुप्रविष्टे मकरकुम्भमीनमासत्रये देवानां सूर्यदर्शनाभावात्कथं सकलमुत्तरायणं तेषामहरित्युच्यते । तथा कर्कटकसिंहकन्या-मासेषूक्तदक्षिणायनानुप्रविष्टेषु देवाः सदा सूर्यं पश्यन्तीति तेषां कथं रात्रिरुच्यत इति ? तत्र ब्रूमः । उक्तानुपपत्तिबलादेवात्र श्लोक उत्तरायणशब्देन मकरादिमासषट्कं न गृह्यते । किंतूत्तरगोलभूतं मेषादिमासषट्कम् । तद्धि निरक्षदेशादुत्तरतः स्थितमिति तत्र वर्तमानः सूर्यो गतेन प्रत्यागतेन च सदा निरक्षदेशादुत्तरत एतीति तदुत्तरायणमत्र विवक्षितम् । तत्र च सूर्यं सदा देवाः पश्यन्तीति मेषादिमासषट्कं देवानामहरिति । एतेन तुलादिमासषट्कं देवानां रात्रिरिति व्याख्येयम् । यद्वाऽत्र दिवाशब्देन सूर्यस्योन्नतकालो गृह्यते । रात्रिशब्देन च तस्य नतकालः । मकरादिमासषट्कं हि देवान्प्रति सूर्यस्योन्नतकालत्वाद्दिवेत्युक्तम् । कर्कटादिमासषट्कं तु तान्प्रति नतकालत्वाद्रात्रिरित्युक्तमिति । तदेवं दक्षिणायनोत्तरायणशब्दौ वा सूर्यस्य निरक्षदेशाद्दक्षिणोत्तरगोलगमनाभिप्रायौ, रात्रिदिवाशब्दौ वा देवान्प्रति सूर्यस्य नतोन्नतकालाभिप्रायाविति सर्वं समञ्जसम् ॥ ६ ॥

मनुष्याणां पञ्चदश तिथयः पक्षः । पक्षद्वयं चान्द्रो मासः । सूर्यस्यैकराशिभोगस्तु सौरो मासः । राशिषट्कभोगोऽय-नम् । अयनद्वयं संवत्सर इति । यथा मानुषः संवत्सर एवं देवानां स्वमानेनाहोरात्रस्तदनुसारेणैव पक्षमासायनाब्दा अपि द्रष्टव्या इत्याह–**मनुष्याणामिति** ॥ ७ ॥

पन्द्रह अहोरात्र को एक पक्ष कहते हैं । दो पक्षों से एक महीना बनता है । छह महीनों का एक अयन होता है । दो अयनों का एक वर्ष होता है ।

दो अयनों को दक्षिणायन व उत्तरायण कहते हैं । दक्षिणायन देवताओं की रात है व उत्तरायण देवताओं का दिन है ॥ ५–६ ॥ इस दिन-रात के मान के अनुसार मनुष्यों के पक्षादि की तरह देवताओं के भी पक्ष, मास, अयन और वर्ष समझने चाहिये । (अर्थात् मनुष्यों के पन्द्रह साल देवताओं का एक पक्ष है, तीस साल एक मास है, एक सौ अस्सी वर्षों का एक अयन है और मानवीय तीन सौ साठ वर्षों का एक देव वर्ष है) ॥ ७ ॥

दिव्यैर्द्वादशसाहस्रैर्वर्षैः प्रोक्तं चतुर्युगम् । कृतं तत्र युगं विप्राः सहस्राणां चतुष्टयम् ॥ ८ ॥

तस्य संध्या च संध्यांशः प्रोक्तश्चाष्टशताऽनघाः । त्रिभिर्वर्षसहस्रैस्तु त्रेता दिव्यैः प्रकीर्तिता ॥ ९ ॥

कृतार्धं द्वापरः प्रोक्तस्तदर्धं कलिरुच्यते । क्रमात्संध्या च संध्यांशस्तुरीयांशविवर्जितः ॥ १० ॥

त्रेताद्वापरतिष्याणां युगानां मुनिपुङ्गवाः । एवं द्वादशसाहस्रं प्रोक्तं विप्राश्चतुर्युगम् ॥ ११ ॥

युगानामेकसप्तत्या मन्वन्तरमिहोच्यते । मनवो ब्रह्मणः प्रोक्ता दिवसे च चतुर्दश ॥ १२ ॥

ब्राह्ममेकमहर्विप्राः कल्प इत्युच्यते बुधैः । तावती रात्रिरप्युक्ता ब्रह्मणः पण्डितोत्तमाः ॥ १३ ॥

त्रिशतैः षष्टिभिः कल्पैर्ब्रह्मणो वर्षमीरितम् । वर्षाणां यच्छतं तस्य द्विपरार्धमिहोच्यते ॥ १४ ॥

दिव्यैर्द्वादशेत्यादि । दिव्याब्दानां सहस्रद्वादशकेन कृतत्रेताद्वापरकलिनामकं युगचतुष्टयं भवति । तत्र द्वादशसहस्रमध्ये चतुःसहस्राण्यष्टौ शतानि चाब्दाः कृतयुगप्रमाणम् । आदाववसाने च शतद्वयं[1] शतद्वयं च संध्या । तत्संनिकृष्टं शतद्वयं[2] शतद्वयं च संध्यांशः । तन्मध्यवर्ति सहस्रचतुष्टयं युगशरीरम् । **त्रिभिरित्यादि** । कृतप्रमाणं पादोनं त्रेता । कृतार्धं द्वापरः । कृतचतुर्थांशः कलिः । कृतसंध्यांशौ पादोनौ त्रेतायाः कृतवदभितो द्रष्टव्यौ । [3]अर्धीकृतौ द्वापरस्य; चतुर्थांशः कलेरिति । उक्तं हि सूर्यसिद्धान्ते– 'दिव्यैर्द्वादशसाहस्रैर्मिश्रैरेकं चतुर्युगम् । युगस्य दशमो भागश्चतुस्त्रिद्व्येकसंगुणः ॥ क्रमात्कृतयुगादीनां षष्ठोंऽशः संध्ययोः स्वकः' । इति ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ **युगानामिति** । उक्तचतुर्युगानाम् ॥ १२ ॥

ब्राह्ममेकमहरिति । कल्पादावेकः संधिः । मन्वन्तरावसाने चैकैक इति पञ्चदश संधयः कृतयुगप्रमाणाः, कृतचतुर्थांशश्च कलिरिति चतुर्गुणितैः पञ्चदशभिः षष्टिः कलिप्रमाणानि भवन्ति । दशभिः कलिप्रमाणैरेकं चतुर्युगमिति षष्ट्या षट्चतुर्युगानि भवन्ति । चतुर्दशगुणितया चैकसप्तत्या षडूनं सहस्रं भवति । मिलितं युगसहस्रं **ब्राह्ममेकमहः स कल्प** उच्यत इत्यर्थः । तदवसाने च भूर्भुवः स्वरिति लोकत्रयं लीयते[4] । तद्रात्र्यवसाने च लोकत्रयं सृज्यते । सा च सृष्टिरनन्तराध्याये वक्ष्यते ॥ १३ ॥

त्रिशतैरिति । तावत्तावद्रात्रियुक्तैरित्यर्थः ॥ १४ ॥

देवताओं के बारह हज़ार वर्ष एक चतुर्युगी का मान है । चतुर्युगी में कृतयुग चार हज़ार दिव्य वर्षों का होता है, उसकी दोनों संध्यायें दो-दो सौ वर्ष की व संध्यांश दो-दो सौ वर्ष के होते हैं । (आरम्भ व समाप्ति का काल संध्या और संध्या के समीप का काल संध्यांश कहा जाता है । इस प्रकार संध्या व संध्यांश मिलाकर कृतयुग का मान हुआ दिव्य चार हज़ार आठ सौ वर्ष) ॥ ८ ½ ॥ त्रेता युग दिव्य तीन हज़ार वर्षों का और उसकी संध्यायें तथा संध्यांश डेढ़-डेढ़ सौ वर्ष के होते हैं । (एवं च समस्त त्रेता का मान तीन हज़ार छह सौ दिव्य वर्षों का है ।) ॥ ९ ॥ द्वापर युग कृत युग का आधा होता है । (अतः युगशरीर दो हज़ार दिव्य वर्षों का व संध्या आदि सौ-सौ वर्षों में सीमित होने से समस्त का मान हुआ दो हज़ार चार सौ दिव्य वर्ष) । उससे भी आधा कलियुग है । (इसके संध्यादि पचास-पचास वर्षों के होने से पूरे कलि का मान है दिव्य एक हज़ार दो सौ वर्ष अर्थात् चार लाख बत्तीस हज़ार मानवीय वर्ष) ॥ १० ॥ इस प्रकार बारह हज़ार दिव्य वर्षों की चतुर्युगी बतायी गयी है ॥ ११ ॥

इकहत्तर चतुर्युगों को एक मन्वन्तर कहते हैं । ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु होते हैं (अर्थात् चौदह मन्वन्तर व्यतीत होते हैं) ॥ १२ ॥ ब्रह्माजी का एक दिन विद्वानों द्वारा कल्प नामसे पुकारा जाता है । जितने समय का ब्राह्म दिन है उतने ही समय की ब्राह्म रात्रि होती है ॥ १३ ॥ तीन सौ साठ ब्राह्म अहोरात्रों का–सात सौ बीस कल्पों का–एक ब्राह्म वर्ष है । ब्रह्मा के सौ वर्षों को द्विपरार्ध कहते हैं ॥ १४ ॥

---

१. ग. °यं सं° । २. ग. °यं च । ३. ख. अर्धीतौ । ४.°ते । रात्र्य° ।

ब्रह्मणोऽन्ते मुनिश्रेष्ठा मायायां लीयते जगत् । तथा विष्णुश्च रुद्रश्च प्रकृतौ विलयं गतौ ॥ १५ ॥

[1]ब्रह्मणश्च तथा विष्णोस्तथा रुद्रस्य सुव्रताः । मूर्तयो विविधाः स्वेषु कारणेषु लयं ययुः ॥ १६ ॥

माया च प्रलये काले परस्मिन्परमेश्वरे । सत्यबोधसुखानन्तब्रह्मरुद्रादिसंज्ञिते ॥ १७ ॥

अभेदेन स्थितिं याति हेतुस्तत्र सुदुर्गमः[2] । अन्यथाभानहेतुत्वादियं मायेति कीर्तिता ॥ १८ ॥

आत्मतत्त्वतिरस्कारात्तम इत्युच्यते बुधैः । विद्यानाश्यत्वतोऽविद्या मोहस्तत्कारणत्वतः ॥ १९ ॥

सद्वैलक्षण्यदृष्ट्येयमसदित्युदिता बुधैः । कार्यनिष्पत्तिहेतुत्वात्कारणं प्रोच्यते बुधैः[3] ॥ २० ॥

ब्रह्मणोऽन्त इति । स्थूलभूतकार्यं जगत्स्थूलभूतेषु तानि सूक्ष्मभूतेषु । 'जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते । तेजस्यापः प्रलीयन्ते तेजो वायौ प्रलीयते ॥ वायुः प्रलीयते व्योम्नि तदव्यक्ते प्रलीयते' इत्युक्तदिशेत्यर्थः । **तथा विष्णुश्चेति** । ब्रह्मविष्णुरुद्राणामवतारमूर्तयः स्वकारणेषु मायाया रजःसत्त्वतमोगुणेषु प्रविशन्ति । स्वयं तु परमेश्वरात्मनैव वर्तन्ते ॥ १५-१६ ॥

प्रलये काल इति प्राकृते प्रतिसंचरे । यस्य ह्यनन्तरभावी सर्गो दशमैकादशाध्याययोर्वक्ष्यते । **सत्यबोधेति** । सत्यज्ञानानन्दैकरसत्वं शिवस्योक्तं द्वितीयाध्याये 'मन्मायाशक्तिसंक्लृप्तमि'त्यत्र ॥ १७ ॥

अभेदेन स्थितिं यातीति । यथा तस्या भेदेन नावभासो यथा च नाऽऽत्यन्तिको नाशस्तथोक्तं पञ्चमाध्याये 'मातृका च त्रिधे'त्यत्र । ननु कार्यप्रपञ्चवत्कारणभूता मायाऽपि कस्मान्न विलाप्यते किमिति तयाऽवस्थातव्यम् । उत्तरसर्गार्थमिति चेत् । अथ तस्य स्वमहिमप्रतिष्ठस्य किमुत्तरैरपि सर्गैस्तत्राऽऽह–**हेतुस्तत्र सुदुर्गम** इति । तदुक्तमाचार्यैः–'भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थ[4]मपि चापरे । देवस्यैष प्रभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा' ॥ इति । उक्तं हि व्यासेन 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यमि'ति । विष्णुपुराणेऽपि–'क्रीडतो बालकस्येव चेष्टास्तस्य निशामय' । इति । ननु कार्यप्रपञ्चस्य कारणे लयोऽस्तु कारणं तु मायैवेति कुतः ? असदव्यक्तादिशब्दैः श्रुतिस्मृतिपुराणेषु कारणस्यानेकधापिप्रतिपत्तिदर्शनादित्याशङ्क्य प्रवृत्तिनिमित्तभेदेन मायादिशब्दा एकमेवार्थं प्रतिपादयन्तीत्यभिप्रेत्य प्रवृत्तिनिमित्तभेदमाह–**अन्यथाभानेत्यादिना** ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥

ब्रह्मा की आयु पूरी होने पर जगत् माया में लीन हो जाता है। विष्णु व रुद्र की सत्त्वादि उपाधियाँ भी माया में लीन हो जाती हैं ॥ १५ ॥ ब्रह्मा, विष्णु व रुद्र के शरीर अपने सत्त्वादि कारणों द्वारा माया में लीन हो जाते हैं ॥ १६ ॥ प्रलय काल में माया परमेश्वर में लीन हो जाती है। उस परमेश्वर को ही सत्य, ज्ञान, आनन्द, अनन्त, ब्रह्म, रुद्र आदि नामों से कहा जाता है ॥ १७ ॥ तब माया परमेश्वर से भिन्न होकर प्रतीत नहीं होती। माया क्यों है ?–इस प्रकार माया की स्थिति में कारण समझना असंभव है। (असंभव इसलिये कि उसकी स्थिति में कोई हेतु है ही नहीं। वस्तुतः माया भी नहीं है जो उसकी स्थिति तथा स्थिति का कारण हो)।

जो वस्तु जैसी नहीं उसे वैसा प्रतीत कराने वाली होने से इसे माया कहते हैं ॥ १८ ॥ आत्मा की वास्तविकता को छिपा देती है अतः इसे तम कहते हैं। विद्या से इसका नाश हो जाता है इसलिये यही अविद्या कही जाती है। मोह–अविवेक–का कारण होने से इसे भी मोह कह देते हैं ॥ १९ ॥ क्योंकि यह सत् नहीं है, वास्तविक नहीं है, इसलिये जानकार इसे असत् कहते हैं। कार्यप्रपंच की उत्पत्ति में यह हेतु है अतः यह कारण कही जाती है ॥ २० ॥

---

१. विष्ण्वादेर्विलयं स्वयं व्याचष्टे–ब्रह्मणइत्यादिना । २. मायास्थितौ हेतोरसत्त्वादेव । ३. तदुक्तं प्रत्यक्स्वरूपेण भगवता ' इत्येषा सदसत्प्रकारविधुरा माया दुरुन्नीततो मूलत्वात् प्रकृतिः प्रबोधभयतोऽविद्या सहायोदिता ।शक्तिर्विश्वमयस्य यस्य विशदानन्दप्रबोधोदधे-र्निर्धूताखिलभेदगन्धममलं वन्दे भवानीपतिम् ॥' इति । ४. ख. घ. °र्थमिति चा° ।

कार्यवद् व्यक्तताभावादव्यक्तमिति गीयते । एषा माहेश्वरी शक्तिर्न स्वतन्त्रा परात्मवत् ॥ २१ ॥

अनया[1] देवदेवस्य शिवस्य परमात्मनः । उदितः परमः कालस्तद्वशाः सर्वजन्तवः ॥ २२॥

सोऽपि साक्षान्महादेवे कल्पितो मायया सदा[2] । सर्वे काले विलीयन्ते न कालो लीयते सदा ॥ २३ ॥

कालो माया च तत्कार्यं शिवेनैवाऽऽवृतं बुधाः । शिवः कालानवच्छिन्नः कालतत्त्वं यथा तथा ॥ २४ ॥

परात्मवदिति । यथा परमात्मा स्वतन्त्रो नैवमेषा स्वतन्त्रा । अत एव हि **शक्तिरित्युक्तम्** । **परमः काल** इति । द्विविधो हि कालः परमोऽपरमश्चेति । शिवमायासंबन्धरूपः परम इति । वक्ष्यति ह्युत्तरखण्डे–'कालो मायात्मसंबन्धः सर्वसाधारणात्मकः' इति । स एव कल्पमन्वन्तरसंवत्सरमासाद्यात्मना पदार्थान्परिच्छिन्दन्नपरः काल इत्युच्यते । तदुक्तम्–'भावि भवद्भूतमयं कलयति जगदेष कालोऽतः' इति । तदाह–**तद्वशाः सर्वेति** । मायावदनादिरप्यसौ तदधीननिरूपणतया तयोदित इत्युच्यते ॥ २१-२२ ॥

अत एव मायावत्तत्संबन्धरूपः कालोऽपि कल्पित इत्याह–**सोऽपीति** । यथा माया मायादृष्ट्यैव कल्पिता तथा तत्संबन्धोऽपि । यदाहुराचार्याः–'[3]अस्याविद्येत्यविद्यायामेवाऽऽसित्वा प्रकल्प्यते । ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येयं न कथंचन युज्यते' ॥ इति । ननु मायाशिवसंबन्धात्मनः कालस्य मायात उदितत्वे जगदिव सोऽपि विनाशीति परिमितत्वात्कथं तत्परिमाणं शिवेनापि ज्ञातुमशक्यमित्युक्तमित्यत आह–**सर्वे काल** इति । येन कालः परिच्छेत्तव्यः स सर्वः कालेनैव परिच्छिद्यत इति कालस्य परिच्छेदकाभावादपरिमिति इत्युक्तमित्यर्थः । उदित इति न जन्माभिप्रायम् । किंतु मायावत्सदा सद्भावादिति । प्रागसतः सत्तासंबन्धवाचको ह्युदयशब्दः प्रागभावांशं परित्यज्य सत्तासंबन्धांशमात्रं लक्षयति । यथा 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबन्ध' इति जैमिनिसूत्र उत्पत्तिशब्दः । तथाहि तत्र व्याख्यातं शाबरभाष्ये 'औत्पत्तिक इति नित्यं ब्रूम' इति ॥ २३ ॥

कालस्य कदाचिदपि विलयाभावात्कथं कल्पितत्वमुक्तम् ज्ञानविलाप्यस्यैव कल्पितत्वनियमादित्यत आह–**कालो मायेति** । मायाकार्यं च माया च तत्संबन्धरूपः कालश्च त्रितयमपि शिवतत्त्वज्ञानेन विलीयत एव । तद्व्यतिरिक्तोपायैर्न विलीयत इत्यभिप्रायेण तु 'न कालो लीयते सदे'त्युक्तमित्यर्थः । कालस्य सर्वपरिच्छेदकत्वे सर्वान्तर्भावाच्छिवस्यापि तेन परिच्छेदो न शङ्कनीय इत्याह–**शिवः कालेति** । यथा कालः कालेन न परिच्छिद्यते तथा शिवोऽपीति ॥ २४ ॥

कार्य की तरह यह व्यक्त नहीं है–कार्येतररूप से स्फुट प्रतीत नहीं होती, जिससे यही अव्यक्त नाम से जानी जाती है । है यह महेश्वर की शक्ति–उनके अधीन । परमात्मा की तरह यह कोई स्वतन्त्र–स्वकीय सत्ता वाला–तत्त्व नहीं है ॥ २१ ॥ देवाधिदेव परमात्मा शिव का इस माया से सम्बन्ध ही परम काल कहा जाता है । सब जन्तु उस काल के परवश रहते हैं ॥२२ ॥ यह सम्बन्ध भी स्वयं महादेव पर मायाप्रयुक्त अनादिकल्पनासिद्ध ही है । सब पदार्थ काल में लीन होते हैं, काल कभी लीन नहीं होता ॥ २३ ॥ काल, माया और उसका कार्य शिवतत्त्वज्ञान द्वारा ही ढँका अर्थात् बाधित किया जा सकता है, अन्यथा नहीं ॥ २३ १/२ ॥

जैसे काल स्वयं काल से सीमित नहीं, अन्यथा परिच्छेदक और परिच्छेद्य को एक मानना होगा जो सर्वसंमत कर्तृकर्मविरोध की असंभवता से अमान्य है, वैसे शिव भी काल से सीमित नहीं । (यहाँ काल से सीमित न होने मात्र में दृष्टान्त है । दोनों के काल से अपरिच्छिन्न होने में अन्तर है । काल तो उक्त कारण से कालापरिच्छिन्न है पर शिव इसलिये काल से अपरिच्छिन्न हैं कि न्यूनसत्ताककाल में यह सामर्थ्य नहीं कि उन्हें सीमित करे । इस बात को उत्तर श्लोक सूचित करता है–) ॥ २४ ॥

---

१. सम्बन्ध इति शेषः । सोऽपि मायैव । मायेतरसम्बन्धाभ्युपगमेऽनवस्थानात् । २. ततश्च मायायाः प्रयोजकत्वमेव न जनकत्वमित्यर्थः । ३. ग. यस्यां° ।

तथाऽपि कालोऽसत्यत्वान्मायया सह लीयते । शिवो न विलयं याति द्विजाः सत्यस्वभावतः ॥ २५ ॥

उत्पन्नानां प्रनष्टानामुत्पाद्यानां तथैव च । शिवः कालानवच्छिन्नः कारणं त्विति कीर्तितः ॥ २६ ॥

प्रसादादस्य देवस्य ब्रह्मविष्ण्वादिकं पदम् । तदधीनं जगत्सर्वमित्येषा शाश्वती श्रुतिः ॥ २७ ॥

असंख्या विलयं याता ब्रह्माणः पण्डितोत्तमाः । असंख्या विष्णवो रुद्रा असंख्या वासवादयः ॥ २८ ॥

एक एव शिवः साक्षात्सृष्टिस्थित्यन्तसिद्धये[1] । ब्रह्मविष्णुशिवाख्याभिः कल्पनाभिर्विजृम्भितः ॥ २९ ॥

रजोगुणेन संछन्नो ब्रह्माऽधिष्ठाय तं गुणम् । स्रष्टा भवति सर्वस्य जगतः पण्डितोत्तमाः ॥ ३० ॥

गुणेन तमसा छन्नो विष्णुः सत्त्वगुणं बुधाः । अधिष्ठाय भवेत्सर्वजगतः पालकः प्रभुः ॥ ३१ ॥

तथा सत्त्वगुणच्छन्नो रुद्रो विप्रास्तमोगुणम् । अधिष्ठाय भवेद्धन्ता जगतः सत्यवादिनः ॥ ३२ ॥

कालशिवयोरुभयोरपि कालानवच्छेदसाम्येऽपि सत्यासत्यत्वकृतं वैलक्षण्यमित्याह–**तथाऽपीति** ॥ २५ ॥

कालसामान्येन शिवस्यानवच्छेद उक्तः । कालविशेषैस्तु सुतरामनवच्छेद इत्याह–**उत्पन्नानामिति** । शिवादेव हि जगज्जायते तस्मिन्नेव वर्तते तत्रैव लीयते । अतो जगतः प्रागपि सत्त्वान्न वर्तमानभविष्यत्कालाभ्यामवच्छिद्यते । स्थितिकालेऽपि सत्त्वान्न भूतभविष्यद्भ्यां, विनाशोत्तरमपि[2] सत्त्वान्न भूतवर्तमानाभ्यामिति ॥ २६ ॥

ननु जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणं ब्रह्मविष्णुरुद्रास्तत्कथं शिव इत्युच्यत इत्यत आह–**प्रसादादस्येति** । शिवायत्तकालावच्छिन्ना ब्रह्मादयोऽपि न स्वतन्त्राः । कालस्य हि शिवायत्तता श्रूयते–'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि[3] निमेषा मुहूर्ता अर्धमासा मासा इति विधृतास्तिष्ठन्ती'ति । इतिशब्दोऽनुक्तसकलकालभागसंग्रहार्थः ॥ २७ ॥

ब्रह्मादीनां भूतकालपरिच्छेदमाह–**असंख्या विलयं याता इति** ॥ २८ ॥

तत्किं भूते काले ब्रह्मादयः स्वतन्त्राः ? न । तदाऽपि तद्रूपेण शिवस्यैव सर्गादिकर्तृत्वादित्याह–**एक एवेति** ॥ २९ ॥

कल्पनावैचित्र्ये गुणवैचित्र्यं कारणमाह–**रजोगुणेनेति** । ब्रह्मा हि रक्तवर्णत्वाद्बही रजोगुणेन संछन्नः प्रवृत्तिशीलत्वादन्तरपि तमेवाधितिष्ठति । इन्द्रनीलश्यामत्वाद्विष्णुरन्तस्तमसा संछन्नो जगतः पालनेन बहिः सत्त्वमधितिष्ठति । चन्द्रकोटिप्रकाशत्वाद्रुद्रोऽन्तः सत्त्वेन संछन्नः सकलसंसारसंहाराद्बहिस्तमोगुणेनेति । गुणवैचित्र्यं ब्रह्मादीनां गुणत्रयनिबन्धनम् रक्तकृष्णश्वेतरूपमिति सूतगीतासु द्वितीयाध्याये[4] वक्ष्यति । **सत्यवादिन** इति मुनीनां संबोधनम् ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

यों दोनों के कालपरिच्छिन्न होने पर भी काल असत्य–सत्य-भिन्न–होने के कारण माया के साथ बाधित हो जाता है जबकि सत्यस्वभाव होने के कारण शिव का कभी बाध या अन्य कोई विलय नहीं होता ॥ २५ ॥ जो कुछ उत्पन्न हो चुका है, नष्ट हो चुका है और उत्पन्न होगा, उस सबका कारण काल से असीमित शिव ही है ॥ २६ ॥ इन महादेव की कृपा से इनके अधीन रहते हुए ब्रह्मा, विष्णु आदि अपने पदों पर आसीन हो कार्य करते हैं । श्रुति का शाश्वत घोष है कि सारा जगत् शिव के अधीन है ॥ २७ ॥ असंख्य ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, तथा इन्द्रादि अब तक विलीन हो चुके हैं ॥ २८ ॥ एकमात्र स्वयं शिव ही सृष्टि स्थित तथा संहार करने के लिये ब्रह्मा विष्णु और शिव नामरूपों को माया से ग्रहण करता है और उन नामों से व उन रूपों वाला समझा जाता है ॥ २९ ॥

रजोगुणरूप उपाधि को ग्रहणकर तथा उसे ही–रजोगुण को ही–अधिष्ठितकर ब्रह्मारूपी महादेव सारे जगत् के उत्पादक बनते हैं ॥ ३० ॥ तमोगुणरूप उपाधि को ग्रहणकर और सत्त्वगुण को अधिष्ठित कर विष्णुरूप महादेव सारे जगत् के पालक–शासक हैं ॥ ३१ ॥ इसी तरह सत्त्वगुणरूप उपाधि को ग्रहणकर तथा तमोगुण को अधिष्ठित कर रुद्ररूपी महादेव जगत् के नाशक हैं ॥ ३२ ॥ (अभिभाव्य गुण को ग्रहण कर ही विपरीत गुण को अपने नियंत्रण में रख उसे अभिभूत किया जा सकता

१. घ. ङ. °न्तहेतवे । २. क. ख. घ. °रकालम° । ३. ङ. °र्गि द्यां वा नि° । ४. ४.२.१५–१७ तथा ४०–४१ ।

ब्रह्मणो मूर्तयोऽनन्ता जायन्ते गुणभेदतः । तथा विष्णोस्तथेशस्य गुणभेदेन सुव्रताः ॥ ३३ ॥

काश्चित्सत्त्वगुणोद्रेकाद्विशिष्टा मूर्तयो द्विजाः । काश्चित्तमोगुणोद्रेकाद्विहन्त्र्यो वेदवित्तमाः ॥ ३४ ॥

परस्परोपजीव्याः स्युर्हिताय जगतां द्विजाः । सर्वमूर्तिष्वयं साक्षाच्छिवः सत्यादिलक्षणः ॥ ३५ ॥

अप्रच्युतात्मभावेन सदा तिष्ठति सुव्रताः । तमहंप्रत्ययव्याजात्सर्वे जानन्ति जन्तवः ॥ ३६ ॥

तथाऽपि शिवरूपेण न विजानन्ति मायया । प्रसादादेवदेवस्य श्रुत्युत्पन्नात्मविद्यया ॥

बहूनां जन्मनामन्ते जानन्त्येव शिवं बुधाः ॥ ३७ ॥

ननु ब्रह्मादीनां भूतकालपरिच्छेदे कथमधुनातनो भविष्यन्वा सर्गादिरित्यत आह–**ब्रह्मणो मूर्तयोऽनन्ता** इति ॥ ३३ ॥

महासर्गाणामानन्त्यात्प्रतिमहासर्गं ब्रह्मादिसृष्टेस्तन्मूर्तीनामानन्त्यम् । न केवलं ब्रह्मादयोऽपरा अप्यनन्ताः शिवस्य मूर्तयो गुणभेदेन विचित्रा इत्याह–**काश्चित्सत्त्वगुणोद्रेकादि**ति ।'ये अन्नेषु विविध्यन्ति' 'ये पथां पथिरक्षयः' इत्यादयो हि निग्रहानुग्रहव्यापाराः शिवमूर्तयोऽनन्ताः श्रूयन्त इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

परस्परोपजीव्या इति । संहारैकगुणत्वे हि न सर्गोऽभिवर्धेत । सत्त्वैकगुणत्वे च दर्पेण विनश्येयुः । अतः परस्परोपजीवनं जगतो हितम् । इत्थं मूर्तीनां गुणवैचित्र्येण शान्तघोरमूढतेति । [1]तत्र सर्वत्रानुगतस्य शिवस्य स्वरूपादच्युतिमाह–**सर्वमूर्तिष्विति** ॥ ३५ ॥

सर्वत्रानुगमे किमित्यनुपलम्भस्तत्राऽऽह–**तमहंप्रत्ययेति** । अहंप्रत्ययो हि [2]सर्वप्रत्यक्त्वं विषयीकरोति । सर्वान्तरत्वं च शिवस्य स्वरूपम् । श्रूयते हि–'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा' इति । अतोऽहमिति प्रत्यगात्मनो ज्ञानं तत्सर्वं शिवस्यैवेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

तर्हि सर्वे प्राणिनः कृतकृत्या इति किं शास्त्रैराचार्यैर्वेति ? तत्राऽऽह–**तथाऽपीति** । निरुपाधिकशिवस्वरूपज्ञानं हि पुरुषार्थः । न तत्तेषामस्ति मायया मोहितत्वादित्यर्थः । कथं तर्हि मायां जित्वा शिवमवाप्नुयुरिति ? तत्राऽऽह–**प्रसादादिति** ॥ ३७ ॥

है अतः विष्णु व रुद्र अधिष्ठेय अभिभावक गुणों से विपरीत गुणों का ग्रहण करते हैं । इसलिये विष्णु को शयनशीलादि तथा रुद्र को कर्पूरगौर, समाधिनिष्ठ आदि वर्णित किया जाता है । ब्रह्मा को किसी का अभिभव करना नहीं अतः उनका ग्राह्य व अधिष्ठेय दोनों रजोगुण हैं । इसका विश्लेषण 'ब्रह्मतर्कस्तव' आदि में देखना चाहिये ।) ॥ ३२॥ ब्रह्मा, विष्णु व रुद्र की अनन्त मूर्तियाँ गुणों के भेद से हो जाती हैं । (अर्थात् शिव ने ही आज तक हुए सब ब्रह्माओं का रूप धरा है व आगे होने वाले ब्रह्माओं का रूप भी वे ही धरेंगे । ऐसे ही विष्णु आदि की अनन्त मूर्तियाँ जो इस अनादि-अनन्त संसार में हो चुकी हैं या होंगी उन सबको धरने वाले महादेव ही हैं ।) ॥ ३३ ॥ (ब्रह्मादि से अतिरिक्त भी) कुछ विशिष्ट मूर्तियाँ सत्त्वगुणोद्रेक वाली तथा कुछ तमोगुणोद्रेक वाली विनाशक मूर्तियाँ शिव ग्रहण करते हैं ॥ ३४ ॥ ये सभी मूर्तियाँ एक दूसरे को सहारा देती हुई विश्व के हित में व्यापृत होती हैं । सभी मूर्तियों में सत्यादिस्वरूप शिव अपना स्वभाव छोड़े बिना विराजते हैं । 'मैं' इस ज्ञान के सहारे सभी प्राणी उस अंदर स्थित शिव को ही जानते हैं ॥ ३५–३६ ॥ यद्यपि हम सब जानते हैं उन्हें तथापि अज्ञानवश शिवरूप से–निरुपाधिकरूप से–उन्हें नहीं जानते, अतएव बद्ध हैं । महादेव की कृपा से श्रुतिद्वारा उत्पादित आत्मज्ञान से ही बहुत जन्मों के यत्न के बाद प्राणी शिव को, उनके वास्तविक रूप को, जानते हैं ॥ ३७ ॥

---

१. क. ख. ग. तच्च । २. घ. सर्वान्तरः सर्वं वि° ।

प्रसादहीनाः [१]पापिष्ठा मोहिता मायया जनाः । नैव जानन्ति देवेशं जन्मनाशादिपीडिताः ॥ ३८ ॥

यां यां मूर्तिं समाश्रित्य ब्रह्मभावनया जनाः । आराधयन्ति ते सर्वे क्रमाज्जानन्ति शंकरम् ॥ ३९ ॥

रुद्रस्य मूर्तिमाराध्य प्रसादात्क्रमवर्जिताः । अयत्नेनैव जानन्ति शिवं सर्वत्र संस्थितम् ॥ ४० ॥

रुद्रमूर्तिषु सर्वासु शिवोऽतीव प्रकाशते । अन्यासु तारतम्येन शिवः साक्षात्प्रकाशते ॥ ४१ ॥

आदर्शे निर्मले यद्वद्दृशं भाति मुखं द्विजाः । तथाऽतीव महादेवो भाति शुद्धासु मूर्तिषु ॥ ४२ ॥

कानिचिद्वेदवाक्यानि ब्राह्मणा वेदवित्तमाः । रुद्रमूर्तिं समाश्रित्य शिवे परमकारणे ॥ ४३ ॥

पर्यवस्यन्ति विप्रेन्द्रास्तथा वाक्यानि कानिचित् । विष्णुमूर्तिं समाश्रित्य ब्रह्ममूर्तिं च कानिचित् ॥ ४४ ॥

आग्नेयीं मूर्तिमाश्रित्य श्रुतिवाक्यानि कानिचित् । सूर्यमूर्तिं तथाऽन्येषां मूर्तिं चाऽऽश्रित्य कानिचित् ॥ ४५ ॥

केषांचिदात्मविद्याया अनुदयकारणमाह–**प्रसादहीना** इति ॥ ३८ ॥

तर्हि तत्तद्देवताभाजो न प्राप्नुयुरेव किं शिवम् ? नेत्याह–**यां यामिति** । शिवबुद्ध्या सर्वासु मूर्तिषु क्रियमाणाऽऽराधना शिवस्यैवेत्यर्थः । उक्तं हि गीतासु–'यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति' इत्यादि ॥ ३९ ॥

तत्किं सर्वासु मूर्तिष्वेकमेव फलमिति ? नेत्याह–**रुद्रस्येति** ॥ ४० ॥

तत्र कारणमाह–**रुद्रमूर्तिष्विति** ॥ ४१ ॥

तारतम्येन प्रकाशे कारणमाह–**आदर्श** इति ॥ ४२ ॥

नानादेवताप्रतिपादकानां तत्तन्मूर्तिद्वारा परशिवे पर्यवसानमाह–**कानिचिद्वेदवाक्यानीति** । श्रूयते हि–'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

जो सतत पापनिरत व अविवेक के कारण मोही लोग हैं, उनपर शिवकृपा न होने से वे देवेश्वर को जानते नहीं और जन्म-मरण से पुनः पुनः पीडित होते रहते हैं ॥ ३८ ॥ जिस जिस मूर्ति की लोग 'यह परमेश्वर है' ऐसा समझकर पूजा करते हैं वे सभी लोग वस्तुतः उस मूर्ति द्वारा समझ शिव को ही परमेश्वर रहे हैं (पर साक्षात् उन्हें न समझ मूर्ति द्वारा समझने की भूल से वे मोक्ष नहीं प्राप्त कर पाते ।) ॥ ३९ ॥ रुद्र मूर्ति की आराधना से शीघ्र ही शिवकृपा पाकर अनायास ही सर्वव्यापी शिव को जान लेते हैं । क्योंकि रुद्रमूर्ति ईषद्विकृत ही है अतः यह शिवस्वरूप के अत्यंत निकट है जिससे उस रूप से शिव को समझना साक्षात् शिव को समझना कह दिया जाता है ॥ ४० ॥ सभी रुद्रमूर्तियों में शिव स्फुटतर भासित होते हैं । अन्य मूर्तियों में भी होते प्रकाशित स्वयं शिव ही हैं किन्तु मूर्तिनिमित्तक व्यवधान न्यूनाधिक रहता है ॥ ४१ ॥ जैसे साफ काँच में मुँह स्पष्ट प्रतीत होता है, ऐसे शुद्ध मूर्तियों में महादेव भी स्पष्ट प्रकाशित होते हैं ॥ ४२ ॥

हे वेदज्ञो ! कुछ श्रुतिवचन रुद्रमूर्ति के सहारे परम कारण शिव का प्रतिपादन करते हैं, कुछ विष्णुमूर्ति के सहारे, कुछ ब्रह्ममूर्ति के सहारे, कुछ अग्निमूर्ति के, कुछ सूर्य मूर्ति के व कुछ वाक्य अन्य मूर्तियों का आश्रयण ले शिव का बोध कराते हैं ॥ ४३–४५ ॥

---

१. शिवे वैषम्यादिं वारयितुं प्रसादहीनत्वे हेतुमाह–पापिष्ठाइति । तत्र हेतु मोहिताइति । ममता तयता चेह मोहस्तत्प्रयुक्तत्वात्पापस्य । तत्र कारणं माया–स्वरूपापरिज्ञानं ततोऽविवेकश्च । अन्येऽपि मायाधीना एव प्रसादाज्जानन्ति, निर्मायाणां ज्ञानप्रयोजनाभावात्, ततश्च को विशेषोऽनयोरित्यत आह–जनाइति । जनुषि बद्धादरा इत्यर्थः । ये तु तत्र विरक्तास्तएव प्रसादलब्धारइति भावः ।

पुराणैर्दशभिर्विप्राः प्रोक्तः शंभुस्तथैव च । चतुर्भिर्भगवान्विष्णुर्द्वाभ्यां ब्रह्मा प्रकीर्तितः ॥ ४६ ॥

अग्निरेकेन विप्रेन्द्रास्तथैकेन दिवाकरः । एवं मूर्त्यभिधानेन द्वारेणैव मुनीश्वराः ॥ ४७ ॥

प्रतिपाद्यो महादेवः स्थितः सर्वासु मूर्तिषु । स एव मोचकः साक्षाच्छिवः सत्यादिलक्षणः ॥ ४८ ॥

ब्रह्मविष्णुमहादेवैरुपास्यः सर्वदा द्विजाः । अतोऽन्यदार्तं विप्रेन्द्रा अविनाश्योऽयमेव हि ॥ ४९ ॥

अयमात्मविदामात्मा ह्ययमज्ञानिनामपि । अस्मादेव समुत्पन्नं स्थितमस्मिन्द्विजोत्तमाः ॥

अस्मिन्नष्टमिदं सर्वं जगन्मायामयं बुधाः ॥ ५० ॥

प्रतिकल्पं मुनिश्रेष्ठा ब्रह्मनारायणादयः ॥ ५१ ॥

अस्मादेव विजायन्ते विलीयन्ते यथा पुरा । अयमेको महादेवः साक्षी सर्वान्तरो हरः ॥ ५२ ॥

तथाऽपि शिवमूर्तिष्वेव भूयसां पुराणानामादर इत्याह—**पुराणैरिति** । यान्यपि दशभ्योऽवशिष्टानि पुराणानि तेषामपि तत्तन्मूर्तयो द्वारमात्रम् । पर्यवसानं तु परशिव एवेत्याह—**चतुर्भिरित्यादि** । सर्वेषां पुराणानां साक्षात्परम्परया वा परशिवे पर्यवसाने कारणमाह—**स एव मोचक इति** । **मोचको** मोक्षप्रदः स एव साक्षान्मोक्षप्रदः । अन्ये तद्द्वारा ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

ननु शिवः सर्वात्मकः श्रूयते । 'सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति' इत्यारभ्य 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा' इति श्रुतेः । अतो ब्रह्मादीनामपि तदात्मकत्वे किंनिबन्धनमिदमुपास्योपासकभावलक्षणवैलक्षण्यमित्यत आह—**ब्रह्मविष्ण्विति** । निरस्तसमस्तोपाधिकं सच्चिदानन्दैकरसं परशिवस्य स्वरूपं, तदेव तत्तदुच्चावचोपाधिविशिष्टं सद् ब्रह्मादय इत्युच्यते । तत्रोपाधीनामन्तवत्त्वेन तद्विशिष्टरूपाणामप्यन्तवत्त्वम् । शिवस्य तु निरूपाधिक[1]त्वेनानन्तवत्त्वमित्येतद्वैलक्षण्यमित्यर्थः । 'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तम्' इति श्रुतेः ॥ ४९ ॥

ननु विशिष्टस्यान्तवत्त्वे तदन्तःपातित्वेन विशेषणस्यापि तथात्वात्कथं सर्वात्मतेति चेत् ? विशिष्टाकारस्य कल्पितत्त्वेऽपि स्वरूपाकारस्य चेतनाचेतनजगदधिष्ठानत्वेनाकल्पितत्वान्नैवमित्याह—**अयमात्मविदामित्यादि** ॥ ५० ॥

नन्वनादौ संसारे कदाचिदासीद् ब्रह्मादीनां लयो न वा ? आसीच्चेत् कथमिदानीं तदुपलम्भः । न चेद्, इतः परं भविष्यतीति कैव प्रत्याशेत्यत आह—**प्रतिकल्पमिति** ।

अस्य तु तथाविधत्वमित्याह—**अयमेक इति** । सर्वान्तरत्वेनाधिष्ठानत्वान्न तथात्वमित्यर्थः । 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' इति श्रुतेः ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

पुराणों में भी दस पुराणों द्वारा शंभुमूर्ति बतायी गयी है, चार द्वारा विष्णुमूर्ति, दो द्वारा ब्रह्मा-मूर्ति तथा एक-एक द्वारा अग्नि व सूर्य मूर्तियाँ वर्णित हैं । इस प्रकार मूर्तियों के कथन द्वारा समझाये सत्यादिस्वरूप, संसारवारक, सब मूर्तियों में स्थित साक्षात् महादेव ही गये हैं ॥ ४६–४८ ॥ हे द्विजो ! ब्रह्मा, विष्णु व रुद्र भी इन परमशिव की ही सर्वदा उपासना करते हैं । इन परमशिव से भिन्न सभी कुछ सान्त है ये अकेले ही विनाशरहित हैं ॥ ४९ ॥ ज्ञानी व अज्ञानी दोनों के आत्मा ये ही हैं । यह सारा जगत् इन परमशिव से ही उत्पन्न हुआ है इन्हीं में स्थित है और इनमें ही नष्ट होता है । शिवहेतुक होने से यह दृश्य नहीं होना चाहिये किन्तु है दृश्य अत एव मायामय है ॥ ५० ॥ हे श्रेष्ठ मुनियो ! हर कल्प में ब्रह्मा, नारायणादि इन्हीं से उत्पन्न होते हैं तथा पूर्वकल्प की तरह इन्हीं में विलीन हो जाते हैं । महादेव ही अकेले हैं, साक्षी हैं, सब के अन्दर हैं तथा अज्ञान का हरण करने वाले हैं ॥ ५१–५२ ॥

---

१. ख. °कल्पादन° ।

अम्बिकासहितो नित्यं नीलकण्ठस्त्रिलोचनः । चन्द्रार्धशेखरः श्रीमाञ्श्रीमद्व्याघ्रपुरे तथा ॥ ५३ ॥

वाराणस्यां तथा सोमनाथे वृद्धाचलाभिधे । वेदारण्ये च वल्मीके श्रीमत्केदारसंज्ञिते ॥ ५४ ॥

श्रीमद्दक्षिणकैलासे सर्वस्थानोत्तमोत्तमे । नित्यं संनिहितो भक्तैरखिलैरमरेश्वरैः ॥
उपास्यः सर्वदा विप्राः सर्वैर्नित्यत्वकाङ्क्षिभिः ॥ ५५ ॥

कोऽन्यः संसारमग्नानामुपास्यो मोचकः प्रभुः ॥ ५६ ॥

ऋते साक्षान्महादेवमित्येषा शाश्वती श्रुतिः । अतः सर्वप्रयत्नेन भवद्भिर्मुनिसत्तमैः ॥ ५७ ॥

कालपाशविनाशाय शंकरः शशिशेखरः । उपासनीयः श्रोतव्यो मन्तव्यश्च द्विजोत्तमाः ॥ ५८ ॥

इति सूतवचः श्रुत्वा नैमिषारण्यवासिनः । शिवः कालानवच्छिन्न इत्यजानन्त पण्डिताः ॥ ५९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे श्रीसूतसंहितायां शिवमाहात्म्यखण्डे कालपरिमाणतदनवच्छिन्नस्वरूपकथनं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

ननूक्तनिरुपाधिकशिवस्वरूपं वाङ्मनसयोरगोचरतया श्रूयते-'यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह' इति । तत्कथमर्वाचीनैरुपासनीयमित्यत आह-**अम्बिकासहित** इति । स्वीकृतदिव्यावतारस्य तस्य स्थानविशेषेषु सुकरमुपासनमित्यर्थः ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ ५५ ॥

तस्यैवोपासनीयत्वे श्रुतिमर्थत उदाहरति-**कोऽन्य** इति । 'यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः । तदा शिवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति' इति श्रुतिः । अत्राप्येषा श्रुतिर्भविष्यति । उक्तोपदेशस्य फलमाह-**अतः सर्वप्रयत्नेनेति** । **उपासनीय** इति । उपनिषच्छब्दानां शक्तितात्पर्यावधारणन्यायानुसंधानं श्रवणम् । वस्तुतथात्वव्यवस्थापकन्यायानुसंधानं मननम् । श्रवणमननाभ्यामवधृतेऽर्थे विजातीयप्रत्ययाव्यवहितसजातीयप्रत्ययसंतानानुवृत्तिर्निदिध्यासनमुपासना । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति हि दर्शनमनूद्य तत्साधनत्वेन श्रवणादीनि हि श्रूयन्ते ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

कः कालेनानवच्छिन्न इति यत्पृष्टं तस्योत्तरमुक्तमुपसंहरति-**शिवः कालेति** ॥ ५९ ॥

इति श्रीमत्काशीविलासक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवापरायणेनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन माधवाचार्येण विरचितायां श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां शिवमाहात्म्यखण्डे कालपरिमाणतदनवच्छिन्नस्वरूपकथनं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

चन्द्रभूषण, त्रिनेत्र, नीलकण्ठ शिव भगवती अम्बिका समेत व्याघ्रपुर में, काशी में, सोमनाथ में, वृद्धाचल में, वेदारण्य में, वल्मीक में (-एतन्नामक स्थान में), केदारनाथ में, तथा सब स्थानों में उत्तम दक्षिण कैलास में सदा उपस्थित रहते हैं । नित्यत्व चाहने वाले सब भक्तों को इनके इन स्थानों पर शीघ्र फल पाने के लिये उपासना करनी चाहिये ॥ ५३-५५ ॥ सनातन श्रुति ने घोषित कर रखा है कि साक्षात् महादेव को छोड़कर कोई दूसरा संसारसागर में डूबते हम जीवों का मुक्तिहेतु अत एव उपास्य नहीं है । अतः आप श्रेष्ठ मुनियों द्वारा काल के पाश से छुटकारा पाने के लिये पूरे प्रयत्न से शशिशेखर शंकर की उपासना की जानी चाहिये, उनके विषय में श्रवण और मनन करना चाहिये ॥ ५६-५८ ॥

सूतजी के ये वचन सुन नैमिषारण्य-वासियों ने यह निश्चित समझ लिया कि शिव ही काल से असीमित हैं ॥ ५९ ॥

नवमोऽध्यायः

नैमिषीया ऊचुः —

भगवन्विष्णुना तोयात्कथं भूमिः समुद्धृता । तदस्माकं समासेन वद सर्वार्थवित्तम ॥ १ ॥

सूत उवाच—

आसीदेकार्णवं घोरमविभागं तमोमयम् । शान्तानलादिकं सर्वं न प्राज्ञायत किंचन ॥ २ ॥

तदैवैकाम्बुधौ नष्टे जगति स्थावरादिके । विष्णुः साक्षात्समुद्भूतस्तदा तस्मिन्महोदधौ ॥ ३ ॥

स पुनर्वेदविच्छ्रेष्ठाः सहस्राक्षः सहस्रपात् । सहस्रशीर्षा पुरुषो द्विजा नारायणाभिधः ॥ ४ ॥

सुष्वाप सलिले साक्षाच्छिवं परमकारणम् । ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं साम्बमीश्वरम् ॥ ५ ॥

ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं हृदि ध्यायन्महेश्वरम् । इमं चोदाहरन्त्यत्र श्लोकं नारायणं प्रति ॥ ६ ॥

'ब्राह्ममेकमहः कल्प' इत्युक्तब्रह्मदिनावसाने लीनस्य पृथिव्यादिलोकत्रयस्य तदीयरात्र्यवसाने पुनरुत्पत्तिप्रकारं जिज्ञासमाना मुनयः पृच्छन्ति—**भगवन्विष्णुनेति** । वराहरूपेणाहरादौ हि ब्रह्मा वराहरूपी भूत्वा सलिले मग्नां भुवमुद्धृत्य पुनर्ब्रह्मैव भूत्वा लोकत्रयमसृजदिति श्रूयते 'आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्तस्मिन्प्रजापतिर्वायुर्भूत्वाऽचरत्स इमामपश्यत्तां वराहो भूत्वाऽहरत्तां विश्वकर्मा भूत्वा व्यमार्ट् साऽप्रथत[1] सा पृथिव्यभवत्' इत्यादि । विष्णुपुराणेऽपि-'तोयान्तः स महीं ज्ञात्वा जगत्येकार्णवे प्रभुः । अनुमानात्तदुद्धारं कर्तुकामः प्रजापतिः ॥ अकरोत्स तनूमन्यां कल्पादिषु यथा पुरा । मत्स्यकूर्मादिकां तद्वद्वाराहं रूपमास्थितः' इति ॥ १ ॥

सूतस्तु पूर्वकल्पावसानप्रकाराभिधानपुरःसरमुत्तरं वक्तुमारभते—**आसीदेकेति** । **तमोमयमिति** । चन्द्रादित्यादिज्योतिषामभावात् । अत एव विभागापरिज्ञानादविभागम् ॥ २ ॥

जगतीति । **जगति** पृथिव्यादिलोकत्रयात्मके यत्स्थावरजङ्गमजातं तस्मिन्सर्वस्मिञ्जलप्लुते[2] । अत एव जनलोकनिवासिनोऽस्तुवन्निति वक्ष्यति । **विष्णुः साक्षादिति** । ब्रह्मा ह्यहरवसाने विष्णुरूपी शेषपर्यङ्कशायी स्थित्वा वराहरूपेण भुवमुद्धृत्य स्वेनैवाऽऽत्मना पुनर्लोकत्रयमस्राक्षीत् । अतएव वक्ष्यति—'विसृज्य रूपं वाराहं स्वयं ब्रह्मा भवद्धरिः' इति ॥ ३ ॥ ४ ॥

ऋतं सत्यमिति । उमासहायमूर्ध्वरेतसं त्रिनेत्रं **महेश्वरमृतसत्याभिधेयसूक्ष्मस्थूलभूतोपलक्षितसमस्तजगदात्मकं पुरुषं** परिपूर्णं **परं** निष्कलं **ध्यायन्** ॥ ५ ॥ ६ ॥

पृथिवी का उद्धार नामक नवाँ अध्याय

(ब्रह्मा के दिन की समाप्ति पर पृथिवी आदि लोक का विलय सुनकर ब्रह्मा की रात्रि की समाप्ति पर पुनरुत्पत्ति कैसे होती है?—इस जिज्ञासा का होना स्वाभाविक है । अतः—) नैमिषारण्य के मुनियों ने पूछा—हे भगवन् ! हे विद्वानों में श्रेष्ठ ! विष्णु ने जल से भूमि का उद्धार किस प्रकार किया यह हमें संक्षेप में बताइये ॥ १ ॥

सूतजी बोले—जिस समय पृथिवी आदि लीन थी तब केवल एक अखण्ड भयंकर समुद्र ही था । चन्द्र आदि कोई प्रकाश न होने से अंधेरा था । शान्त हुइ अग्नि एवं अन्य कुछ भी प्रतीत नहीं होता था ॥ २ ॥ तभी, उस एक सागर में स्थावर-जंगम जगत् की विलयवेला में, उस समुद्र में साक्षात् विष्णु प्रकट हुए ॥ ३ ॥ वे ही हज़ारों आँखों वाले, हज़ारों पैरों वाले, हज़ारों सिरों वाले नारायण नामक पुरुष हैं ॥ ४ ॥ प्रकट हुए वे उस जल पर लेट गये और सबके परम कारण, सनातन नियमरूप, कभी नष्ट न होने वाले, परिपूर्ण, निरंश, व्यापक, वस्तुतः कभी कुछ उत्पन्न न करने वाले, त्रिलोचन, अम्बिका समेत ईश्वर का हृदय में ध्यान करने लगे । इन विष्णु के विषय में शास्त्र ने यह श्लोक बताया है—॥ ५—६ ॥

---

१. ङ. °त तत्पथि° । २. ग. °र्वजल° ।

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः । ता यदस्यायनं तेन प्रोक्तो नारायणः स्वयम् ॥ ७ ॥

स पुनर्देवदेवस्य शिवस्य परमात्मनः । आज्ञया सलिले मग्नां महीमुद्धर्तुमिच्छया ॥ ८ ॥

वाराहं रूपमास्थाय महापर्वतसंनिभम् । अट्टहासं द्विजाः कृत्वा प्रविश्य च रसातलम् ॥ ९ ॥

दंष्ट्राभ्यामुज्जहारैनां महीमन्तर्गतां जले । तस्य दंष्ट्राग्रविन्यस्तामणुप्रायां महीमिमाम् ॥ १० ॥

दृष्ट्वा विस्मयमापन्ना जनलोकनिवासिनः । ते पुनर्वेदविच्छ्रेष्ठाः सिद्धा ब्रह्मर्षयो हरिम् ॥ ११ ॥

अस्तुवञ्श्रद्धया विष्णुं महाबलपराक्रमम् ।

ब्रह्मर्षय ऊचुः— नमस्ते देवदेवानामादिभूत सनातन ॥ १२ ॥

पुरुषाय पुराणाय नमस्ते परमात्मने । जरामरणरोगादिविहीनायामलात्मने ॥ १३ ॥

ब्रह्मणां पतये तुभ्यं जगतां पतये नमः । लोकालोकस्वरूपाय लोकानां पतये नमः ॥ १४ ॥

शङ्खचक्रगदापद्मपाणये विष्णवे नमः । नमो हिरण्यगर्भाय श्रीपते भूपते नमः ॥ १५ ॥

नमः स्वयंभुवे तुभ्यं सूत्रात्मादिस्वरूपिणे । विराट्प्रजापतेः साक्षाज्जनकाय नमो नमः ॥ १६ ॥

नरो हिरण्यगर्भस्तत उत्पन्नत्वादापो नरसूनवः । यत आहुः—'अप एव ससर्जाऽऽदौ तासु वीर्यमवासृजत्' इति ।

जनलोकेति । पृथिव्यादिलोकत्रये जलप्लुतेऽपि चतुर्थे महर्लोके निवसतां पञ्चमे जनलोके गतत्वाज्जनलोकनिवासिन इत्युक्तम् । 'जनलोकं प्रयान्त्येते महर्लोकनिवासिन' इत्युक्तम् । लोकालोकेति । सकलभूतात्मकैकपादरूपाय स्वप्रतिष्ठत्रिपाद्रूपाय च । 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति श्रुतेः ॥ ७-१५ ॥

सूत्रात्मादीति । सूत्रात्मा क्रियाशक्तिप्रधानः प्राणोपाधिकः । आदिशब्देनान्तर्यामी ज्ञानशक्तिप्रधानो मनउपाधिको हिरण्यगर्भः । विराट् समष्टिरूपः स्थूलशरीरः ॥ १६ ॥

'जल को नार कहते हैं क्योंकि जल नरनामक हिरण्यगर्भ से उत्पन्न हुआ है । यतः वह जल उनके शयनादि का स्थान है अतः वे स्वयं नारायण कहे जाते हैं ।' ॥ ७ ॥ परमात्मा महादेव की आज्ञा के अनुसार उन्होंने जल में मग्न पृथिवी का उद्धार करने की इच्छा से बड़े भारी पहाड़ जैसे वराह का रूप लेकर अट्टहास किया तथा रसातल में घुसकर दाढ़ों के सहारे जल के अन्दर गयी इस पृथिवी का उद्धार किया ॥ ८ १/२ ॥ उनकी दाढ़ की नोक पर स्थित अत्यन्त छोटी लगती इस भूमि को देख जनलोक के निवासियों को बहुत आश्चर्य हुआ । उन ब्रह्मर्षियों ने महान् पराक्रमशाली विष्णु की स्तुति की—

ब्रह्मर्षियों ने कहा—हे सब देवों में सबसे पहले होने वाले ! सनातन ! पुराण पुरुष आप परमात्मा को नमस्कार है ॥ १०—१२ १/२ ॥ जरा, मरण, रोग आदि रहित तथा निर्दोष स्वरूप वाले आपको प्रणाम है । ब्रह्माओं के पालक व जगत् के नियन्ता आपको प्रणाम है । लोकरूप एवं लोकातीतरूप आपको नमस्कार है । सब विषयों के रक्षक आपको नमस्कार है ॥ १३—१४ ॥ शंख, चक्र, गदा व पद्म हाथ में लिये आप विष्णु को नमस्कार है । हिरण्यगर्भ, श्रीपति व भूपति आपको नमस्कार है ॥ १५ ॥ स्वयं उत्पन्न होने वाले आपको प्रणाम है । समष्टि क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति वाले आपको प्रणाम है । समष्टि स्थूल शरीर वाले आपको प्रणाम है । प्रजापति के स्वयं उत्पादक आपको प्रणाम है ॥ १६ ॥

विश्वतैजसरूपाय प्राज्ञरूपाय ते नमः । जाग्रत्स्वप्नस्वरूपाय नमः सुप्त्यात्मने नमः ॥ १७ ॥

अवस्थासाक्षिणे तुभ्यमवस्थावर्जिताच्युत । [1]तुरीयाय विशुद्धाय तुर्यातीताय ते नमः ॥ १८ ॥

प्रथमाय समस्तस्य जगतः परमात्मने । ॐकारैकस्वरूपाय शिवाय शिवद प्रभो ॥ १९ ॥

सर्वविज्ञानसंपन्न नमो विज्ञानदायिने । जगतां योनये तुभ्यं वेधसे विश्वरूपिणे ॥ २० ॥

नित्यशुद्धाय बुद्धाय मुक्ताय सुखरूपिणे । नमो वाचामतीताय नमोऽगम्याय ते नमः ॥ २१ ॥

अप्रमेयाय शान्ताय स्वयंभानाय साक्षिणे । नमः पुंसे पुराणाय श्रेयःप्राप्त्येकहेतवे ॥ २२ ॥

आकाशादिप्रपञ्चाय नमस्तद्रूप शंकर । मायारूपाय मायायाः सत्ताहेतो जनार्दन ॥ २३ ॥

नमः प्रद्युम्न[2]रूपाय नमः संकर्षणात्मने । नमोऽनिरुद्धरूपाय वासुदेवाय ते नमः ॥ २४ ॥

इत्थं समष्टिरूपवैश्वानरहिरण्यगर्भेश्वररूपतामुक्त्वा व्यष्टिरूपविश्वतैजसप्राज्ञरूपतां तदवस्थारूपतां चाऽऽह–**विश्वतैजसेति** । अवस्थात्रयविशिष्टो विश्वादिः ॥ १७ ॥

अवस्थोपलक्षितस्तद्द्रष्टा **तत्साक्षी** । तदस्पृश्यन्स्वप्रतिष्ठोऽ**वस्थावर्जितः** । साक्षिणं विवृणोति–**तुरीयायेति** । स हि विश्वादित्रयापेक्षया चतुर्थत्वात्तुरीयः । अवस्थाविवर्जितं विवृणोति–**तुर्यातीतायेति** ॥ १८ ॥

ॐकारेति । 'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः' इति हि श्रूयते । प्रणवप्रतीकत्वात्तत्प्रतिपाद्यत्वाद्वा तत्स्वरूपः ॥ १९ ॥ २० ॥

नमो वाचामिति । 'यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह' इति [3]श्रुतेः ॥ २१ ॥ २२ ॥

मायाया इति । यतोऽधिष्ठानमन्तरेण मायाऽपि न सिध्यति ॥ २३ ॥

नमः प्रद्युम्नायेति । सर्वात्मकत्वेऽपि विभूतिमत्सु संनिधानात्तदात्मकत्वेन स्तूयते । स्मर्यते हि–'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं

जाग्रत्, स्वप्न व सुषुप्तिरूप तथा इन अवस्था वाले विश्व, तैजस, प्राज्ञरूप आपको नमस्कार है ॥ १७ ॥ अवस्थाओं के साक्षी व अवस्था-निरपेक्ष आपको नमस्कार है । अवस्था वालों की अपेक्षा से चौथे आप सर्वावस्थानुस्यूत को नमस्कार है । अवस्था-निरपेक्ष होने से जो आप चौथे भी नहीं कहे जा सकते उन आपको नमस्कार है ॥ १८ ॥ जो आप सर्वप्रथम हैं, समस्त जगत् के परम आत्मा हैं, ॐकारमात्ररूप हैं, कल्याणात्मक हैं, कल्याणप्रदाता हैं, स्वतन्त्र सत्ता वाले हैं, सब विज्ञानों से संपन्न हैं, सब ज्ञानों के उपदेष्टा हैं, जगत् के निर्माता, विधाता और सर्वरूप हैं, उन आपको नमस्कार है ॥ १९–२० ॥ सदा शुद्ध, अज्ञान से अनभिभूत, बंधन-विवर्जित, सुखरूप आपको प्रणाम है । वाणी के अविषय व क्रिया से विषय न किये जा सकने वाले आपको प्रणाम है ॥ २१ ॥ जिनका वास्तविक ज्ञान अत्यन्त कठिनाई से होता है ऐसे शान्त तथा स्वयं ज्ञानरूप आप साक्षी को नमस्कार है । कल्याणलाभ के एकमात्र कारण पुराण पुरुष आपको नमस्कार है ॥ २२ ॥ आकाशादि प्रपंच रूप आपको तथा जो कुछ भी परोक्ष है उस रूप वाले आपको नमस्कार है । मायारूप एवं माया को सत्ता देने वाले आपको नमस्कार है ॥ २३ ॥ प्रद्युम्न, संकर्षण, अनिरुद्ध तथा वासुदेव रूप आपको प्रणाम है । (यहाँ पांचरात्र आगमों की भाषा में

---

१. ख. तुर्याय ते वि° । २. पाञ्चरात्रमते प्रद्युम्नो मनः, संकर्षणः प्रकृतिः, अनिरुद्धोऽहंकारो, वासुदेवश्च परमात्मा । संकर्षणो बलरामः, प्रद्युम्नः कृष्णपुत्रः, अनिरुद्धः कृष्णपौत्र इत्यैतिहासिकाः । ३. क. ख. ग. श्रुतम् ।

योगाय योगगम्याय [1]योगानामिष्टसिद्धये । नमस्ते मत्स्यरूपाय नमस्ते कूर्मरूपिणे ॥ २५ ॥
नमस्तुभ्यं वराहाय नारसिंहाय ते नमः । नमो वामनरूपाय नमो रामत्रयात्मने ॥ २६ ॥
नमः कृष्णाय सर्वज्ञ नमस्ते कल्किरूपिणे । कर्मिणां फलरूपाय कर्मरूपाय ते नमः ॥ २७ ॥
कर्मकर्त्रे नमस्तुभ्यं नमस्ते कर्मसाक्षिणे । नमो विज्ञप्तिरूपाय नमो वेदान्तरूपिणे ॥ २८ ॥
गुणत्रयात्मने तुभ्यं नमो निर्गुणरूपिणे । अद्भुतायामरेशाय शिवप्राप्त्येकहेतवे ॥ २९ ॥
नमो नक्षत्ररूपाय नमस्ते सोमरूपिणे । नमः सूर्यात्मने तुभ्यं नमो वज्रधराय ते ॥ ३० ॥
नमस्ते पद्मनाभाय नमस्ते शार्ङ्गपाणये । नमस्तुभ्यं विशालाक्ष नमः श्रीधर नायक ॥ ३१ ॥
नमः संसारतप्तानां तापनाशैकहेतवे । श्रौतस्मार्तैकनिष्ठानामचिरादेव मुक्तिद ॥ ३२ ॥
अन्येषामपि सर्वेषां संसारैकप्रदाव्यय । नमोऽसुरविमर्दाय नमो विद्याधरार्चित ॥ ३३ ॥
क्षीरोदशायिने तुभ्यं नमो वैकुण्ठवासिने । नमो रागाभिभूतानां वैराग्यप्लवदायिने ॥ ३४ ॥
सूत उवाच–इत्थं [2]ब्रह्मर्षिभिः सिद्धैः सनकाद्यैरभिष्टुतः । प्रसादमकरोत्तेषां श्रीवाराहशरीरभृत् ॥ ३५ ॥
ततः पूर्ववदानीय महीं साक्षान्महीपतिः । विसृज्य रूपं वाराहं स्वयं ब्रह्माऽभवद्धरिः ॥ ३६ ॥
सा मही संस्थिता विप्रा जलस्योपरि नौरिव । तस्यां ब्रह्मा महादेवप्रसादादेव सुव्रताः ॥ ३७ ॥
पूर्वसर्गोत्थविध्वस्तानखिलानमरप्रभुः । यथापूर्वं द्विजाः स्रष्टुं मतिं चक्रे प्रजापतिः ॥ ३८ ॥
इति श्रुत्वा मुनिश्रेष्ठा नैमिषारण्यवासिनः । पूजयामासुरत्यर्थं सूतं सर्वहितप्रदम् ॥ ३९ ॥
इति श्रीस्कन्दपुराणे श्रीसूतसंहितायां शिवमाहात्म्यखण्डे पृथिव्युद्धरणं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

श्रीमदूर्जितमेव वा । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम्' इति ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥ ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

इति श्रीमत्काशीविलासक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवापरायणेनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन माधवाचार्येण विरचितायां श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां शिवमाहात्म्यखण्डे पृथिव्युद्धरणं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

क्रमशः समष्टि मन, प्रकृति, समष्टि अहंकार व परमात्मरूप नारायण को प्रणाम अर्पित किया गया है ।) ॥ २४ ॥ योगात्मक तथा योग से प्राप्त होने वाले आपको प्रणाम है । योगियों को अभीष्ट सिद्धियाँ देने वाले आपको प्रणाम है । मत्स्य व कूर्मरूप आपको प्रणाम है ॥ २५ ॥ वराह, नृसिंह और वामनरूपों वाले आपको नमस्कार है । परशुराम, दाशरथि राम व बलराम अवतारों वाले आपको नमस्कार है ॥ २६ ॥ हे सर्वज्ञ ! कृष्ण व कल्कि रूप आपको नमस्कार है । कर्म करने वाले जिन कर्मों को करते हैं उन कर्मस्वरूप तथा कर्मों के फलरूप आपको नमस्कार है ॥ २७ ॥ कर्मकर्ता व कर्मसाक्षीरूप आपको नमस्कार है । (सूर्य, संध्या, अग्नि आदि कर्मसाक्षी प्रसिद्ध हैं) । अनुभवरूप आपको प्रणाम है । वेदसिद्धान्तरूप आपको प्रणाम है ॥ २८ ॥ त्रिगुणस्वरूप व त्रिगुणवर्जित आपको प्रणाम है । अद्भुतस्वरूप, देवशासक तथा शिवोपलब्धि के एकमात्र कारण आपको नमस्कार है ॥ २९ ॥ नक्षत्ररूप, चंद्ररूप, सूर्यरूप व इंद्ररूप आपको नमस्कार है ॥ ३० ॥ नाभि में कमल वाले, हाथ में शार्ङ्ग धनुष वाले तथा विशाल नेत्र वाले आप श्रीपति व ब्रह्माण्ड-नायक को नमस्कार है ॥ ३१ ॥ संसारताप से पीडितों के ताप हटाने वाले अकेले कारण आपको नमस्कार है । श्रौत व स्मार्त मार्ग पर निष्ठा पूर्वक चलने वालों को अतिशीघ्र मोक्ष देने वाले आपको नमस्कार है ॥ ३२ ॥ अन्य सभी कुमार्गगामियों का संसरण कराते रहने वाले आप अव्यय हरि को नमस्कार है । असुरों के समापक और विद्याधरों द्वारा अर्चित आपको प्रणाम है ॥ ३३ ॥ क्षीरसागर में सोने वाले और वैकुण्ठ में रहने वाले आपको प्रणाम है । रागाम्भोधि में डूबते साधकों को वैराग्यनौका देने वाले आपको प्रणाम है ॥ ३४ ॥

सूतजी बोले–इस प्रकार ब्रह्मर्षियों व सनकादि सिद्धों द्वारा स्तुति की जाने पर वराहशरीरधारी महाविष्णु ने उनपर कृपा की ॥ ३५ ॥ पूर्वकल्प की तरह पृथ्वी को स्थितकर उन्होंने वराहरूप छोड़ दिया और हरि ही स्वयं ब्रह्मा हो गये ॥ ३६ ॥ वह पृथ्वी नौका की तरह जल पर तैरती रही । महादेव की कृपा से ब्रह्माजी ने पूर्वसृष्टि में उत्पन्न व नष्ट सब वस्तुओं को उस पृथ्वी पर उत्पन्न करने का निश्चय किया ॥ ३७–३८ ॥

यों अपने प्रश्न का उत्तर सुनकर नैमिषारण्यनिवासी मुनियों ने हितोपदेशक सूतजी का बहुमानपुरःसर पूजन किया ॥ ३९ ॥

---

१. क. ग. घ. योगिनामिष्टसिद्धिद । २. ग. महर्षिभिः ।

दशमोऽध्यायः

नैमिषीया ऊचुः—कथं ब्रह्माऽसृजद्विद्वञ्जगत्सर्वं चराचरम् । संग्रहेण तदस्माकं ब्रूहि पुण्यवतां वर ॥ १ ॥

सूत उवाच—सिसृक्षोर्ब्रह्मणस्तस्य ब्राह्मणा वेदवित्तमाः । अबुद्धिपूर्वकः सर्गः कल्पादिषु यथा पुरा ॥
प्रादुर्भूतोऽम्बिकाभर्तुराज्ञयैव तमोमयः ॥ २ ॥

अहरवसाने ध्वस्तस्य लोकत्रयस्य तन्निवासिनां च पृथिव्युद्धरणसमनन्तरभाविसर्गक्रमं मुनयः पृच्छन्ति—**कथं ब्रह्मेति** । ब्रह्मा प्रजापतिः ॥ १ ॥

सिसृक्षोरिति । अत्रैष सर्गक्रमः ब्रह्मण आयुरवसाने ग्रस्तसमस्तप्रपञ्चाया अत्यन्तर्निर्विकल्पिकाया[1] मायाया जडत्वेन स्वप्रतिष्ठं निरस्ततरङ्गसमुद्रकल्पपरब्रह्म यावत्प्राणिकर्मपरिपाकमवतिष्ठते । परिपक्वेषु तु कर्मसु तस्य परब्रह्मणः सर्गाभिमुखे प्रथमपरिस्पन्दे ज्ञानेच्छाप्रयत्नविरहादबुद्धिपूर्वके स्रष्टव्यप्राणिकर्मप्रेरणयैव प्रवर्तिते तद्विषयतया सविकल्पकत्वेन तदावरणमायाया यत्स्फुरणं सोऽयमबुद्धिपूर्वकस्तमसः **सर्गः प्रथमः** । यदधिकृत्योच्यते 'तस्मादव्यक्तमुत्पन्नम्' इति । श्रूयते च 'नासदासीत्' इत्यारभ्य 'तम आसीत्तमसा गूहळमग्रे' इति । एष च तमःसर्गः पञ्चमे शक्तिपूजाध्यायेऽस्माभिः प्रपञ्चितः । ततोऽत्यन्तर्निर्विभागायां तस्यां मायायां तमःशब्दाभिधेयायां मोहमहामोहतामिस्रान्धतामिस्रापरपर्याया अस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाश्चत्वारो विपर्ययाः प्रसुप्ततया वर्तन्ते, यथा तत्त्वलीनानां हि । उक्तं हि पातञ्जले—'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः । अविद्यात्रयमुत्तरेषां प्रसुप्तत नुविच्छिन्नोदाराणाम्' । तथा—'प्रसुप्तास्तत्त्वलीनानां तनुदग्धास्तु योगिनाम् । विच्छिन्नोदाररूपास्तु क्लेशा विषयसङ्गिनाम्' इति ॥ तत्रानात्मनि देहादावात्मतत्त्वविपर्ययोऽस्मिता स मोहः । तेन च देहभोगोपकरणे स्रक्चन्दनादावभिलाषो रागः स महामोहः । तत्प्राप्तिपरिपन्थिनि द्वेषः स तामिस्रः । तदिदमहितमिति ज्ञात्वाऽप्यज्ञवदपरित्यागोऽभिनिवेशः सोऽन्धतामिस्रः । यद्वा—'तमोऽविवेको मोहः स्यादन्तःकरणविभ्रमः । महामोहस्तु विज्ञेयो ग्राम्यभोगसुखैषणा ॥ मरणं ह्यन्धतामिस्रं तामिस्रं क्रोध उच्यते । अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः' ॥ इति । तस्मादविभागापन्नगुणत्रयादव्यक्तात्तमसः सकाशादन्तर्विभागस्थगुणत्रयात्मकस्य महतः सर्गो **द्वितीयः** । 'अत्रेदमुच्यते—'अव्यक्तादन्तर्हितत्रिभेदगहनात्मकम् । महन्नाम भवेत्तत्त्वं महतोऽहंकृतिस्तथा' ॥ इति । तस्माद्बहिर्विभागगुणत्रयावस्थ स्याहमस्**तृतीयः सर्गः** । 'अत्रेदमुच्यते—'वैकारिकस्तैजसश्च भूतादिश्चैव तामसः । त्रिविधोऽयमहंकारो महत्तत्त्वादजायत' इति ॥ तत्र भूतादिनामकात्तामसादहंकाराद्रजसोपष्टब्धात् पञ्चतन्मात्राणां **सर्गश्चतुर्थः** । वैकारिकनाम्नः सात्त्विकादहङ्काराद् रजसोपष्टब्धादेकादशेन्द्रियगणस्य **सर्गः पञ्चमः** । यदाहुः सांख्याः—'सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात् । भूतादेस्तन्मात्रं स तामसस्तैजसादुभयम्' ॥ इति । शैवास्तु सात्त्विकादहंकारान्मनसो राजसादिन्द्रियदशकस्य सर्गमाहुरित्येतावान्विशेषः । यदाहुः—'सात्त्विकराजसतामसभेदेन स जायते पुनस्त्रेधा । स च तैजसवैकारिकभूतादिकनामभिः समुच्छ्वसिति ॥ तैजसतस्तत्र मनो वैकारिकतो भवन्ति चाक्षाणि । भूतादेस्तन्मात्राण्येषां सर्गोऽयमेतस्मात्' इति ॥ इन्द्रियदशकाधिष्ठातृदेव**सर्गः षष्ठः** । षडिमे प्राकृताः सर्गा ईश्वरकर्तृकाः । उक्तं भागवते—'आद्यस्तु महतः सर्गो गुणवैषम्यमात्मनः । द्वितीयस्त्वहमो यत्र द्रव्यज्ञानक्रियोदयः ॥ भूतसर्गस्तृतीयस्तु तन्मात्रो द्रव्यशक्तिमान् । चतुर्थ ऐन्द्रियः सर्गो यस्तु ज्ञानक्रियात्मकः ॥ वैकारिको देवसर्गः पञ्चमो यन्मयं मनः । षष्ठस्तु तमसः सर्गो यस्त्वबुद्धिकृतः प्रभोः ॥ षडिमे प्राकृताः सर्गा वैकृतानपि मे शृणु' । इति । वस्तुगत्या प्रथमस्यापि तमःसर्गस्याबुद्धिपूर्वकस्य बुद्धिपूर्वकसर्गपञ्चकानन्तरमुपन्यासादुपन्यासक्रमानुसारेण षष्ठत्वमिति । अयमेवाबुद्धिपूर्वकस्तमःसर्गः । स्वसृष्टौ प्रजापतिनाऽपि प्रथमं सृष्टस्ततो वृक्षादिर्मुख्यः सर्गस्ततोस्तिर्यक्स्रोतः पश्वादिः । तत ऊर्ध्वस्रोतो देवादिः । ततोऽर्वाक्स्रोतो मानुषस्ततो भूतप्रेतादिरिति षड्वैकृताः । प्राकृतवैकृतात्मक एकः कौमार इति । तत्र प्रजापतेः स्वसृष्टौ प्रथमं तमःसर्गमाह—**अबुद्धिपूर्वक** इति । अबुद्धिरविद्या सा पूर्वा यस्यास्मितादेः स तथोक्तः । अथवाऽबुद्धिरननुसंधानं[8] तत्पूर्वकोऽत एव **ब्रह्मणः प्रादुर्भूत** इत्याह न तु ब्रह्मा तं ससर्जेति । महाकल्पादिषु यथा परमात्मनः सकाशात्पञ्चपर्वाऽविद्या प्रादुर्भवत्येवमवान्तरकल्पे स्वसृष्टौ ब्रह्मणोऽपि प्रादुरभूत् । अवान्तरकल्पेषु चातीतेष्वनन्तरेषु यथा प्रादुरासीदेवमस्मिन्नपि कल्प इति ॥ २ ॥

ब्रह्मसृष्टि-कथन नामक दसवाँ अध्याय

नैमिषारण्यस्थ मुनियों ने प्रश्न किया—हे भगवन् ! ब्रह्मा ने चराचर सारे जगत् को किस क्रम से उत्पन्न किया यह हमें बताइये ॥ १ ॥

सूतजी ने उत्तर देना प्रारंभ किया—हे ब्राह्मणो ! हे वेदज्ञोत्तमो ! अम्बिकापति की आज्ञा से ही सृष्टि करना चाहने वाले ब्रह्मा से तमोविकारभूत सृष्टि वैसे ही हुई जैसे पूर्व कल्पों के प्रारंभ में होती आयी है । वह तमोमयीसृष्टि अविद्या का ही स्फुट रूप है अतः उसे अबुद्धिपूर्वक होने वाला कहा अर्थात् वह ऐसी है जिसके पूर्व में अबुद्धिशब्दित अविद्या है ही ॥ २ ॥

---

१. ज्ञानस्य स्वसमानाकाराविद्यानिवर्तकत्वनियमान्निर्विकल्पकज्ञाननिवर्त्यं प्रत्यगज्ञानमपि निर्विकल्पकमेवेति बोध्यम् । २. घ. °तनुदग्धवि° । ३. ख. तत्रे° । ४. क. ख. °स्थस्य महतस्तृ° । ५. क. ख. यत्रेद° । ६. क. ख. दिव्य° । ७. अत ऊ° । ८. यथापूर्वं हि सर्जनीयमित्यनुसन्धानानुपयोगेन ब्रह्मणोऽननुसन्धानं ज्ञेयम् ।

तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञितः ॥ ३ ॥

अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः । पञ्चधाऽवस्थितः सर्गः प्रवृत्तस्तामसो द्विजाः ॥ ४ ॥

अन्तर्बहिश्च वेदज्ञास्त्वप्रकाशस्तथैव च । स्तब्धो निःसंज्ञ एवायमभवन्मुनिपुंगवाः ॥ ५ ॥

तं दृष्ट्वा भगवान्ब्रह्मा सिसृक्षुः सर्वमास्तिकाः । असाधक इति ज्ञात्वा पुनः सोऽपरमीश्वरः ॥ ६ ॥

अमन्यतास्य वेदज्ञा ब्रह्मणो ध्यायतः[1] पुनः । सर्गोऽवर्तत [2]दुःखाद्यस्तिर्यक्स्रोतः प्रजापतेः[3] ॥ ७ ॥

पश्वादिः स तु विज्ञेयस्तिर्यक्स्रोतः समासतः । तं चासाधकमित्येवं ज्ञात्वाऽमन्यत्परं प्रभुः ॥ ८ ॥

पुनश्चिन्तयतस्तस्य सात्त्विकोऽवर्तत द्विजाः । ऊर्ध्वस्रोत इति ख्यातः सर्गोऽतीव सुखावहः ॥ ९ ॥

देवसर्ग इति ख्यातः स तु सत्यपरायणः । तमप्यसाधकं मत्वा ब्रह्मा ब्रह्मविदां वराः[4] ॥ १० ॥

तान्येव पञ्चपर्वाण्याह–**तमो मोह** इति । तमआदीनां स्वरूपं प्रागुक्तम् । तदा तु मोहादीनां विपर्ययाणामनुत्पन्नत्वात्प्रसुप्तता वृत्तिरुक्ता । इह तु समुदाचरद्वृत्तिताऽपीत्येतावान्विशेषः । **पञ्चधेति** । तामसो यः सर्ग उक्तः स पञ्चप्रकार इत्यर्थः ॥ ३ ॥ ४॥

अधुना वृक्षादिमुख्यसर्गमाह–**अन्तर्बहिरिति** । **अयमिति** स्थावरादिर्मुख्यः सर्गः । [5]सर्गानुक्रमण्यामस्य क्रमे–'चतुर्थो मुख्यसर्गाख्यो मुख्यस्तु स्थावराभिधः, इति वक्ष्यमाणत्वात् । अयमिति प्रकृततमः परामर्शे तु स्थावरसर्गस्य पृथगनभिधानादनुपन्यस्तस्यैव तदनुक्रमणं स्यादिति । वृक्षादिर्हि च्छेदन आदानादिजनितदुःखसुखमात्रज्ञानवत्त्वेऽपि तत्प्रतीकारं तदुपायं चाऽऽन्तरं बाह्यमप्य[6]-जानन्प्रकृष्टज्ञानाभावाद**प्रकाशः** । नामापरिज्ञानान्नि**ःसंज्ञः**, व्यापारासमर्थत्वेन **स्तब्धश्चोच्यते** । अत एवेमं मुख्यसर्गं प्रकृत्य विष्णुपुराणम्–'बहिरन्तश्चाप्रकाशः संवृत्तात्मा नगात्मकः । मुख्या नगा यतश्चोक्ता मुख्यसर्गस्ततस्त्वयम्' इति ॥ ५ ॥

असाधक इति । ऐहिकामुष्मिकहिताहिततदुपायतत्प्रतीकारविरहादप्यसाधकत्वम् । सर्गान्तरमाह–**पुनः सोऽपरमिति** ॥६॥

तिर्यग्भूतं स्रोतो गमनमाहारसंचाराद्यर्थमस्येति **तिर्यक्स्रोताः** । ह्रस्वत्वमार्षम् । **समासत** इति । व्यासतस्तु पुराणान्तरे तद्भेदा अष्टाविंशतिर्दर्शिताः । सर्गान्तरमाह–**तं चेति** । **अमन्यदमन्यत** ॥ ७ ॥ ८ ॥

सात्त्विकत्वादेव देवसर्गस्योर्ध्वस्रोतस्त्वम् 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः' इति गीतासु । भोगभूमौ हि देवा वर्तन्ते न कर्मभूमौ । अतस्तदीयसर्गस्यासाधकत्वम् ॥ ९ ॥ १० ॥

उस तमोमयी सृष्टि में अविद्या इन पाँच पर्वों वाली हो गयी–तम, मोह, महामोह, तामिस्र व अन्धतामिस्र । इस तरह वह तामस सृष्टि पाँच प्रकार की हुई । (तम कहते हैं तत्त्व-अपरिज्ञान को । देहादि को अपना स्वरूप समझ लेना मोह है । विषयाभिलाषारूप राग महामोह कहा गया है । द्वेष को ही तामिस्र और द्वेषादि को अहितकर समझकर भी उन्हें न छोड़ने का आग्रह अन्धतामिस्र है । क्योंकि इन प्रत्येक से अविद्या पूरी होती चलती है–दृढतर होती जाती है–इसलिये ये उसके पर्व कहे जाते हैं ।) ॥ ३ ॥ ॥ ४ ॥ तदनन्तर ये वृक्षादि स्थावर उत्पन्न हुए जिन्हे न अन्तःकरण से कोई विशेष ज्ञान है और न बहिःकरणों से कोई ज्ञान हैं जिससे ये 'अप्रकाश' कहे गये हैं । गमनागमनादि व्यापार करने में असमर्थ होने से ये 'स्तब्ध' हैं । इन्हें अपने नामों का पता नहीं अतः 'निःसंज्ञ'–संज्ञाशून्य हैं ॥ ५ ॥ हे आस्तिको ! नानाभेदभिन्न सारा जगत् उत्पन्न करना चाहने वाले ब्रह्माजी ने उस स्थावरसृष्टि को देखकर समझ लिया कि यह सृष्टि चलाने के लिये पर्याप्त नहीं है । उन परमेश्वर ब्रह्माने पुनः अन्य सृष्टि का संकल्प किया । यों ध्यान करते–संकल्प करते–प्रजापति से दुःखभोगप्रधान तिर्यक्स्रोतों की सृष्टि हुई ॥ ७ ॥ संक्षेप में कहें तो 'तिर्यक्स्रोता' कहते हैं पशु आदि को । (संक्षेप इसलिये कि इनकी जाति-प्रजाति का विस्तार यहाँ नहीं बता रहे । तिर्यक् अर्थात् टेढ़ा–पृथ्वी के समनन्तर रहते हुए–है स्रोत अर्थात् गमन जिनका उन्हें तिर्यक्स्रोता कहते हैं) । उस सृष्टि को भी प्रभु ने सृष्टि का सुसाधक नहीं समझा । (कर्माधिकार न होने से पशु भोग तो सकते हैं, आगे के लिये कुछ कर नहीं सकते । यही हाल वृक्षादि का है । अतः ये सृष्टि चला नहीं सकते) ॥ ८ ॥ पुनः संकल्प करते उन प्रजापति से सात्त्विक ऊर्ध्वस्रोता देवताओं की सृष्टि हुई । वह अत्यन्त सुखशाली उत्पत्ति थी । (ऊर्ध्व लोकों में गमन करने वाले होने से वे ऊर्ध्वस्रोता हैं) । यह सत्यपरायण देवसृष्टि भी (पूर्वोक्त कारण से ही) प्रपंच प्रचलन के लिये सामर्थ्यवान् नहीं यह मान कर ब्रह्माजी ने इससे भिन्न राजस सृष्टि का संकल्प किया । यों संकल्प करते उनसे शिवाज्ञावशात् अर्वाक्स्रोता मनुष्य उत्पन्न हुए । (देवलोक से इधर के लोक में ही गमन वाले होने से मनुष्य अर्वाक्स्रोता हैं) ॥ ९–११½ ॥

---

१. ख. ध्यानतः । २. क. ख. दुःखाढ्यस्ति° । ३. क. ख. °पते । ४. ङ. वरः । ५. ख. सर्गादिक° । ६. °मप्यज्ञवत्प्रकृष्ट° ।

अमन्यत परं सर्गं राजसं वैदिकोत्तमाः । तस्य चिन्तयतः सृष्टिं प्रादुरासीच्छिवाज्ञया ॥ ११ ॥

अर्वाक्स्रोत इति ख्यातः सर्गो[1] विप्रास्तु मानुषः । पुनश्चिन्तयतस्तस्य ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ॥ १२ ॥

महादेवाज्ञया विप्राः सर्गो भूतादिकोऽभवत् । इति पञ्चविधा सृष्टिः प्रवृत्ता परमेष्ठिनः ॥ १३ ॥

सर्गस्तु प्रथमो ज्ञेयो महतो ब्रह्मणस्तु सः । द्वितीयो वेदविच्छ्रेष्ठास्तन्मात्राणां च भौतिकः ॥ १४ ॥

वैकारिकाख्यो वेदज्ञास्तृतीयः परिकीर्तितः । सोऽयमैन्द्रियकः सर्ग इत्येते प्राकृतास्त्रयः ॥ १५ ॥

चतुर्थो मुख्यसर्गाख्यो [2]मुख्यस्तु स्थावराभिधः । तिर्यक्स्रोतस्तु पश्वादिः पञ्चमः परिकीर्तितः ॥ १६ ॥

षष्ठस्तु देवसर्गाख्यः सप्तमोऽर्वाक्प्रकीर्तितः । अष्टमो मुनिशार्दूला भूतप्रेतादिसंज्ञितः ॥ १७ ॥

राजसमिति । राजसो हि रागेण कर्मणि प्रवर्तमानोऽसौ साधको भविष्यतीति स्रष्टुरभिप्रायः । उक्तं हि–'रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् । तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्' इति । देवलोकादर्वाचीने मनुष्यलोके गमनमेषामित्यर्वाक्स्रोतसो मनुष्याः । अर्वाग्वा पुत्रपौत्रादिरूपप्रवाहरूपेण गमनमेषामिति । यद्यप्येतत्पश्वादावपि समानं तथाऽपि मनुष्येषु रूढोऽयं शब्दः । गच्छतीति गौरिति यथा पशुषु । साधकत्वेन मनुष्यसर्गे नास्त्यपरितोषः ॥ ११ ॥ १२ ॥

भूतादिक इति । आदिशब्देन प्रेतपिशाचादयः । **इति पञ्चविधेति** । मुख्य सर्गो वृक्षादिः प्रथमः । तिर्यक्स्रोतः पश्वादिर्द्वितीयः । ऊर्ध्वस्रोतो देवसर्गस्तृतीयः । अर्वाक्स्रोतो मनुष्यसर्गश्चतुर्थः । भूतादिः पञ्चमः । इति वैकृताः सर्गाः पञ्च । यस्तु प्रजापतेः प्रथमस्तामसः सर्गः सोऽबुद्धिपूर्वक इति बुद्धिपूर्वकवैकृतसर्गेषु न गणनीय इति । अत एव प्राकृतेष्वपि परमात्मनः सकाशादव्यक्ताख्यस्य तमसः सर्गो न गणनीयः ॥ १३ ॥

[3]अन्तर्बहिर्विभागगुणत्रयात्मनोर्महदहंकारयोरन्तर्बहिर्विभागलक्षणविशेषपरित्यागेन गुणत्रयविभागात्मनैकीकरणान्महतः **सर्गः प्रथमः** । महतो यः सर्गो **ब्रह्मणः** परमात्मनः सकाशादित्यर्थः । सूक्ष्मभूतानां **तन्मात्राणां** शब्दादीनां सर्गो द्वितीयः ॥ १४ ॥

इन्द्रियतदधिष्ठातृदेवतासर्गयोर्वैकारिकत्वेनैकीकरणादिन्द्रिय**सर्गस्तृतीय**, इति **प्राकृतास्त्रयः** । **वैकारिकाख्य** इति । इह पुराणेऽहंकारस्य महतः पृथगुपादानात्तन्मात्रगतज्ञानक्रियाशक्ति[4]जनकत्वमेव वैकारिकशब्दार्थः । अयं चार्थोऽग्रत[5] एव 'हिरण्यगर्भं वक्ष्यामी'त्यत्र स्पष्टीभविष्यति । उक्ता मुख्यसर्गादयो वैकृताः पञ्चेत्यष्टौ वैकृतेषु [6]प्रथमस्यापि मुख्यसर्गस्य प्राकृतांस्त्रीनपेक्ष्य चतुर्थत्वम् । एवं [7]तैर्यग्योन्यादीनां पञ्चमत्वादिकमिति ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

पुनः संकल्प करते प्रजापति से भूत, प्रेत, पिशाच आदि की सृष्टि हुई । इस प्रकार संकल्पपूर्वक पाँच प्रकार की सृष्टि परमेष्ठी प्रजापति से हुई । (तामससर्ग अबुद्धिपूर्वक होने से यहाँ नहीं गिना गया है । स्थावर, पशुआदि, देवता, मनुष्य और भूतादि– ये पाँच प्रकार हैं) ॥ १२–१३ ॥

क्रम की दृष्टि से कहें तो ब्रह्म से जो महान् की सृष्टि हुई वह प्रथम सर्ग है । (महान् से अहंकार भी समझ लेना चाहिये) । तन्मात्रा नामक सूक्ष्ममहाभूतों का जन्म द्वितीय सर्ग है ॥ १४ ॥ इन्द्रियों की सृष्टि वैकारिक कहा जाने वाला तीसरा सर्ग है । ये तीन प्राकृत सर्ग कहे जाते हैं । (प्रकृति की तरह ये प्रत्यक्ष नहीं होने से प्राकृत हैं । इंद्रियों की वैकारिकता का अभिप्राय है कि सूक्ष्मभूतों में ज्ञानशक्ति व क्रियाशक्ति की उत्पादकतारूप विकार-प्रयुक्त उनकी, इंद्रियों की, सृष्टि है) ॥ १५ ॥ चौथा सर्ग मुख्य सर्ग कहा जाता है । स्थावरों को मुख्य कहते हैं । (पशु, देवता आदि सब का साक्षात् व परम्परा से आहार होने के कारण औषधि-वनस्पति मुख्य सर्ग हैं) । तिर्यक्स्रोता पशु आदि की उत्पत्ति पाँचवाँ सर्ग है ॥ १६ ॥ छठा देवसर्ग और सातवाँ अर्वाक्स्रोता मानुषों का सर्ग है । भूतप्रेतादि की उत्पत्ति आठवाँ सर्ग है ॥ १७ ॥

---

१. ग. सर्गो विप्रस्तु । २. ग. मुख्यः स्थावरजाभि° । ३. तन्मात्राणामुत्पत्ते द्वितीयत्वं स्मृतिविरुद्धमित्याशङ्क्याहङ्कारस्यान्तर्भावं व्यनक्ति-अन्तरित्यादिना । ४. ख. घ. °क्तिजत्व° । ग. °क्तिजहत्व° । ङ. °क्तिज्ञहक° । ५. १.११.३ । ६. ग. प्रधानस्या° । ७. ग. तिर्य° ।

कौमारो नवमः प्रोक्तः प्राकृतो वैकृतश्च सः । एषामवान्तरो भेदो मया वक्तुं न शक्यते ॥ १८ ॥

अल्पत्वादुपयोगस्य द्विजा नाद्य वदाम्यहम् । सनकं च द्विजश्रेष्ठास्तथैव च सनातनम् ॥ १९ ॥

सनन्दनसमाख्यं च तथैव ब्रह्मवित्तमाः । ऋभुं सनत्कुमारं च ससर्जाग्रे प्रजापतिः ॥ २० ॥

ब्रह्मणो मानसाः पुत्रा इमे ब्रह्मसमा द्विजाः । महावैराग्यसंपन्ना अभवन्पञ्च सुव्रताः ॥ २१ ॥

अकर्त्रात्मानुसंधानाज्जाता एते प्रजापतेः । शिवध्यानैकमनसो न सृष्टौ चक्रिरे मतिम् ॥ २२ ॥

सृष्ट्यर्थं भगवान्ब्रह्मा लोकानामम्बिकापतेः । मुमोह मायया व्यस्तं दृष्ट्वा पुरुषोत्तमः ॥ २३ ॥

बुबोध पुत्रं ब्रह्माणं द्विजा नारायणः पिता । प्रबोधितश्चतुर्वक्त्रो विष्णुना विश्वयोनिना ॥ २४ ॥

महाघोरं तपश्चक्रे ध्यायन्विष्णुं सनातनम् । एवं चिरगते काले न किंचित्प्रत्यपद्यत ॥ २५ ॥

ततः क्रोधो महानस्य ब्रह्मणोऽजायताऽऽस्तिकाः । क्रोधेन तस्य नेत्राभ्यां प्रपतन्नश्रुबिन्दवः ॥ २६ ॥

एतस्मिन्समये तस्य ब्रह्मणः परमेश्वरः । अददात्कृपया बुद्धिं भगवान्करुणानिधिः ॥ २७ ॥

स पुनर्देवदेवस्य प्रसादादम्बिकापतेः । ततापं परमं घोरं तपो विप्राश्चतुर्मुखः ॥ २८ ॥

कौमारः सनकादिरग्रे वक्ष्यमाणप्रभावातिशययोगात्प्रजापतिना सृष्टत्वाच्च प्राकृतवैकृतोभयात्मकः । इति सर्गा नव । यद्यपि मुनिभिर्भूम्युद्धरणानन्तरभाविप्रजापतिकृतो वैकृत एव सर्गः पृष्टः सूतेन स्वयमपि 'सिसृक्षोर्ब्रह्मण' इत्यादिना स एव व्युत्पादितस्तथाऽपि सर्गानुक्रमणप्रस्तावेन प्राकृतमपि सर्गत्रयमुपन्यस्तमिति तेन सह सर्गा नवेत्युक्तम् । पुराणान्तरेषु मुख्यसर्गः षड्विधः । तैर्यग्योन्योऽष्टाविंशतिभेदो देवसर्गोऽष्टविध इत्याद्युक्तम् । इह तदनभिधाने कारणमाह–**एषामवान्तर** इति । **न शक्यत** इति नेष्यत इत्यर्थः ॥ १८ ॥

अनिच्छाकारणमाह–**अल्पत्वादि**ति । कौमारस्य सर्गस्य विभागमाह–**सनकं** चेति ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥

सनकादयश्चेत्सृष्टौ मतिं न चक्रिरे ब्रह्मा वा किमिति क्लेशात्मिकायां मतिमकरोदित्यत आह–**सृष्ट्यर्थ**मिति । स हि शिवाज्ञया स्वयं सृष्टौ नियुक्त इति तेनावश्यं सा कर्तव्येत्यर्थः ॥ २३ ॥

बुबोध बोधयामास ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

सनकादि कुमारों की सृष्टि नवम सर्ग है । यह नवमसर्ग प्राकृत भी है वैकृत भी । (प्रत्यक्षादि का विषय व वैकृतसर्ग की अन्य विशेषताओं वाला होने से वैकृत और प्रभावातिशय वाला होने से प्राकृत भी है ।) इन सर्गों के अवान्तर भेद मैं बताना नहीं चाहता क्योंकि उसे जानने का आप लोगों को कोई खास उपयोग नहीं । अतः मैं उसे अभी नहीं बताता ॥ १८½ ॥

(कौमारसर्ग श्रेष्ठ होने से व नाममात्र से समझ न आने के कारण स्वल्प विस्तार से बताया जा रहा है–) हे शिवोपासक-श्रेष्ठो ! प्रजापति ने प्रारंभ में सनक, सनातन, सनन्दन, ऋभु और सनत्कुमार को उत्पन्न किया ॥ १९–२० ॥ ब्रह्मा के ये मानसपुत्र ब्रह्मा के समान श्रेष्ठता वाले हैं । ये पाँचों परम वैराग्यसम्पन्न हुए ॥ २१ ॥ प्रजापति से उत्पन्न ये कुमार आत्मा की अकर्तृता के निश्चय से एकमात्र शिवध्यान में एकाग्र हुए, सृष्टि करने की इच्छा इन्हें नहीं हुई ॥ २२ ॥

सृष्टि के लिये व्यग्र ब्रह्मा अम्बिकापति की मायावशात् किंकर्तव्यविमूढ हो गये । (मेरे पुत्र सनकादि सृष्टि कर नहीं रहे तो अब मैं क्या करूँ जिससे सृष्टि प्रबन्ध चले ?–यह सोचने लगे) । उन्हें परेशान देखकर उनके पिता पुरुषोत्तम नारायण ने उन्हें समझाया । सर्वकारण विष्णु द्वारा समझाये जाने पर ब्रह्मा ने नित्य विष्णु का ध्यान करते हुए महाघोर तप किया । यों बहुत समय बीतने पर भी उन्हें कुछ समझ न आया ॥ २३–२५ ॥ हे आस्तिको ! इससे ब्रह्मा को अत्यधिक क्रोध हुआ । क्रोध से उनकी आँखों से आँसू गिरने लगे ॥ २६ ॥ इस समय करुणानिधि परमेश्वर ने ब्रह्मा को सद्बुद्धि दी ॥ २७ ॥ शिवकृपा से लब्धबुद्धि चतुर्मुख ब्रह्मा ने पुनरपि परम घोर तपस्या की ॥ २८ ॥

सृष्ट्यर्थं ब्रह्मणस्तस्य भ्रुवोर्घ्राणस्य मध्यतः । अविमुक्ताभिधाद्देशात्स्वकीयात्तु विशेषतः ॥ २९ ॥

त्रिमूर्तीनां महेशस्य द्विजा वेदार्थवित्तमाः । असंभूतो महादेवः सर्वदेवनमस्कृतः ॥ ३० ॥

अर्धनारीश्वरो भूत्वा प्रादुरासीद् घृणानिधिः । तमजं शंकरं साक्षात्तेजोराशिमुमापतिम् ॥ ३१ ॥

सर्वज्ञं सर्वकर्तारं नीललोहितसंज्ञितम् । दृष्ट्वा नत्वा महाभक्त्या स्तुत्वा हृष्टः प्रजापतिः ॥ ३२ ॥

उवाच देवदेवेशं सृजेमा विविधाः प्रजाः । ब्रह्मणो वचनं देवः श्रुत्वा विश्वजगत्पतिः ॥ ३३ ॥

ससर्ज स्वात्मना तुल्याञ्शिवो रुद्रान्द्विजोत्तमाः । तं पुनश्चाऽऽह देवेशं ब्रह्मा विश्वजगत्प्रभुः ॥ ३४ ॥

जन्ममृत्युभयाविष्टाः सृज देव प्रजा इति । एवं श्रुत्वा महादेवः प्रहस्य करुणानिधिः ॥ ३५ ॥

प्रोवाचाशोभनाः स्रक्ष्ये नाहं ब्रह्मन्प्रजा इमाः । अहं दुःखोदधौ मग्ना उद्धरामि प्रजा इमाः ॥ ३६ ॥

सम्यग्ज्ञानप्रदानेन गुरुमूर्तिपरिग्रहः । त्वमेव सृज [1]दुःखाद्याः प्रजाः सर्वाः प्रजापते ॥ ३७ ॥

सृष्ट्यर्थमिति । **सृष्ट्यर्थं** तपतस्तस्य **ब्रह्मणो भ्रुवोर्घ्राणस्य** च मध्ये यदविमुक्ताभिधानं क्षेत्रं **त्रिमूर्तीनां** ब्रह्मविष्णुमहेश्वराणामुपलब्धिस्थानत्वेन साधारणमपि विशेषतो महेश्वरस्य स्वकीयम् । तत्रा**संभूतो**ऽनादिरपि परमेश्वरः कृपया**ऽर्धनारीश्वरः** सन्**प्रादुरासीत्** । भ्रुवोर्घ्राणस्य च मध्यं शैवमविमुक्ताभिधमिति हि जाबालोपनिषदि श्रूयते–'अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं य [2]एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा तं कथमहं विजानीयामिति । सहोवाच याज्ञवल्क्यः सोऽविमुक्त उपास्यो य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति सोऽविमुक्तः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति । का वै वरणा का च नासीति । सर्वानिन्द्रियकृतान्दोषान्वारयति तेन वरणा भवति, सर्वानिन्द्रियकृतान्पापान्नाशयति तेन नासी भवतीति । कत[3]मं चास्य स्थानं भवतीति । भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः संधिः स एव द्यौर्लोकस्य परस्य च संधिर्भवतीति' ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

नीललोहितमिति । कण्ठे नीलोऽन्यत्र लोहितः ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

जन्ममृत्युभयेति । तथाविधा एव प्रवृत्त्यभिमुखा यतः ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

गुरुमूर्तीति । 'योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाऽऽचार्यमूर्तिस्थः' इति ह्युक्तम् ॥ ३७ ॥

सृष्टि के लिये तपस्या करते उन ब्रह्मा की भौंहों तथा नाक की संधि स्थल से अर्धनारीश्वर होकर सब देवों के आराध्य करुणालय महादेव प्रकट हुए । यह संधिस्थल 'अविमुक्त देश' कहा जाता है । यह यद्यपि ब्रह्मा, विष्णु, महेश–तीनों की उपलब्धि का स्थान है तथापि विशेषतः उपलब्धि के लिये महेश का अपना स्थान है ॥ २९–३०१/२ ॥

अजन्मा, कल्याणकारी, स्वयंतेजोरूप, सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, नीललोहित कहे जाने वाले उमापति को देखकर प्रसन्न हुए प्रजापति ने उन्हें प्रणामकर व परम भक्ति से उनकी स्तुति कर उन देवाधिदेव से ही कहा, 'ये (पूर्व सर्ग में ज्ञात व प्रकृतसर्ग में आवश्यक) विविध प्रजायें उत्पन्न कीजिये ।' ब्रह्मा की बात मानकर महादेव ने अपने समान रुद्रों को उत्पन्न किया । ब्रह्मा ने उन्हें फिर कहा, 'हे देव ! (ऐसे प्राणियों की सृष्टि संसार की उच्चावच गति की हेतु कैसे बनेगी ?) जन्म-मृत्यु के भय से आविष्ट प्राणियों को उत्पन्न कीजिये ।' यह सुनकर करुणामय महादेव ने हँसकर कहा, 'हे ब्रह्मन् ! मैं ये (जैसी तुम चाहते हो वैसी) अशुभ प्रजायें उत्पन्न नहीं करूँगा । मैं तो उल्टे दुःखसमुद्र में डूबती ऐसी प्रजाओं का गुरुमूर्ति ग्रहणकर सम्यक् आत्मज्ञान देकर उद्धार करता हूँ । हे प्रजापति ! दुःखप्रमुख इन प्रजाओं को तुम ही उत्पन्न करो ।' ॥ ३१–३७ ॥ यह कहकर श्रीमान् नीललोहित भगवान् शंकर अन्तर्धान हो गये ।

---

१. °दुःखाढ्याः । २. ख. एषोऽव्यक्तोऽनन्त आत्मा । ३. ङ. °तमच्चास्य ।

इत्युक्त्वाऽन्तर्हितः श्रीमान्भगवान्नीललोहितः । ततस्तस्य प्रसादेन निवार्य कमलासनः ॥ ३८ ॥

रुद्रानत्यन्तकल्पायून्प्रजासृष्टौ प्रवर्तकान् । शब्दादीनि च भूतानि पञ्चीकृत्य द्विजोत्तमाः ॥ ३९ ॥

तेभ्यः स्थूलाम्बरं वायुं वह्निं चैव जलं महीम् । पर्वतांश्च समुद्रांश्च वृक्षादीनपि सुव्रताः ॥ ४० ॥

कलादियुगपर्यन्तान्कालानन्यानपि प्रभुः । सृष्ट्वा वेदविदां मुख्याः साधकानसृजत्प्रभुः ॥ ४१ ॥

मरीचिं च स्वनेत्राभ्यां हृदयाद् भृगुमेव च । शिरसोऽङ्गिरसं चैव तथोदानाद् द्विजोत्तमाः ॥ ४२ ॥

पुलस्त्यं पुलहं व्यानादपानात्क्रतुमीश्वरः । दक्षं प्राणात्तथैवात्रिं श्रोत्राभ्यां मुनिपुंगवाः ॥ ४३ ॥

समानाच्च वसिष्ठाख्यं संकल्पाद्धर्मसंज्ञितम् । एवमेतानजः श्रीमानसृजत्साधकोत्तमान् ॥ ४४ ॥

पुनस्तदाज्ञया विप्रा धर्मः संकल्पसंज्ञितः । मानवं रूपमापन्नः साधकैस्तु प्रवर्तितः ॥ ४५ ॥

ततश्चतुर्मुखः स्वस्य जघनादसुरान्द्विजाः[1] । सृष्ट्वा मूर्तिं पुनस्त्यक्त्वा शरीरान्तरमाप्तवान् ॥ ४६ ॥

रुद्रान्नीललोहितेन सृष्टान्निवार्य शब्दादीनि तन्मात्रापरपर्यायाणि सूक्ष्मभूतानि प्रागेव परमात्मना सृष्टानि **पञ्चीकृत्य** वियदादीनां पञ्चानां भूतानां मध्य एकैकं पञ्चात्मकं कृत्वा । यथा–वियदादिकमेकैकं द्विधा द्विधा विभज्य तत्र द्विधातो द्वितीयभागं चतुर्धा विभज्य वाय्वादिभूतचतुष्टयप्रथमभागेष्वेकैकं योजयेत् । एवं वायोरपि द्वितीयभागं चतुर्धा विभज्य वायुप्रथमभागं परित्यज्य वायुव्यतिरिक्तभूतचतुष्टयप्रथमभागेषु योजिते सत्येकैकभूतस्यार्धं स्वकीयमर्धं स्वेतरभूतचतुष्टयात्मकमित्येकैकस्य पञ्चात्मकत्वेऽपि भागाधिक्यात्पृथिव्यादि विभागव्यवहार इति । उक्तं व्यासेन–'वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वाद' इति ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

तेभ्य इति । **तेभ्यो**ऽपञ्चीकृतेभ्यः शब्दादिभ्यः सकाशात्पञ्चीकरणेन निष्पन्नानि स्थूलादीन्याकाशादीनि भूतानि भौतिकानि पर्वतादीनि च ससर्जेत्यर्थः ॥ ४० ॥

कलादीति । कलाकाष्ठामुहूर्तादिकालविभागानां बह्वल्पतपनपरिस्पन्दोपाधिकृतत्वेन पञ्चीकरणोत्तरकालभावित्वम् । कालस्वरूपमात्रस्य तु मायापरमात्मसंबन्धमात्रकत्वेन प्रागेव सिद्धेः ॥ ४१ ॥

तानेव साधकानाह–**मरीचिं चे**त्यादि ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

साधकैर्मरीच्यादिवसिष्ठान्तैर्नवभिः प्रवर्तितो धर्म एव मनुरूपतां प्राप्त इत्याह–**पुनरि**ति ॥ ४५ ॥

ततश्चतुर्मुख इति । असुरान्सृष्ट्वा ब्रह्मणा परित्यक्तं तच्छरीरं रात्र्यात्मकमासीत् । तथाहि तैत्तिरीयके 'इदं वा अग्रे नैव किंचनाऽऽसीत्' इति ब्रह्मणोऽहरादौ लोकत्रयसृष्टिं प्रक्रम्योक्तम् 'स जघनादसुरानसृजत तेभ्यो मृन्मये पात्रेऽन्नमदुहद्याऽस्य सा तनुरासीत्तामपाहत सा तमिस्राऽभवत्' इति ॥ ४६ ॥

तब शिवकृपा से कमलासन ब्रह्मा ने रुद्रों को सृष्टि करने से रोक दिया और सूक्ष्ममहाभूतों का पंचीकरण कर उनसे स्थूल आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तथा पर्वत, समुद्र वृक्ष आदि बनाये। (पाँचों सूक्ष्म महाभूतों को विशिष्ट अनुपात में आपस में मिला देना पंचीकरण है। पचास प्रतिशत सूक्ष्म आकाश में साढ़े बारह-साढ़े बारह प्रतिशत अन्य चारों महाभूत मिलाने से जो वस्तु तैयार होती है उसे स्थूल या पंचीकृत आकाश कहते हैं। इसी तरह सभी महाभूत पंचीकृत रूप में उपस्थित होते हैं। इन्द्रियविषयभूत गुणों का आधार होना ही स्थूल होना है) ॥ ३८–४० ॥ कला से युग तक के खण्डकालों को व अन्य सामग्रियों को उत्पन्नकर ब्रह्माजी ने सृष्टि-संचालन में सहायक व्यक्तियों को उत्पन्न किया ॥ ४१ ॥ अपने नेत्रों से मरीचि को, हृदय से भृगु को, सिर से अंगिरस् को, उदान से पुलस्त्य को, व्यान से पुलह को, अपान से क्रतु को, प्राण से दक्ष को, कानों से अत्रि को, समान से वसिष्ठ को, और संकल्प से धर्म को–यों इन उत्तम साधकों को श्रीमान् ब्रह्मा ने उत्पन्न किया ॥ ४२–४४ ॥ फिर उनकी आज्ञा से मरीचि से वसिष्ठ तक गिनाये नौ साधकों द्वारा प्रवर्तित धर्म, जो ब्रह्मा के संकल्प से उत्पन्न होने के कारण संकल्प नाम वाला था, मनु-रूप को प्राप्त हुआ ॥ ४५॥

तदनन्तर चतुर्मुख ब्रह्मा ने अपनी जंघा से असुरों को उत्पन्न किया। ये सब उत्पन्नकर उन्होंने अपना वह शरीर छोड़ दिया और अन्य शरीर ग्रहणकर लिया। ब्रह्मा द्वारा छोड़ा वह शरीर मनुष्यों की रात्रि बन गया ॥ ४६¹/₂ ॥

---

१. नचासुरसृष्टिवैयर्थ्यम्, पापमन्तरा संसारचक्रस्थगनादिति बोध्यम्। सुरेभ्यः पूर्वजत्वं चासुरप्रवृत्तीनां स्वाभाविकतयानुभवसिद्धमित्यन्यत्र विस्तरः।

सा तनुर्ब्रह्मणा त्यक्ता रात्रिरूपाऽभवन्नृणाम् । पुनर्ब्रह्माऽऽत्तदेहस्य मुखात्सत्त्वविजृम्भितात् ॥ ४७ ॥
सृष्ट्वा सुरानजस्तच्च शरीरं त्यक्तवान्पुनः । तत्पुनर्वेदविच्छ्रेष्ठा अभून्नृणां दिनं शुभम् ॥ ४८ ॥
पुनश्च सत्त्वसंयुक्तं शरीरं भगवानजः । आस्थाय ब्रह्मविन्मुख्याः पितृन्सृष्ट्वा विहाय तत् ॥ ४९ ॥
शरीरान्तरमापन्नश्चतुर्वक्त्रः शिवाज्ञया । त्यक्ता मूर्तिर्द्विजाः सा तु संध्या तेनाभवद् द्विजाः ॥ ५० ॥
ब्रह्मणो विग्रहादेव रजसा परिवेष्टितात् । जज्ञिरे मनुजाः सर्वे त्यक्तं तद्विग्रहं पुनः ॥ ५१ ॥
ज्योत्स्नारूपेण निष्पन्नं पुनर्देहान्तरं गतः । ब्रह्मा तस्य शरीरात्तु रजसा सहिता[1] द्विजाः ॥ ५२॥
क्षुत्पिपासाभिभूताश्च राक्षसाः पन्नगास्तथा । भूतगन्धर्वरूपाश्च समुत्पन्ना बलान्विताः ॥ ५३ ॥
पुनर्देहान्तरं गत्वा ततो विश्वजगत्पतिः । वयांसि गर्दभानश्वान्मातङ्गान्रासभान्मृगान् ॥ ५४ ॥
ससर्जान्यांश्च विश्वात्मा तथैवौद्गात्रमेव च । ऋचं चैव त्रिवृत्सोमं तथा चैव रथंतरम् ॥ ५५ ॥
अग्निष्टोमादिकं सर्वं सहाङ्गेन प्रजापतिः । तथैव सर्वनामानि निर्ममे वेदशब्दतः ॥ ५६ ॥

मुखात्सत्त्वविजृम्भितादिति । ऊर्ध्वस्रोतसो हि सात्त्विका इत्युक्तम् । श्रूयते हि–'स मुखाद्देवानसृजत तेभ्यो हरिते पात्रे सोममदुहत् । याऽस्य सा तनूरासीत्तामपाहत तदहरभवदि'ति ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

पुनश्च सत्त्वसंयुक्तमिति । **पितृन्**देवपितृन् ऋतून् 'ऋतुवः खलु वै देवाः पितरः' इति श्रुतेः । मनुष्यपितरस्तु तदा न जाता एव । तान्**सृष्ट्वा** त्यक्तं शरीरं **संध्या** जाता । श्रूयते हि–'स उपपक्षाभ्यामेवर्तूनसृजत तेभ्यो राजते पात्रे घृतमदुहत् । याऽस्य सा तनूरासीत्तामपाहत सोऽहोरात्रयोः संधिरभवत्' इति ॥ ४९ ॥ ५० ॥

रजसा परिवेष्टितादिति । अर्वाक्स्रोतसो हि राजसा इत्युक्तम् । श्रूयते हि 'स प्रजननादेव प्रजा असृजत' इत्यारभ्य 'ताभ्यो दारुमये पात्रे पयोऽदुहद्याऽस्य सा तनूरासीत्तामपाहत सा ज्योत्स्नाऽभवत्' इति ।

रजसा सहितादिति । रजसो रागात्मकत्वात्ततो जाता राक्षसादयः क्षुत्पिपासादिपरीता जाताः ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

तत्तत्स्रष्टव्यानुरूपं तं तं देहं स्वीकृत्य शेषं सर्वं सृष्टवानित्याह–**पुनर्देहान्तरं गत्वेति** ॥ ५४ ॥

औद्गात्रमुद्गातृकर्म । **ऋचं** यज्ञम् । **त्रिवृदादीनि** यज्ञाङ्गानि । श्रूयते हि 'इदं सर्वमसृजत यदिदं किंच ऋचो यजूंषि सामानि च्छदांसि यज्ञान्प्रजां पशून्' इति ॥ ५५ ॥

वेदशब्दत इति । तथा चोक्तं पुराणे–'ऋषीणां नामधेयानि कर्माणि विविधानि च । वेदशब्देभ्य एवाऽऽदौ निर्ममे स महेश्वरः' इति ॥ ५६ ॥

ग्रहण किये उस नवीन शरीर के सत्त्वगुणाधिक्य वाले मुख से ब्रह्मा ने देवताओं को उत्पन्न किया और पुनः शरीर छोड़ दिया जो मनुष्यों का दिन बन गया ॥ ४७–४८ ॥ तदनन्तर ब्रह्मा ने सत्त्वसंयुक्त एक और देह धारण किया व उससे ऋतुयें उत्पन्न कीं तथा शिवाज्ञानुसार उस शरीर को भी छोड़ दिया जो मनुष्यों की सन्ध्या बन गया ॥ ५० ॥ ब्रह्मा द्वारा गृहीत रजोगुण-युक्त शरीर से ही सब मनुष्य उत्पन्न हुए । मनुष्य बनाकर ब्रह्मा ने वह शरीर छोड़ा तो वह ज्योत्स्ना बना गया ॥ ५१½ ॥ ब्रह्मा ने पुनः अन्य शरीर लिया । रजोगुण से युक्त उस शरीर से भूख-प्यास से अभिभूत तथा अत्यन्त बली राक्षस, पन्नग, भूत व गन्धर्व उत्पन्न हुए । (यद्यपि पशु, मनुष्य आदि में भी भूख-प्यास हैं तथापि राक्षस आदि में अत्यधिक हैं अतः उनके लिये इनका उल्लेख कर दिया ।) ॥ ५२–५३ ॥ फिर अन्य देह धारणकर पक्षी, खच्चर, घोड़े, हाथी, गधे, मृग तथा अन्य जानवर उत्पन्न किये । इसी प्रकार औद्गात्र (उद्गाता नामक ऋत्विक् का कर्म), यज्ञ, त्रिवृत्सोम, रथन्तर, अग्निष्टोम आदि सब (यज्ञांगों) को उनके अवयवों सहित ब्रह्मा ने बनाया ॥ ५४–५५½ ॥ तथा वेद के शब्दों से सारे नाम (संज्ञायें) बनाये ॥ ५६ ॥

---

१. टीकेह पञ्चम्यन्तं पिपठिषति ।

पञ्चीकृतानि भूतानि ब्रह्मणा मुनयः पुरा । सर्वेषां कारणत्वेन प्रोक्तानि ब्रह्मवादिभिः ॥ ५७ ॥

एवं विचित्रं जगदन्तरात्मा प्रजापतिः स्वप्नसमं स सृष्ट्वा ।

प्रसादतस्तस्य महेश्वरस्य पुनस्तमोरूपमवाप सद्यः ॥ ५८ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां शिवमाहात्म्यखण्डे ब्रह्मसृष्टिकथनं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

नैमिषीया ऊचुः

एवं सृष्ट्वा पुनर्ब्रह्मा स्थावराणि चराणि च । भगवन्भगवानीशः किं चकाराऽऽशु तद्वद ॥ १ ॥

यानि **पुरा ब्रह्मणा पञ्चीकृतानि भूतानि** तान्येवोक्तस्य शब्दार्थप्रपञ्चजातस्य कारणमित्यर्थः ॥ ५७ ॥

एवं विचित्रमिति । निरतिशयज्ञानवैराग्यसंपन्नो हि प्रजापतिः । यत्रेदमुच्यते—'ज्ञानमप्रतिमं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः । ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सह सिद्धं चतुष्टयम्' इति ॥ सह स्वभावत एव[1] । एवंभूतोऽपि सृज्यप्राणिकर्मभिः प्रवर्तितस्य परमेश्वरस्याऽऽज्ञया [2]मायामयं जगन्निर्माय प्रभोराज्ञां निष्पन्नां मन्यमानः स्वाभाविकीं स्वरूपप्रतिष्ठां प्रापत् । तत्त्वनिष्ठैव चेयं लौकिकदृष्टीनामविषयत्वात्तमोरूपप्राप्तिरुच्यते । उक्तं गीतासु—'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी । यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः' इति ॥ ५८ ॥

इति श्रीमत्काशीविलासक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीमत्त्यम्बकपादाब्जसेवापरायणेनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन माधवाचार्येण विरचितायां श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां शिवमाहात्म्यखण्डे ब्रह्मसृष्टिकथनं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

प्रजापतेः स्वप्रतिष्ठत्वेऽवशिष्टसृष्टिः सृष्टपरिपालनं सांप्रतिकसंसारोपलम्भश्च कथं स्यादिति जिज्ञासमाना मुनयः पृच्छन्ति—**एवं सृष्ट्वेति** ॥ १ ॥

हे मुनियो ! ब्रह्मा ने पहले पहल जिन महाभूतों का पंचीकरण कर दिया था वे इस शब्द व अर्थ रूप सारे प्रपंच के कारण ब्रह्मवादियों द्वारा बताये गये हैं ॥ ५७ ॥

इस प्रकार महेश्वर की कृपा से अन्तरात्मा प्रजापति ने विचित्र स्वप्नसदृश जगत् रचा और पुनः अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित हो गये । यह स्वरूपस्थिति ही साधारण दृष्टि से तमोरूपता की प्राप्ति है क्योंकि इसमें भेदभिन्न जगत् का परामर्श नहीं ॥ ५८ ॥

हिरण्यगर्भ आदि विशेषसृष्टि नामक ग्यारहवा अध्याय

नैमिषारण्य के मुनियों ने आगे जिज्ञासा की—हे भगवन् ! इस प्रकार स्थावर व जंगम सृष्टियों को रचने के बाद ईश्वरात्मक ब्रह्माजी ने क्या किया—यह हमें शीघ्र बताइये । (जानने के लिये शीघ्रता इसलिये है कि यदि ब्रह्मा जी पूर्वाध्यायोक्त रीति से निश्चेष्ट हो गये तो उत्तरसृष्टि, परिपालन व अब तक व्यवस्था कैसे चल रही है—यह शंका उत्कट है ।) ॥ १ ॥

---

१. जातमात्रस्य प्रजापते र्न ज्ञानादिः, भयारत्यादिश्रवणात्ततश्च विनोपदेशं ज्ञानादिलाभः सहसिद्धवाक्यार्थ इति स्थितमाकर इत्यभिप्रेत्य सहपदार्थः स्वभावत एवेति व्याख्यातः ।

२. एवं व्यवस्थितोत्पत्तिकायां सृष्टौ सत्यताधीपरिजिहीर्षया मूले स्वप्नसममित्युक्तं, तद्व्याचष्टे मायामयमिति । न च मायिकेऽक्रमनियमः, स्वप्नादौ क्वचित् क्रमस्याप्युपलब्धेः । सृष्टेरुपलब्धतया प्रयोजनाभावेन तत्र शास्त्रतात्पर्यायोगात्, अनुपलब्धे ह्यर्थे तत्प्रामाण्यस्य तान्त्रिकैरभ्युपगमात्र हि सृष्ट्यादिप्रपंचः प्रतिपिपादयिषितः, किन्तर्हि, नेतीत्यादि निषेधायैवोपस्थापितो नेदं रजतमित्यत्र रजतवदिति वोध्यम् । दृष्टस्य गतिमनुक्त्वाऽद्वैतोपदेशस्यासम्भवत्वादुक्तं द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वमद्वैतसत्यत्वसिद्धेः । अध्यारोपापवादन्यायं च हित्वोपायान्तराभवआत्मवोधन इति गीताभाष्यादावुक्तत्वाच्चेति ।

सूत उवाच–संहारहेतुभूतेन तमसा परिवेष्टितः । विहाय तत्तमोरूपं सृष्टानामभिवृद्धये ॥ २ ॥
हिरण्यगर्भसंज्ञस्य ब्रह्मणो रूपमाप सः । हिरण्यगर्भं वक्ष्यामि तथाऽन्यदपि सुव्रताः ॥ ३ ॥
पञ्चभूतेषु जातेषु शब्दस्पर्शादिषु द्विजाः । विजातास्तेषु सत्त्वेन गुणेन ज्ञानशक्तयः ॥ ४ ॥
तथा समष्टिभूतानां द्विजाः स्थानां रजोगुणात् । शब्दस्पर्शादिभूतेषु विजाताः कृतिशक्तयः ॥ ५ ॥

संहारहेतुभूतेनेति । जगत्कर्तरि प्रजापतौ स्वरूपप्रतिष्ठे हि 'जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे' इत्युक्तरीत्या सकलं जगदव्यक्ते लीयते । अत उक्तं संहारहेतुभूतं तमः । तेन **परिवेष्टितस्त**दुपाधिकः स **सृष्टानामभिवृद्धये तत्तमोरूपं** विजहौ । अयमाशयः– अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशलक्षणक्लेशपञ्चकमूलो हि कर्माशयः प्राणिभिरिहामुत्र च लोके भोक्तव्यः । यदुक्तं पतञ्जलिना– 'क्लेशमूलं कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय' इति । यावच्च कर्मणां मूलभूतं क्लेशपञ्चकमनुवर्तते तावत्तस्य कर्माशयस्य त्रिविधः परिपाको भवति नानाविधयोनिषु जन्मप्राप्तिश्चाऽऽयुश्च सुखदुःखलक्षणफलोपभोगश्चेति । तदप्युक्तं तेनैव 'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः' इति । तत्र पूर्वोदीरितसृष्ट्यां केषांचिज्जन्महेतुकर्मणां चरितार्थत्वेऽप्यवशिष्टानां चाऽऽयुर्हेतूनां च कर्मणां फलप्रदानानुरूपसर्गपर्यन्तानां प्रभोराज्ञामनुसंदधानस्तदर्थं हिरण्यगर्भापरपर्यायस्य ब्रह्मणो रूपं प्रापदिति । यद्यपि ब्रह्मा हिरण्यगर्भरूप एव तथाऽपि सूतः प्राकृतसर्गशेषं विवक्षुरजिज्ञासिताभिधानेऽनवधेयवचनतापातात्तद्विषयां जिज्ञासां मुनीनामुत्पादयितुं **हिरण्यगर्भसंज्ञस्येति** विशिनष्टि । अमुनैव विशेषणेन मुनीञ्ज्ञातजिज्ञासानाकलय्यापृष्टोऽपि सूतः स्वयमेव वक्तुं प्रतिजानीते **हिरण्यगर्भमिति** । **तथाऽन्यदिति** । सूत्रात्मानमन्तर्यामिणं त्रयाणामपेक्षितमुपाधित्रयं तदुत्पत्तिप्रकारं चेत्यर्थः ॥ २ ॥ ३ ॥

पञ्चभूतेष्विति । अयमर्थः अबुद्धिपूर्वकं तमोरूपमव्यक्तमुत्पन्नमिति यदवादिष्म तदधिष्ठितनिष्कलः परशिव ईश्वरः सगुणं ब्रह्मेति चोच्यते । तत उत्पन्नं यन्महत्तत्त्वं प्राकृतसर्गमध्ये प्रथमम्, 'सर्गस्तु प्रथमो ज्ञेयः' इति प्रागुक्तं, तस्य गुणत्रयात्मकत्वात्तत उत्पन्नानि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्रापरपर्यायाणि सूक्ष्मभूतान्यपि गुणत्रयात्मकान्येव । अतस्तेषु सत्त्वगुणनिबन्धना याः पञ्च**ज्ञानशक्तय**स्ताः प्रत्येकं श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणलक्षणानि ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च जनयन्ति । तेष्वेव पञ्चसु सूक्ष्मभूतेषु **रजोगुणात्समष्टिभूतानां स्थानां** वाक्पाणिपादपायूपस्थलक्षणानां कर्मेन्द्रियाणां कारणभूताः पञ्च क्रियाशक्तयो जायन्ते । तथेति कथनात्समष्टिभूतानां स्थानामित्येतत्पूर्वत्रापि योजनीयम् । तत्र तु श्रोत्रादीनां ज्ञानेन्द्रियाणां कारणभूता ज्ञानशक्तय इत्यर्थः । **समष्टिभूतानामिति** व्यष्टिव्यवच्छेदार्थम् । तथाहि–व्यष्टिभूतस्थूलभूतसूक्ष्मकारणोपाधिभिरुपहितं तत्त्वं विश्वतैजसप्राज्ञशब्दैरभिधीयते । समष्टिभूतैस्तैरुपहितं तत्त्वं वैश्वानरहिरण्यगर्भेश्वरपदैरभिधीयते । तथा ह्युत्तरतापनीयोपनिषदि श्रूयते 'विश्वो वैश्वानरः प्रथमः पादस्तैजसो हिरण्यगर्भो द्वितीयः पादः प्राज्ञ ईश्वरस्तृतीयः पादः' इति । तदिह हिरण्यगर्भस्य विवक्षितत्वात्समष्टिभूतानामित्युक्तम् । तत्र समष्टिसूक्ष्मभूतेषु पञ्चसु स्थिता ज्ञानशक्तयो मिलि[१]त्वा मनोबुद्ध्यपरपर्यायं समष्टिभूतमन्तःकरणं जनयन्ति । पञ्चभूतगतज्ञानशक्त्यात्मकस्यापि मनसश्छन्दोगोपनिषदि यदन्नमयत्वाभिधानम्, 'अन्नमयं हि सौम्य मनः' इति, तदन्नप्राचुर्याभिप्रायम् । अन्ननिबन्धनोपचयाभिप्रायं वा । तथाच तत्रैव 'पञ्चदशाहानि माऽशी'रित्यादिनाऽन्नहानोपादानाभ्यां चित्तस्यापच[२]योपचयावेवोदाहरन्ति । अमुनैवाभिप्रायेण यज्ञवैभवखण्ड उपरिभागे पञ्चमाध्याये–'अन्नेनाऽऽप्यायिते भुक्तेनाधीतं

सूतजी ने बताना आरंभ किया–संहार की कारणभूत अविद्यारूप उपाधि का परित्यागकर उत्पन्न प्रपंच की अभिवृद्धि के लिये उन्होंने हिरण्यगर्भनामक ब्रह्मा का रूप ग्रहण किया । अब मैं हिरण्यगर्भ तथा सूत्रात्मा आदि अन्य रूपों का वर्णन करूँगा ॥ २–३ ॥ (प्रजापति के स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाने पर सकल जगत् का अव्यक्त माया में विलय अवश्यंभावी है अतः उस समय वे माया उपाधि वाले हो रहते हैं । इस विलयाधिकरणता की दृष्टि से संसारकारणभूत माया को यहाँ संहारकारणभूत कहा है । किन्तु प्रजापति को यह विलय अभीष्ट था नहीं अतः उन्होंने वह रूप छोड़ रूपान्तर ग्रहण किया । पूर्व में स्वरूपप्रतिष्ठा का अभिप्राय यही व्यक्त करता है कि सृष्टि करने आदि से आत्मा में कुछ अन्तर नहीं आता) ।

शब्द, स्पर्श आदि तन्मात्ररूप सूक्ष्म महाभूतों के उत्पन्न हो जाने पर उनमें स्थित सात्त्विकांशों से ज्ञानशक्तिरूप श्रोत्र, त्वक् आदि ज्ञानेन्द्रियाँ उपजीं तथा उन्हीं सूक्ष्म महाभूतों के अपने-अपने रजोगुणांशों से क्रियाशक्तिरूप कर्मेन्द्रियाँ निर्मित हुईं ॥ ४–५ ॥ महाभूतों में स्थित पाँचों ज्ञानशक्तियाँ मिलकर सबका समष्टि मन बन गयीं ॥ ६ ॥ उस समष्टि मन–अर्थात्

---

१. ग. ङ. °लितत्वान्मनो° । २. ङ. °चयी चोदा° ।

भूतेषु संस्थिता ज्ञानशक्तयः पञ्च संयुताः । समष्टिभूतं सर्वेषां मानसं करणं भवेत् ॥ ६ ॥
तद्गतो भगवान्ब्रह्मा त्रिमूर्तीनां द्विजर्षभाः । हिरण्यगर्भ इत्युक्तो मुनिभिः सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ ७ ॥
तथैव ब्रह्मविच्छ्रेष्ठाः संयुताः कृतिशक्तयः । समष्टिभूतः प्राणानां भवेत्प्राणः शिवाज्ञया ॥ ८ ॥
तत्रस्थो भगवान्विष्णुः सूत्रात्मेति प्रकीर्तितः । उभयत्र स्थितः साक्षात् त्रिमूर्तीनां महेश्वरः ॥ ९ ॥
अन्तर्यामीति वेदेषु गीयते वेदवित्तमाः । हिरण्यगर्भरूपं यः प्राप्तः श्रुतिषु निश्चितः ॥ १० ॥
स पुनर्भगवान्ब्रह्मा माययैव स्वकं पुनः[1] । द्विधा कृत्वा मुनिश्रेष्ठा अर्धेन पुरुषोऽभवत् ॥ ११ ॥
अर्धेन नारी तस्यां तु विराजमसृजत्पुनः[2] । पुनश्च भगवानस्यां स्वराडाख्यं तथैव च ॥ १२ ॥
सम्राडात्माभिधं विप्रा असृजल्लोकनायकः । ते पुनस्तेन विप्रेन्द्र ब्रह्माण्डेनाऽऽवृतास्त्रयः ॥ १३ ॥

तस्य भासते' इत्याप्यायन एवान्नस्यासाधारणकारणतां वक्ष्यति । तदुपहितः परमात्मा **हिरण्यगर्भ** इत्युच्यते । स एव च ब्रह्मविष्णुरुद्राख्यमूर्तित्रयमध्ये ब्रह्मेत्युच्यते ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

तथा सूक्ष्मभूतपञ्चके यत्क्रियाशक्तिपञ्चकं तन्मिलितं तत्समष्टिभूतं प्राणापानादिपञ्चवृत्तिकं प्राणं जनयति । 'आपोमयः प्राण' इत्यस्य[3] न्नमयवत्प्राचुर्याभिप्रायमुपचयाभिप्रायं वा ॥ ८ ॥

तदुपहितः परमात्मा **सूत्रात्मे**त्युच्यते । स एव च ब्रह्मादिमूर्तित्रयमध्ये **विष्णु**रिति । **उभयत्रे**ति । क्रियाज्ञानप्रविभागमन्तरेण भूतशक्तिपञ्चकोत्पन्ने परिहृतमनःप्राणविभाग एकस्मिन्नुपाधौ स एव परमात्मा**ऽन्तर्यामी**ति । स च ब्रह्मादिमूर्तित्रयमध्ये **महेश्वर** इत्युच्यते । अविभक्तज्ञानक्रियाशक्तित्वाविशेषात्कारणोपाधिक ईश्वरोऽप्यन्तर्यामीतिकथ्यते । 'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्' इति हि श्रूयते । **वेदेषु गीयत** इति । बृहदारण्यके पञ्चमाध्याय उद्दालकयाज्ञवल्क्यसंवादे सप्तमब्राह्मणे प्रष्टारमुद्दालकं प्रति याज्ञवल्क्येनोक्तम् । 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' इत्यादिभिर्बहुभिः पर्यायैरन्तर्यामी निरूपितः । तथा 'वायुर्वै गौतम तत्सूत्रमि'त्यादिना प्राणः सूत्रात्मा निरूपितः । तथा 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' इति हिरण्यगर्भोऽपि श्रुतिषु गीयते । **हिरण्यगर्भरूप**मिति । ब्रह्मा हि त्रिमूर्तिमध्यवर्तिना ब्रह्माण्डाभिमानिविराडात्मना च व्यपदिश्यते । तदुभयमव्यवच्छेदेन समष्टिसूक्ष्मोपाधिकविवक्षया यः प्राग्घिरण्यगर्भरूपं प्राप्त इत्युदित इत्युक्तम् ॥ ९ ॥ १० ॥

द्विधा कृत्वेति । यदाह मनुः—'द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् । अर्धेन नारी तस्यां तु विराजमसृजत्प्रभुः' ॥ इति । इयत्पर्यन्तं प्राकृतसर्गविशेषः । अव्यक्तमहदहंकारतन्मात्राणि ह्यष्टौ प्रकृतय इत्युच्यन्त इत्यारभ्य वैकृतसर्ग[4]विशेषः । विकारषोडशकान्तरवर्तिपञ्चीकृतभूतकार्यो हि ब्रह्माण्डः ॥ ११ ॥

विराजमिति । समष्टिरूपस्थूलभूतपञ्चमयब्रह्माण्डाभिमानिनम् । **स्वराडाख्य**मिति ब्रह्माण्डान्तरवर्तिसमष्टिलिङ्गशरीराभिमानिनम् । सम्राडात्मेति तदुभयकारणाव्याकृताभिमानिनम् । तेन स्रष्ट्रा हिरण्यगर्भेन **ब्रह्माण्डेनाऽऽवृता** इत्युक्तप्रकारेण ॥ १२ ॥ ॥ १३ ॥

समष्टि ज्ञानशक्ति रूप उपाधि वाले को सूक्ष्मदर्शी मुनियों ने हिरण्यगर्भ कहा है । त्रिमूर्ति में वे ही ब्रह्मा हैं ॥ ७ ॥ हे ब्रह्मविविदिषुओ ! सूक्ष्ममहाभूतों की पाँचों क्रियाशक्तियाँ मिलकर शिव की आज्ञा से समष्टि प्राण बन गया ॥ ८ ॥ उस उपाधि वाला—अर्थात् समष्टि क्रियाशक्तिरूप उपाधि वाला आत्मा सूत्रात्मा कहा जाता है । त्रिमूर्ति में वह ही विष्णु है । ज्ञान-क्रिया विभाग को छोड़कर जो केवल सूक्ष्मोपाधि आत्मा है वह अन्तर्यामी रूप से वेदों में बताया गया है । त्रिमूर्ति में वही महेश्वर है ॥ ९½ ॥

हे श्रेष्ठ मुनियो ! श्रुतियों में निश्चित किये ढंग से जो हिरण्यगर्भरूप को प्राप्त हुए थे उन भगवान् ब्रह्मा ने अपने शरीर को दो हिस्सों में बाँट दिया । आधे हिस्से से वे पुरुष हो गये और आधे से नारी । उस नारी में उन्होंने विराट् को—समष्टि स्थूल ब्रह्माण्डाभिमानी को—उत्पन्न किया । फिर उसी में स्वराट् नाम वाले को—अर्थात् ब्रह्माण्ड के अन्दर होने वाले समष्टि लिंगशरीर के अभिमानी को—उत्पन्न किया ॥ १०—१२ ॥ इसी प्रकार सम्राडात्मा नाम वाले को—पूर्वोक्त दोनों के कारणभूत अव्याकृत

---

१. ख. वपुः । २. ङ. °जत्प्रभुः । ३. एवं प्राणो वायुविकारोध्यात्मं देहधारणपोषणोद्गमनादिकर्मेत्याद्युक्ति र्वायुप्राधान्यात्तस्य संगमनीयेति भावः । ४. क. ख. °र्गशे° ।

प्राधान्येन विराडात्मा ब्रह्माण्डमभिमन्यते । स्वराट् स्वरूपमुभयं सम्राडित्यब्रवीच्छ्रुतिः ॥ १४ ॥

विराट्स्वायंभुवं विप्रा असृजन्मनुमास्तिकाः । असृजद्योगिनीं नारीं शतरूपां तपस्विनीम् ॥ १५ ॥

सा पुनर्मनुना तेन गृहीताऽतीव शोभना । तस्यां तेन समुत्पन्नः प्रियवृत्तस्तथैव च ॥ १६ ॥

उत्तानपादसंज्ञश्च तथा कन्याद्वयं पुनः । उत्तानपादजां कन्यां द्विजा दक्षप्रजापतेः ॥ १७ ॥

आकूतिं दत्तवाञ्शुद्धां मानसस्य प्रजापतेः । आकूत्यां मानसस्याभूद्यज्ञो विप्राश्च दक्षिणा ॥ १८ ॥

यज्ञस्य जज्ञिरे पुत्रा मुनयो द्वादशास्तिकाः । दक्षाज्जाताश्चतस्रश्च तथा पुत्र्यश्च विंशतिः ॥ १९ ॥

धर्मस्य दत्ता दक्षेण श्रद्धाद्यास्तु त्रयोदश । तथैव तेन संपन्नाः श्रद्धायाः कन्यका दश ॥ २० ॥

उक्तमेव प्रकारमाह–**प्राधान्येनेति** । **स्वरूपमिति** । **स्वरूपं** समष्टिलिङ्गस्वरूपं, समष्टिलिङ्गशरीरं तद्ध्यासंसारमनुवृत्तेः स्वरूपमित्युच्यते । यदाह व्यासः–'तदापीतेः संसारव्यपदेशादि'ति । आपीतिरप्ययो मायायास्तत्पर्यन्तमापीतेरिति । **अब्रवीच्छ्रुति-रिति** । तैत्तिरीयकोपनिषदि 'आपो वा इदं सर्वम्' इति प्रक्रम्य 'सम्राडापो विराडापः स्वराडापः' इति त्रितयात्मकत्वेनापां स्तुतिं कुर्वाणा श्रुतिरुक्तसम्राडादित्रितयं व्यवहृतवतीत्यर्थः । अन्यत्राप्येते बहुषु प्रदेशेषु श्रुत्या व्यवह्रिय[१]न्ते, उपरवाभिमन्त्रणे 'विराडसि सपत्नहा सम्राडसि भ्रातृव्यहा स्वराडस्यभिमातिहेति ।' तथा 'विराड्ज्योतिरधारयत्सम्राड्ज्योतिरधारयत्स्वराड्ज्योतिरधारयत्' इति ॥ १४ ॥

वैकृतसृष्टेः प्रस्तुतत्वाद्विकाररूपब्रह्माण्डाभिमानिना विराजैव कृतं सर्गमाह **विराट् स्वायंभुवमिति** । **विराड्ब्रह्मा** सोऽपि स्वशरीरं स्त्रीपुंसात्मकं कृत्वा तद्भागावेव मनुशतरूपे कृतवानित्यर्थः । तदुक्तं भागवते–'कस्य रूपमभूद् द्वेधा यत्कायमभि-चक्षते । ताभ्यां रूपविभागाभ्यां मिथुनं समपद्यत ॥ यस्तु तत्र पुमान्सोऽभून्मनुः स्वायंभुवः स्वराट् । स्त्री याऽऽसीच्छतरूपाख्या महिष्यस्य महात्मनः' ॥ इति । कस्य विराड्ब्रह्मण इत्यर्थः । श्रुतिरप्याह–'स द्वितीयमैच्छत्स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ स इममेवाऽऽत्मानं द्वेधा पातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्' इति प्रक्रम्य 'तां समभवत्ततो मनुष्या अजायन्त' इत्यादि । स्वयंभुवो विराजोऽपत्यं स्वायंभुवो मनुः । तेनैव ह्युक्तम्–'तपस्तप्त्वाऽसृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट् । तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः' ॥ इति । वृत्तं व्रतं प्रियवृतः प्रियव्रतः । **उत्तानपादजामिति** । उत्तानपादानुजां[२] जातां प्रसूतिं कन्यां दक्षप्रजापतये । **मानसस्येति** । रुचिप्रजापतये । यदाहान्यत्र–'ददौ प्रसूतिं दक्षाय आकूतिं रुचये पुरा । प्रजापतिः स जग्राह तयोर्यज्ञः सदक्षिणः' इति ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥

यज्ञस्येति । दक्षिणायामिति शेषः । **दक्षाज्जाता** इति । चतुर्विंशतिकन्याः । तत्र श्रद्धाद्यास्त्रयोदश धर्मस्य पत्न्यः । यदाह पराशरः–'श्रद्धा लक्ष्मीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिर्मेधा तथा क्रिया । बुद्धिर्लज्जा वपुः शान्तिः सिद्धिः कीर्तिस्त्रयोदशी ॥ पत्न्यर्थं प्रतिजग्राह धर्मो दाक्षायणीः प्रभुः' इति । ताभ्यः श्रद्धादिभ्यस्त्रयोदशभ्योऽवशिष्टाः ख्यात्यादय एकादश । तास्वष्टौ दक्षव्यतिरिक्तेभ्यः

के अभिमानी को–उत्पन्न किया (स्थूल सूक्ष्म व कारण रूप) ब्रह्माण्ड से परिच्छिन्न इन तीनों में विराट् स्थूल का अभिमानी है, स्वराट् स्वरूप का अर्थात् समष्टि सूक्ष्म शरीर का अभिमानी है और सम्राट् उन दोनों के कारण अव्याकृत का अभिमानी है । यह सब श्रुति ने तत्र तत्र बताया है ॥ १३–१४ ॥ (पूर्वोक्त त्रिमूर्ति कारणकोटि है व यहाँ कार्यकोटि का उल्लेख है यह विवेक है) ।

हे आस्तिको ! विराट् ने स्वायंभु मनु को उत्पन्न किया । विराट् ने ही योगज शतरूपा नामकी नारी को भी उत्पन्न किया ॥ १५ ॥ मनु ने उस स्त्री को पत्नी रूप से ग्रहण किया । उसमें मनु से प्रियवृत्त–या प्रियव्रत–और उत्तानपाद नामक दो पुत्र तथा दो कन्यायें उत्पन्न हुईं । उत्तानपाद के बाद पैदा हुई (प्रसूति नामक) कन्या का दक्ष प्रजापति से विवाह कर दिया तथा आकूति नामक दूसरी कन्या का (रुचि नामक) मानस प्रजापति से विवाह कर दिया ॥ १६–१७½ ॥ आकूति में मानस की सन्तान हुई–यज्ञ । दक्षिणा नामक उसकी पत्नी से यज्ञ के बारह पुत्र उत्पन्न हुए । दक्ष की चौबीस पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं ॥ १९ ॥ उनमें से श्रद्धा आदि तेरह कन्याओं का विवाह धर्म से कर दिया गया । अतएव धर्म को श्रद्धा आदि तेरह कन्यायें

---

१. ङ. °न्ते यथो प° । २. ग. ङ. °जां प्र° ।

ताभ्यः ख्यात्यादयो विप्रावशिष्टाः[1] षट् च पञ्च च । एवं कर्मानुरूपेण प्राणिनामम्बिकापतेः ।
आज्ञया बहवो जाता असंख्याता द्विजर्षभाः ॥ २१ ॥
स्वभावादेव संभूतं समस्तमिति केचन । तन्न सिध्यति विप्रेन्द्रा देशकालाद्यपेक्षया ॥ २२ ॥
कर्मणैव समुत्पन्नं समस्तमिति केचन । तच्छ्रुतिस्मृतिवादस्य विरुद्धं मुनिपुंगवाः ॥ २३ ॥
पुरा हिमवतः पार्श्वे मुनिः सत्यवतीसुतः । सुमन्तुर्जैमिनिश्चैव वैशंपायन एव च ॥ २४ ॥
पैलः कपिलसंज्ञश्च तथा विप्राः पतञ्जलिः । अक्षपादः कणादश्च तथैवाऽऽङ्गिरसो मुनिः ॥ २५ ॥
मुकुन्दो मोचकश्चैव महाकालो महामतिः । कालरूपः कलामाली कामरूपः कपिध्वजः ॥ २६ ॥

प्रजापतिभ्योऽष्टभ्यो भवायैका पितृभ्य एका वह्नय एका । यदाह पराशरः–'ताभ्यः शिष्टा यवीयस्य एकादश सुलोचनाः । ख्यातिः सत्पथसंभूतिः स्मृतिः प्रीतिः क्षमा तथा ॥ सन्नतिश्चानसूया च ऊर्जा स्वाहा स्वधातथा । भृगुर्भवो मरीचिश्च तथा चैवाङ्गिरा मुनिः । पुलस्त्यः पुलहश्चैव क्रतुश्चर्षिवरस्तथा ॥ अत्रिर्वसिष्ठो वह्निश्च पितरश्च यथाक्रमम् । ख्यात्याद्या जगृहुः कन्याः' इति ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥

न केनचित्सृष्टं स्वाभाविकमेवैतज्जगदिति लोकायतिकास्त[2]मुपन्यस्य निरस्यति–**स्वभावादेवेति** । काश्मीरेष्वेव कुङ्कुममिति देशापेक्षा । अहन्येव कमलानां विकासः रात्रावेवोत्पलानामिति कालापेक्षा । आदिशब्देन पुण्यकृत एव सुखं पापिन एव दुःखमित्यदृष्टापेक्षा । सर्वमिदमीश्वरेच्छयेतीश्वरापेक्षा । सर्वमेवैत[3]त्स्वभाव इतिचेत् ? न । ईदृग्विधस्य लोकायतपक्षस्य वैदिकमताविशेषात्[4] ॥ २२ ॥

कर्मणैवेति[5] अनीश्वरवादिनः । **श्रुतिस्मृतिवादस्य विरुद्धमिति** । ननु 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेने'ति वाजसनेयोपनिषदि कर्मणैवेति पक्षः स्वीकृतः ? न । ईश्वराधिष्ठितयोरेव तयोः स्वरूपलाभः स्वकार्य[6]कर[7]त्वं चेत्यपि श्रुतावेवोदीरणात् । श्रूयते हि–एष[8] उ एव साधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषती'ति । व्यासोऽपीश्वरादेव फलप्राप्तिमाह– 'फलमत उपपत्ते'रिति । स्मर्यते च–'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' इति ॥ २३ ॥

प्राप्त हुई ॥ २० ॥ उनसे बची ग्यारह कन्याओं का भी यथायोग्य विवाह कर दिया गया । (दक्ष को छोड़ अन्य आठ प्रजापतियों को एक-एक, भव को एक, पितरों को एक और वह्नि को एक कन्या प्रदान कर दी ।) इस प्रकार प्राणियों के कर्मों के अनुसार अम्बिकानाथ भगवान् शंकर की आज्ञा से असंख्य प्रजायें उत्पन्न हो गयीं ॥ २१ ॥

हे ब्राह्मणोत्तमो ! कुछ लोग कहते हैं कि यह सारा प्रपंच स्वभाव से ही उत्पन्न हुआ है । किन्तु यह बात युक्तिसिद्ध नहीं क्योंकि संसार की वस्तुएँ देश काल आदि निमित्तों की अपेक्षा रखती देखी जाती हैं जो व्यवस्था स्वभाववाद में संभव नहीं ॥ २२ ॥ (स्वभाव वस्तु का धर्म होने से लब्धसत्ताक वस्तु में रहता है अतएव वस्तु का कारण क्योंकर होगा ? कहीं भी पुत्र पिता का कारण नहीं सुना गया है । किंच स्वभाव अपरिवर्तनीय हुआ करता है । जागतिक वस्तुओं में देशादिसापेक्ष परिवर्तन प्रत्यक्ष है । और भी, सत्स्वभाव वस्तु का कभी अभाव न हो पायेगा व असत्स्वभाव वस्तु कभी सत्ता में नहीं आ पायेगी जबकि होता यही है कि पूर्व में अविद्यमान बालक उत्पन्न होता है व पूर्व में विद्यमान पितामह आदि मरते हैं । अतएव तत्तकालविशिष्ट वस्तु का तत्तत्स्वभाव भी मान नहीं सकते, तत्कालविशिष्ट का सत्स्वभाव होने पर यह नित्य हो जायेगी । सदसद्विलक्षण स्वभाव मानने पर अनिर्वचनीयतावाद हो जायेगा । अतः स्वभाववाद युक्तिसह नहीं ।)

हे मुनिश्रेष्ठो ! कुछ लोग मानते हैं सब कुछ कर्म से ही उत्पन्न हुआ है । किन्तु यह भी श्रुति व स्मृति में निर्णीत सिद्धान्त के विरुद्ध है ॥ २३ ॥ (श्रुति आदि शास्त्र ने शिव को ही जगत् का कारण स्थापित किया है अतः कर्म को कारण मानना शास्त्रसंमत नहीं । जड होने से कर्म इस जटिल और व्यवस्थित संसार का हेतु और संचालक बन भी नहीं सकता । किंच कर्म

---

१. सन्धिरार्षः । २. ग. °स्तदुप° । ३. ईश्वरपरामर्शक एतच्छन्दः । ४. देवस्यैष स्वभावोयमिति स्मृतेरित्यर्थः । ५. अपूर्वद्वारेति शेषः । अपूर्वस्य चाऽप्रामाणिकत्वमभाणि बृहद्भाष्ये (३.८.९) 'अपूर्वमिति चेन्ने' त्यादिनेति द्रष्टव्यम् । 'कर्म हैव तदूचतु' (बृ. ३.२.१३) रिति श्रुत्यक्षरस्मारणायेह कर्मेत्युक्तम् । ६. क. °र्यकारणं चे° । ७. घ. °रणं चे° । ८. ङ. °ष एवं तु सा° ।

वेदज्ञो वैदिको विद्वान्वि[१]द्वेषी वेणुवाहनः । [२]बाल्वलो बकुलो वह्निर्वज्रदण्डः परंतपः ॥ २७ ॥
पापनाशः पवित्रश्च तथाऽन्ये च महर्षयः । परस्परं विचार्याथ श्रद्धया परमर्षयः ॥ २८ ॥
संशयाविष्टमनसस्तपश्चेरुर्महत्तरम् । एतस्मिन्नन्तरे रुद्रः प्रसन्नः करुणानिधिः ॥ २९ ॥
स्वयमाविरभूत्तेषां पुरतः परमेश्वरः । तं दृष्ट्वा मुनयः सर्वे प्रसन्नेन्द्रियबुद्धयः ॥ ३० ॥
प्रणम्य परया भक्त्या भगवन्तं त्रिलोचनम् । कृताञ्जलिपुटाः सर्वे पप्रच्छुः परमेश्वरम् ॥ ३१ ॥
देवदेवो महादेवः सर्वज्ञः करुणानिधिः । कपर्दी नीलकण्ठश्च कालकालो महेश्वरः ॥ ३२ ॥
सोमार्धशेखरः सोमः सोमसूर्याग्निलोचनः । उवाच मधुरं वाक्यं मुनीनां संशयापहम् ॥ ३३ ॥
ईश्वर उवाच—न स्वभावाज्जगज्जन्मस्थितिध्वंसा मुनीश्वराः । न मया केवलेनापि न च केवलकर्मणा[३] ॥ ३४ ॥
प्राणिनां कर्मपाकेन[४] मया च मुनिसत्तमाः । जगतः संभवो नाशः स्थितिश्च भवति द्विजाः ॥ ३५ ॥
एवं कर्मानुरूपेण जगज्जन्मादि यन्मया । एष स्वभावो विप्रेन्द्रा इति वेदार्थनिर्णयः ॥ ३६ ॥
सूत उवाच—एवमुक्त्वा महादेवः सर्वज्ञः करुणानिधिः । अनुगृह्य मुनिश्रेष्ठांस्तत्रैवान्तर्हितोऽभवत् ॥ ३७ ॥

उक्तेऽर्थे मुनीनां संशयापनयनाय परमेश्वरवाक्यमुदाहर्तुं संशयानान्मुनीननुक्रामति—पुरा हिमवत इत्यादिना ॥ २४-३२ ॥

साध्यस्वभाव होने से साधक का कार्य है अतएव साधक का कारण नहीं हो सकता । अनादित्वकल्पना की अन्धपरंपरा मानना अप्रामाणिक होगा । और कर्म दृष्टनष्टस्वभाव होने से कालान्तर में फल कैसे दे सकता है ? अपूर्वनामक वस्त्वन्तर में कोई प्रमाण नहीं । अर्थापत्ति ईश्वर से ही गतार्थ हो जाने से अपूर्व की साधिका नहीं व अन्य कोई प्रमाण नहीं । अतः शिवातिरिक्त कोई कारण इस जगत् का नहीं । एक नास्तिकों के व एक आस्तिकों के मत का उल्लेख अन्य ऐसे सब मतवादों के उपलक्षणार्थ है । पुद्गल, शून्य आदि अप्रामाणिक व जड होने से अकारण हैं । क्षणिक विज्ञान क्षणिक होने से ही अकारण है क्योंकि कारण का कार्यकाल में रहना आवश्यक है । परमाणु व प्रकृति भी अप्रामाणिक व जड होने से कारण नहीं है । अन्य भी कारणत्वेन अभिमत वस्तुओं की अयोग्यता समझ लेनी चाहिये ।)

प्राचीन काल में एक बार इस विषय में इन मुनियों ने हिमालय के निकट स्थित हो श्रद्धापूर्वक विचार किया था—सत्यवतीपुत्र व्यास, सुमन्तु, जैमिनि, वैशम्पायन, पैल, कपिल, पतञ्जलि, अक्षपाद, कणाद, अंगिरस, मुकुन्द, मोचक, महाकाल, महामति, कालरूप, कलामाली, कामरूप, कपिध्वज, वेदज्ञ, वैदिक, विद्वान्, विद्वेषी, वेणुवाहन, बाल्वल, बकुल, वह्नि, वज्रदण्ड, परन्तप, पापनास, पवित्र आदि ॥ २४—२८ ॥ किन्तु कोई निर्णय न होने से ये संशयापन्न हो गये और सबने महत्तर तप किया तब करुणामूर्ति रुद्र प्रसंन हो स्वयं उनके सामने प्रकट हुए । उन्हें देख सब मुनि शान्तमानस हुए और भगवान् को परम भक्तिपूर्वक प्रणामकर सश्रद्ध सविनय उनसे इस विषय में पूछने लगे ॥ २९—३१ ॥ देवाधिदेव, सर्वज्ञ, करुणालय, जटिल, नीलकण्ठ, कालशिक्षक, सोमार्धचूडामणि, चन्द्र-सूर्य-वह्निलोचन, उमासमेत महेश्वर महादेव ने मुनियों के संशय के निवारक इस वाक्य को कहा—॥ ३२—३३ ॥ ईश्वर बोले—हे मुनियो ! स्वभाव से जगत् के जन्मादि नहीं होते । न अकेले मैं ही इसे उत्पन्न करता हूँ और न केवल कर्म से ही यह पैदा हो जाता है ॥ ३४ ॥ प्राणिकर्मों का पकना और मैं—हम दोनों से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति व नाश होते हैं ॥ ३५ ॥ इस प्रकार जो मेरे द्वारा प्राणियों के कर्म के अनुसार जगज्जन्मादि किया जाता है वही मेरा स्वभाव कहा जाता है । यह वेद का निर्णीत सिद्धान्त है ॥ ३६ ॥ (हमारे किये को शिव जानते हैं । शिव का

---

१. ख. न्विद्वेषो व° । २. ङ. बिल्वलो । ३. देवप्रसादकोपरूपमायावृत्तिविशेषस्य कर्मापूर्वादिवाच्यत्वमुपेयमन्यथाऽतिप्रसंगादिति स्वमते व्यवस्थां वक्तुं केवलविशेषणम् । कर्म नाम स्वतन्त्रः पदार्थः कश्चनार्थापत्तिसिद्ध इति यन्मतं तन्न; ईश्वरज्ञानेच्छादिरूपं तु स्वीक्रियत एव कर्मेति तात्पर्यम् । एवंभूतकर्मणां फलं प्रति निमित्तोपादानोभयात्मकत्वमीश्वरस्य पुन र्निमित्तत्वमेवेति विभागः । ४. एतानि कर्माणि सम्प्रति फलवन्ति भूयासुरितीश्वरेच्छैव कर्मणां पक्वता । अतएव कर्मपाके को हेतुः, कर्म चेत्स्वात्माश्रयो दोषोऽकारणं चेदतिप्रसंग इत्यादिकुचोद्योपशमः, इच्छास्वातन्त्र्यस्य संमतत्वात् । तत्रापि हेत्वन्वेषणेऽनवस्थानादिति दिक् ।

मुनयश्च पुनर्विप्राः समाभाष्य परस्परम् । अतीव प्रीतिमापन्ना अगमन्वेदवित्तमाः ॥ ३८ ॥
भवन्तोऽपि मुनिश्रेष्ठाः प्राणिकर्मानुरूपतः । सृष्ट्वा संहरतीशान इति वित्त जगत्सदा ॥ ३९ ॥
इति श्रुत्वा मुनिश्रेष्ठा नैमिषीयास्तपोधनाः । प्रसन्नहृदयाः शर्वं पूजयामासुरादरात् ॥ ४० ॥
इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां शिवमाहात्म्यखण्डे हिरण्यगर्भादिविशेषसृष्टिर्नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

नैमिषीया ऊचुः–भगवन्सर्वशास्त्रार्थपरिज्ञानवतां वर । जातिनिर्णयमस्माकं वद वेदैकदर्शितम् ॥ १ ॥
सूत उवाच–वक्ष्ये लोकोपकाराय जातिनिर्णयमादरात् । अगस्त्योऽपि पुराऽपृच्छत्प्रणम्य वृषवाहनम् ॥ २ ॥

मुनीनां यथोपन्यस्तः संशयस्तन्निरासाय परमेश्वरप्रणिधानं च श्वेताश्वतरोपनिषदि श्रूयते–'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छया भूतानि योनिः पुरुषः' इति चिन्त्यम् । 'संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माऽप्यनीशः सुखदुःखहेतोः' । 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इति ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥

इति श्रीमत्काशीविलासक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवापरायणएनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन माधवाचार्येण विरचितायां श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां शिवमाहात्म्यखण्डे हिरण्यगर्भादिविशेषसृष्टिर्नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

'प्राणिनां कर्मपाकेन मया चे'त्युक्तत्वात्कर्मणां च जातिभेदेन व्यवस्थितत्वाज्जातिभेदं जिज्ञासमाना मुनयः पृच्छन्ति– **भगवन्निति** । **वेदैकदर्शितमिति** । स्मृतिपुराणानामपि मूलभूतवेदानुमा[1]पनेनैव धर्मे प्रमाणत्वात् । वेदैकप्रमाणको धर्म इति जैमिनिरप्याह–'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म' इति ॥ १ ॥

अगस्त्योऽपीति । स शिवं यदपृच्छत्तस्मै शिवेनोक्तं तदहं वो वच्मीत्यर्थः ॥ २ ॥

यह जानना ही हमारा पुण्य या पाप है । 'अब यह प्राणी इस कर्म का फल भोगे' ऐसी शिवेच्छा ही कर्म का पकना या फलोन्मुख होना है । क्योंकि इच्छा में स्वातन्त्र्य सर्वसंमत है अतः इस पक्ष में कोई दोष नहीं । अकेले शिव को कारण मानने से वैषम्यादि दोष होगा । केवल कर्म को मानने पर पूर्वोक्त मत ही होने लगेगा । अतः दोनों की हेतुता कही । क्योंकि कर्म भी शिवज्ञानरूप ही है अतः शिव का पारतन्त्र्य भी नहीं ।)

सूतजी बोले–ऐसे शंका का समाधान कर कृपासागर महादेव वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ३७ ॥ मुनियों ने भी इस प्रसंग पर और बातचीत कर उक्त निर्णय को दृढतर किया और संशय निवृत्ति से अत्यन्त प्रसन्न हो निज स्थानों को चले गये ॥ ३८ ॥ आप लोग भी यही समझ लीजिये कि ईशान ही जीवकर्मों के अनुरूप संसार को रचते और लीन करते हैं ॥ ३९ ॥

यह सुन नैमिषारण्यीय मुनियों ने प्रसन्न हो भगवान् शर्व का पूजन किया ॥ ४० ॥

जाति-निर्णय नामक बारहवा अध्याय

(कर्मानुसार जन्म होता है सुनकर स्वाभाविक है कि कर्माधिकार में निमित्तभूत जातिविषयक जिज्ञासा हो । वैदिक धर्मों का विधान वर्णों व आश्रमों के उद्देश्य से ही हुआ है । यदि किसी को वर्णाभिमान और आश्रमाभिमान न रहे तो उसके लिये कुछेक सत्यवदनादि सामान्य धर्मों से अतिरिक्त अन्यान्य शुभ कर्म करना संभव न रहेगा व उनसे होने वाले उत्तमोत्तम फलों से भी वह वंचित रहेगा । अतः–) नैमिषारण्य के मुनियों ने प्रार्थना की–सब शास्त्रों के मर्मज्ञ सूत जी ! हमें जातिविषयक निर्णय बताइये ॥ १ ॥

सूत जी बोले–हे मुनियो !एक बार अगस्त्य ने वृषभवाहन शंकर से यही प्रश्न किया था । जो उत्तर शिव से उन्हें मिला था वही मैं लोकोपकार के लिये आपके सामने व्यक्त करूँगा ॥ २ ॥

---

१. ख. °मानेनैव ।

पुरा सर्वे मुनिश्रेष्ठाः प्रलये विलयं गते । अन्धकारावृते लोके विष्णोरंशो महाद्युतिः ॥ ३ ॥
सहस्रशीर्षा पुरुषो वि[1]ष्णुर्नारायणाभिधः । क्षीराब्धौ चिन्तयन्रुद्रं सुष्वाप ब्रह्मवित्तमाः ॥ ४ ॥
कदाचित्पङ्कजं विप्रास्तरुणादित्यसंनिभम् । तस्य सुप्तस्य देवस्य नाभ्यां जातं महत्तरम् ॥ ५ ॥
हिरण्यगर्भो भगवान्ब्रह्मा विश्वजगत्पतिः । आस्थाय परमां मूर्तिं तस्मिन्पद्मे समुद्बभौ ॥ ६ ॥
तस्य वेदविदां श्रेष्ठा ब्रह्मणः परमेष्ठिनः । महादेवाज्ञया पूर्ववासनासहितान्मुखात् ॥ ७ ॥
ब्राह्मणा ब्राह्मणस्त्रीभिः सह जातास्तपोधनाः । [2]तस्य हस्तात्सह स्त्रीभिर्जज्ञिरे पृथिवीभुजः ॥ ८ ॥
ऊरुभ्यां सहिताः स्त्रीभिर्जाता वैश्याः शिवाज्ञया । पद्भ्यां शूद्राः सह स्त्रीभिर्जज्ञिरे वेदवित्तमाः ॥ ९ ॥
स्वस्त्रीषु स्वस्य वैधेन मार्गेणोत्थः स्वयं भवेत् । अवरासूत्तमाज्जातस्त्वनुलोमः प्रकीर्तितः ॥ १० ॥
उत्तमास्ववराज्जातः प्रतिलोम इति स्मृतः । वर्णस्त्रीष्वनुलोमेन जातः स्यादान्तरालिकः ॥ ११ ॥
वर्णात्तु प्रतिलोमेन जातो व्रात्य इति स्मृतः । ब्राह्मण्यां सधवायां यो ब्राह्मणेन द्विजोत्तमाः ।
जातश्चौर्येण कुण्डोऽसौ विधवायां तु गोलकः ॥ १२ ॥

प्रलय इति । नैमित्तिकप्रलयावसरे लोकत्रये विलयं गते सति सुष्वापेत्य[3]न्वयः । प्रलयकाले वा विलयं प्राप्ते ॥ ३ ॥ ४ ॥ ॥ ५ ॥ ६ ॥

सर्गावसरे ब्रह्मणो मुखाद् ब्राह्मणा जाता इत्यनेनान्वयः । मुखाद् ब्राह्मणा इति । श्रूयते हि 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः । ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत' इति ॥ ७ ॥

ब्राह्मणा इत्यादि जात्यभिप्रायमत उक्तं सह स्त्रीभिरिति ॥ ८ ॥ ९ ॥

असंकीर्णस्य जातिचतुष्टयस्य लक्षणमाह–स्वस्त्रीष्विति । ब्राह्मण्यां ब्राह्मणस्य क्षत्रियायां क्षत्रियस्येत्यादि । स्मर्यते हि– 'सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि स्व[4]जातयः' इति । वैधेनेति । विवाहादिविध्युक्तेन । अन्यथा जातानां कुण्डगोलकादीनां सत्यपि सवर्णत्वे शूद्रधर्मत्वं स्मर्यते–'शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वस्तजाः स्मृताः' इति । संकीर्णाननुलोमजानाह–अवरास्विति । क्षत्रियवैश्याशूद्रासु ब्राह्मणस्य । वैश्यशूद्रयोः क्षत्रियस्य । शूद्रायां वैश्यस्येत्यर्थः ॥ १० ॥

उत्तमास्विति । ब्राह्मण्यां क्षत्रियादित्रयात् । क्षत्रियायां वैश्यशूद्राभ्याम् । वैश्यायां शूद्रादित्यर्थः । वर्णस्त्रीष्विति ॥ ११ ॥ अनुलोमप्रतिलोमजाः स्त्रियो व्यवच्छिनत्ति–वर्णात्त्वित्यपि । कुण्डगोलकयोर्लक्षणमाह–ब्राह्मण्यां सधवायामिति ॥ १२ ॥

प्रलयकाल में सब विलीन था व अंधकार से ढँका था। उस समय विष्णु के अंश नारायण नामक सहस्रशीर्षा पुरुष क्षीरसागर में रुद्र का ध्यान करते हुए लेटे थे ॥ ३–४ ॥ यों सोये उन देवकी नाभि से अरुणोदयकालिक सूर्य के वर्णका एक कमल उत्पन्न हुआ ॥ ५ ॥ उस पर हिरण्यगर्भ ब्रह्मा चतुर्मुखी मुर्ति धारण कर प्रकट हुए ॥ ६ ॥ महादेव की आज्ञानुसार उन ब्रह्मा के मुख से, जिस मुख में पूर्वकल्पीय स्वोपादानक सृष्टि विलीनरूप से मौजूद थी, ब्राह्मण स्त्रियों समेत ब्राह्मण उत्पन्न हुए। उन्हीं के हाथ से स्त्रियों सहित पृथ्वीपालक क्षत्रिय उत्पन्न हुए ॥ ८ ॥ ब्रह्मा की ही जंघा से वैश्य पुरुष और स्त्रियाँ पैदा हुए। उन्हीं के पैरों से शूद्र स्त्री-पुरुषों का जन्म हुआ ॥ ९ ॥

एक जाति वाले पुरुष व स्त्री हों तथा उनका विधिवत् विवाह हुआ हो तो उनसे उत्पन्न प्रजा भी उसी जाति की होती है। पुरुष श्रेष्ठ जाति का व स्त्री कनिष्ठ जाति की हो तो प्रजा अनुलोम कही जाती है ॥ १० ॥ स्त्री श्रेष्ठ जाति की व पुरुष कनिष्ठ जाति का हो तो उनकी प्रजा प्रतिलोम होती है। सवर्ण स्त्रियों में अनुलोम जाति के पुरुष से उत्पन्न प्रजा आन्तरालिक कहलाती है ॥ ११ ॥ प्रतिलोम जाति के पुरुष से सवर्णस्त्रियों में उत्पन्न प्रजा व्रात्य कही जाती है। सधवा ब्राह्मणी में चोरी से किसी ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न प्रजा कुण्ड तथा विधवा ब्राह्मणी में चोरी से किसी ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न प्रजा गोलक कही जाती है ॥ १२ ॥ (अन्य जातियों में भी चोरी से उत्पन्न प्रजा को सामान्यतः इन दोनों नामों से सूचित किया जाता है)। क्षत्रिय स्त्री

---

१. ख. ग. विश्वो नारा° । २. ब्राह्मणा अरक्षिता धनसेवकयोश्चाभावे कस्मैचिदपि वीर्यवत्कर्मणेऽसमर्था इति ते तथा कुर्युरित्याशयेन परमेष्ठिना वर्णान्तराणि समुत्पादितानीति वर्णोत्पत्तेः प्रयोजनं शातपथीये व्यक्तम् । ३. ग. °त्यर्थः प्र° । ४. क. ख. द्विजातयः ।

नृपायां ब्राह्मणाज्जातः सवर्ण इति कीर्तितः ॥ १३ ॥

चौर्यादस्यामनेनोत्थो नाम्ना नक्षत्रजीवनः । वैश्यायां ब्राह्मणाज्जातो निषादो वेदवित्तमाः ॥ १४ ॥

अस्यामनेन चौर्येण कुम्भकारोऽभिजायते । ऊर्ध्वनापित एवासौ नाम्ना वेदविदां वराः ॥ १५ ॥

शूद्रायां ब्राह्मणेनोत्थो द्विजाः पारशवः स्मृतः । चौर्येणास्यां निषादोऽभून्नाम्ना वेदार्थवित्तमाः ॥ १६ ॥

दौष्यन्त्यां ब्राह्मणाज्जात आपीताख्यो भवेद् द्विजाः । आयोगव्यां तु विप्रेण पिङ्गलो नाम जायते ॥ १७ ॥

विप्रायां क्षत्रियाज्जातः सूत इत्युच्यते बुधैः । चौर्येणास्यामनेनोत्थो रथकार इति स्मृतः ॥ १८ ॥

क्षत्रियस्त्रीषु वैश्यात्तु भोजश्चौर्याद्विजायते । वैश्यायां क्षत्रियाज्जातो माहिष्योऽम्बष्ठसंज्ञितः ॥ १९ ॥

चौर्येणास्यामनेनोत्थो भवेदविरसंज्ञितः । शूद्रायां क्षत्रियाज्जातो दौष्यन्त्याख्यो भवेद् द्विजाः ॥ २० ॥

चौर्येणास्यामनेनोत्थः शूलिको भवति द्विजाः । ब्राह्मण्यां वैश्यतो जातः क्षत्ता भवति नामतः ॥ २१ ॥

अस्यामनेन चौर्येण म्लेच्छो विप्राः प्रजायते । जातो वैश्यान्नृपायां यः शालिको मागधश्च सः ॥ २२ ॥

अस्यामनेन चौर्येण पुलिन्दो जायते बुधाः । मणिकारस्तु वैश्यायां चौर्याद्वैश्येन जायते ॥ २३ ॥

शूद्रायां वैश्यतो जात उग्र इत्युच्यते बुधैः । अस्यामनेन चौर्येण कटकारः प्रकीर्तितः ॥ २४ ॥

शूद्राद्विप्राङ्गनायां तु चण्डालो नाम जायते । अस्यामनेन चौर्येण बाह्यदासस्तु जायते ॥ २५ ॥

नृपायामिति । क्षत्रियायामनुलोमजो विधिना जातश्चेत्सवर्णः । चौर्येण चेन्नक्षत्रजीवीत्यर्थः ॥ १३ ॥ १४ ॥

कुम्भकारस्यैव नामान्तरमूर्ध्वनापित इति ॥ १५ ॥ १६ ॥

दौष्यन्त्यामिति । शूद्रायां क्षत्रियाज्जातो दौष्यन्त इति वक्ष्यति । तज्जातिः स्त्री दौष्यन्ती । **आयोगव्यामिति** । शूद्राद्वैश्यायां जात आयोगवः । तज्जाता स्त्र्यायोगवी । एतावत्पर्यन्तं ब्राह्मणाद् ब्राह्मण्यादिषु चौर्यजा अचौर्यजाश्चोक्ताः ॥ १७ ॥

क्षत्रियेण ब्राह्मण्यादिषु पूर्ववद् द्विविधानाह—**विप्रायां क्षत्रियादित्यादिना** ॥ १८ ॥

माहिष्य इत्यम्बष्ठ इति नामद्वयेनोक्त इत्यर्थः ॥ १९ ॥ २० ॥

वैश्याद् ब्राह्मण्यादिषु पूर्ववद् द्विविधानाह—**ब्राह्मण्यां वैश्यतो जात इत्यादिना** ॥ २१ ॥

शालिकमागधशब्दौ पर्यायौ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥

शूद्राद् ब्राह्मण्यादिषु पूर्ववद् द्विविधानाह—**शूद्राद्विप्राङ्गनायामित्यादिना** ॥ २५ ॥

में ब्राह्मण पुरुष द्वारा विवाहपूर्वक उत्पादित प्रजा सवर्ण नामकी होती है और क्षत्रिय स्त्री व ब्राह्मण पुरुष की चोरी से उत्पादितप्रजा नक्षत्रजीवन कहलाती है ॥ १३$^1/_2$ ॥ वैश्य स्त्री व ब्राह्मण पुरुष की वैध संतान निषाद होती है व उन्हीं की अवैध—विवाह के बिना हुई—संतान के दो नाम हैं कुम्भकार व ऊर्ध्वनापित ॥ १४—१५ ॥ शूद्र स्त्री व ब्राह्मण पुरुष की वैध प्रजा पारशव और अवैध प्रजा निषाद कही जाती है ॥ १६ ॥ दौष्यन्ती स्त्री में (द्रष्टव्य श्लो. २०) ब्राह्मण पुरुष से उत्पन्न आपीत नामक प्रजा होती है । आयोगवी स्त्री में (शूद्र पुरुष व वैश्य स्त्री की संतान आयोगव होती है) ब्राह्मण पुरुष से उत्पन्न प्रजा पिंगल नाम वाली होती है ॥ १७ ॥

ब्राह्मणी में क्षत्रिय से उत्पन्न को जानकारों द्वारा सूत कहा जाता है तथा यही यदि प्रजा अवैध हो तो रथकार कही जाती है ॥ १८ ॥ क्षत्रिय स्त्रियों में वैश्य पुरुष द्वारा चोरी से उत्पादित प्रजा का नाम होता है भोज । वैश्य स्त्री में क्षत्रिय पुरुष द्वारा उत्पन्न वैध संतान माहिष्य और अम्बष्ठ कही जाती है जबकि वैसी ही अवैध संतान अविर कही जाती है । शूद्रा स्त्री व क्षत्रिय पुरुष की वैध संतान दौष्यन्त्य और अवैध संतान शूलिक होती है ॥ १९—२०$^1/_2$ ॥ ब्राह्मणी और वैश्य की वैध संतान क्षत्ता तथा अवैध संतान म्लेच्छ कही जाती है । क्षत्रिय स्त्री व वैश्य पुरुष की वैध संतान शालिक या मागध कही जाती है और वही अवैध होने पर पुलिन्द कही जाती है । वैश्य स्त्री-पुरुष की अवैध सन्तान मणिकार कहाती है ॥ २१—२३ ॥ शूद्र स्त्री में वैश्य पुरुष की वैध प्रजा उग्र और अवैध प्रजा कटकार कही गयी है ॥ २४ ॥

शूद्र पुरुष और ब्राह्मणी की वैध संतान चण्डाल तथा अवैध संतान बाह्यदास कही जाती हैं ॥ २५ ॥ शूद्र पुरुष व क्षत्रिय

जातः शूद्रेण राजन्यां वैदेहाख्यश्च पुल्कसः । अस्यामनेन चौर्येण वेलवाख्यो विजायते ॥ २६ ॥
जातः शूद्रेण वैश्यायां भवेत्पत्तनशालिकः । अनेनास्यां भवेच्चक्री चौर्याद्द् ब्रह्मविदां वराः ॥ २७ ॥
चौर्याच्छूद्रेण शूद्रायां जातो माणविको भवेत् । अम्बष्ठायां समुत्पन्नः सवर्णेन द्विजोत्तमाः ॥ २८ ॥
आग्नेयनर्तकाख्यः स इति प्रोक्तो महात्मभिः । करणायां तु विप्रेन्द्रा माहिष्याद्यो विजायते ॥ २९ ॥
स तक्षा रथकारश्च प्रोक्तः शिल्पी च वर्धकी । लोहकारश्च कर्मार इति वेदार्थवेदिभिः ॥ ३० ॥
विप्रायामुग्रतो जातस्तक्षवृत्तिः प्रकीर्तितिः । वैश्यायां तेन निष्पन्नः समुद्रो नाम जायते ॥ ३१ ॥
ब्राह्मण्यां यो निषादेन जनितः स तु नापितः । नृपायां यो निषादेन जातोऽधोनापितः स्मृतः ॥ ३२ ॥
विप्रायां नापिताज्जातो वेणुकः परिकीर्तितः । राज्ञ्यां यो जनितस्तेन कर्मकारः स उच्यते ॥ ३३ ॥
द्विजोत्तमायां [1]दौष्यन्ताद्भागलब्धः प्रजायते । वैश्यायां तु निषादेन सुनिषादोऽभिजायते ॥ ३४ ॥
ब्राह्मण्यां यो मुनिश्रेष्ठा वैदेहेन प्रजायते । स नाम्ना रजको ज्ञेयः पण्डितैः पण्डितोत्तमाः ॥ ३५ ॥
द्विजोत्तमायां [2]चण्डालाद्यः पुमाञ्जायते भुवि । श्वपचः स तु विज्ञेयः सर्वशास्त्रविशारदैः ॥ ३६ ॥
श्वपचाद्विप्रकन्यायां गुहको जायते सुतः । वैश्यायां यस्तु चण्डालाज्जातो दन्तकवेलकः ॥ ३७ ॥
जनितोऽनेन शूद्रायां विप्रा आश्रमकः[3] स्मृतः । प्रतिलोमनिषादाद्यः शूद्रायां स तु भैरवः ॥ ३८ ॥
शूद्रायां मागधाज्जातः कुकुन्दः प्रोच्यते बुधैः । नृपायां मागधाज्जातः खनकः परिकीर्तितः ॥ ३९ ॥
खनकाद्राजकन्यायामुद्बन्धो नाम जायते । अयोगवेन ब्राह्मण्यां चर्मकारः प्रजायते ॥ ४० ॥

राजन्यां राजन्यायाम् । वैदेहपुल्कसशब्दौ पर्यायौ ॥ २६ ॥ २७ ॥

अपरा अपि नानाविधाः संकरजातीराह—अम्बष्ठायामित्यादिना । अम्बष्ठायां क्षत्रियाद्वैश्यायां जातायां सवर्णेन ब्राह्मणात्क्षत्रियायां जातेन ॥ २८ ॥

स्त्री की वैध संतान के दो नाम हैं वैदेह और पुल्कस । उन्हीं की अवैध संतान वेलव नाम वाली होती हैं ॥ २६ ॥ शूद्र पुरुष और वैश्य स्त्री की वैध संतान पत्तनशालिक और अवैध संतान चक्री होती है ॥ २७ ॥ शूद्र स्त्री पुरुष की अवैध संतान माणविक नाम वाली होती है ।

अम्बष्ठ स्त्री और सवर्ण पुरुष की प्रजा आग्नेयनर्तक कही जाती है । करण जाति वाली स्त्री (शूद्र माता व वैश्य पिता वाली प्रजा करण होती है) और अम्बष्ठ अपर नाम माहिष्य जाति वाले पुरुष की संतान को तक्षा, रथकार, शिल्पी, वर्धकी, लोहकार और कर्मार कहते हैं ॥ ३० ॥ ब्राह्मणी व उग्र की (शूद्रमाता व वैश्य पिता वाली प्रजा को उग्र भी कहते हैं) संतान तक्षवृत्ति होती है । वैश्य स्त्री व उग्र की संतान समुद्र कही जाती है ॥ ३१ ॥ ब्राह्मणी और निषाद की प्रजा नापित होती है । क्षत्रिय स्त्री व निषाद की संतान अधोनापित होती है ॥ ३२ ॥ ब्राह्मणी और नापित की संतान वेणुक होती है । क्षत्रिय स्त्री और नापित की संतान कर्मकार कही जाती है ॥ ३३ ॥ ब्राह्मणी और दौष्यन्त की प्रजा का नाम है भागलब्ध । वैश्य स्त्री और निषाद की संतान सुनिषाद कही जाती है ॥ ३४ ॥ ब्राह्मणी और वैदेह की संतति रजक नाम वाली होती है ॥ ३५ ॥ ब्राह्मणी व चण्डाल की प्रजा का नाम श्वपच है ॥ ३६ ॥ ब्राह्मणी और श्वपच की प्रजा गुहक होती है । वैश्य स्त्री और चण्डाल पुरुष की संतति दन्तकवेलक कही जाती है ॥ ३७ ॥ इसी से शूद्र स्त्री में उत्पादित संतान को आश्रमक कहते हैं । प्रतिलोम निषाद से शूद्रा स्त्री में उत्पन्न प्रजा भैरव नाम वाली होती है ॥ ३८ ॥ शूद्रा स्त्री और मागध पुरुष की संतान कुकुन्द होती है । क्षत्रिय स्त्री और मागध पुरुष की प्रजा खनक होती है ॥ ३९ ॥ क्षत्रिय स्त्री और खनक पुरुष की संतान उद्बन्ध नाम से जानी जाती है । ब्राह्मणी और अयोगव की संतान चर्मकार होती है ॥ ४० ॥

१. ख. °ष्यन्त्याद्भा° । २. ग. चाण्डालाद्यः । ३. ख. °श्रमिकः ।

विप्रव्रात्यात्तु विप्रायां बन्दिको नाम जायते । क्षत्रव्रात्यान्नृपायां तु [1]खल्लो मत्तश्च मल्लकः ॥ ४१ ॥
मल्लात्तु पिच्छलस्तेन नटाख्यो जायते भुवि । नटात्करणसंज्ञस्तु करणात्कर्मसंज्ञितः ॥ ४२ ॥
तेन द्रमिल उत्पन्नो नृपायां वेदवित्तमाः । वैश्यव्रात्यात्तु वैश्यायां सुधन्वा जायते द्विजाः ॥ ४३ ॥
अनेनावार्यसंज्ञस्तु [2]भारुषो भारुषादपि । द्विजन्मा जायते तस्मान्मैत्रो मैत्रात्तु सात्वतः ॥ ४४ ॥
मैत्राद्वैदेहको जातः स मातङ्गश्च कीर्तितः । मातङ्गाज्जायते सूतः सूताद्दस्युः प्रजायते ॥ ४५ ॥
दस्योर्जातो मुनिश्रेष्ठा मालाकारः समाख्यया । प्रतिलोमनिषादेन कैवर्ताख्यो विजायते ॥ ४६ ॥
तिलकारिस्त्रियां जात आयोगेन द्विजोत्तमाः । नीलादिवर्णविक्रेता नाम्ना वेदार्थवित्तमाः ॥ ४७ ॥
कारी चारुसमाख्यायां निषादेन मुनीश्वराः । चर्मजीवी समुत्पन्नः सर्वविज्ञानसागराः ॥ ४८ ॥
युष्माकं संग्रहेणैव मयोक्तो जातिनिर्णयः । यथाऽगस्त्याच्छ्रुतः पूर्वं सद्गुरोरनुशासनात् ॥ ४९ ॥
स्वजात्युक्तं यथाशक्ति कुरुते कर्म यः पुमान् । मुक्तिस्तस्यैव संसारादिति वेदानुशासनम् ॥ ५० ॥

करणायामिति । शूद्रायां विश उत्पन्नायाम् । माहिष्यादिति । अम्बष्ठापरपर्यायात् ॥ २९–३० ॥ उच्यत इति[3] । शूद्रायां वैश्यतो जात उग्र इत्युच्यते तस्मात्तेनेति ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

मातङ्गादिति । 'सुधन्वे'त्यारभ्य मालाकारपर्यन्तम् वैश्यायामित्यनुवर्तते ॥ ४५–४८ ॥

ईदृशानामनुक्तानामनन्तानां भेदानां संभवादाह–संग्रहेणेति ॥ ४९ ॥

जातिनिर्णयप्रयोजनमाह–स्वजात्युक्तमिति । वेदानुशासनमिति । 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्' इति हि वेदवाक्येऽनुशिष्यते । स्वजात्युक्त एव हि धर्मः ॥ ५० ॥

ब्राह्मण व्रात्य से ब्राह्मणी में उत्पादित प्रजा बन्दिक होती है । क्षत्रियव्रात्य और क्षत्रिय स्त्री की संतति के नाम हैं खल्ल, मत्त और मल्लक ॥ ४१ ॥ मल्ल व क्षत्रिय स्त्री की संतान पिच्छल है । पिच्छल और क्षत्रिय स्त्री की संतान नट होती है । नट और क्षत्रिय स्त्री की संतान करण है । करण और क्षत्रिय स्त्री की संतान कर्म नाम वाली होती है । कर्म और क्षत्रिय स्त्री की संतान द्रमिल कही जाती है ॥ ४२½ ॥ वैश्यव्रात्य से वैश्य स्त्री में सुधन्वा नामक प्रजा पैदा होती है ॥ ४३ ॥ वैश्य स्त्री व सुधन्वा पुरुष की प्रजा अवार्य नाम वाली है । इसे ही भारुष भी कहते हैं । भारुष और वैश्य स्त्री की प्रजा द्विजन्मा है । द्विजन्मा और वैश्य स्त्री की संतान मैत्र कही जाती है । मैत्र पुरुष और वैश्य स्त्री की प्रजा सात्वत है ॥ ४४ ॥ मैत्र से उत्पन्न को वैदेहक और मातंग भी कहते हैं । मातंग और वैश्य स्त्री से सूत पैदा होते हैं । सूत और वैश्य स्त्री से दस्तु पैदा होते हैं ॥ ४५ ॥ दस्यु और वैश्य स्त्री की प्रजा मालाकार कही जाती है । प्रतिलोम निषाद और तिलकार स्त्री की अवैध प्रजा का नाम है कैवर्त और वह नील आदि रंग बेचने का काम करती है ॥ ४६–४७ ॥ चारु या कारु जाति वाली स्त्री और निषाद पुरुष की प्रजा चर्मजीवी होती है ॥ ४८ ॥ इस प्रकार जातिविषयक निर्णय जैसा अगस्त्य ने शिवसे सुना था वैसा मैंने अपने गुरु के उपदेश से जानकर आप लोगों को बता दिया ॥ ४९ ॥

शास्त्र का यह निर्णय है कि जो व्यक्ति अपनी जाति के लिये विहित कर्म का अपनी सामर्थ्यानुसार अनुष्ठान करता है, उसे ही चित्तशुद्धि व ज्ञानप्राप्ति द्वारा संसार से मोक्ष प्राप्त होता है ॥ ५० ॥ (स्ववर्णाश्रम धर्म के अनुष्ठानरूप तप से वैराग्यादि

---

१. ङ. मल्लो । २. ख. भारुषो । ३. उग्रतइतीति पाठः कल्प्यते ।

सर्वेषां जन्मना जातिर्नान्यथा कर्मकोटिभिः । पश्वादीनां यथा जातिर्जन्मनैव न चान्यथा ॥ ५१ ॥
साऽपि स्थूलस्य देहस्य भौतिकस्य न चाऽऽत्मनः । तथाऽपि देहेऽहंमानादात्मा विप्रादिसंज्ञितः ॥ ५२ ॥

जन्मनिबन्धना एता जातयः सन्तु कर्मनिबन्धनास्तु कीदृश्य इत्याशङ्क्य ता न संभवन्त्येवेत्याह–सर्वेषामिति । तत्र दृष्टान्तमाह–पश्वादीनामिति ॥ ५१ ॥

यदि जन्मनिबन्धनैव जातिस्तर्हि जन्मरहितस्याऽऽत्मनः सा कथं भवेत्तदभावे वा तस्य कथं जातिप्रयुक्तधर्मेषु नियोग इत्यत

साधन चतुष्टय उत्पन्न होते हैं ऐसा आचार्यों ने बताया है । अतः सभी को स्वधर्म का त्याग नहीं करना चाहिये । परधर्म ऐहिक लाभ दे भी दे परलोक का लाभ तथा चित्तशुद्धि का लाभ तो दे नहीं सकता । अपने लिये विहित धर्म ही अपना धर्म है । अन्य के लिये विहित धर्म हमारा नहीं हो सकता । जैसे चाहे जितनी सुन्दर लगे, परायी औरत को अपना मानने से कष्ट ही होगा वैसे चाहे जितना उत्तम लगे अन्य का धर्म हम अपनायेंगे तो कष्ट ही पायेंगे । स्वकीय धर्मानुष्ठान धर्मनिष्ठा है । परकीय धर्मानुष्ठान तो अधर्म है । अतः स्वधर्म में प्रवृत्त होना चाहिये) ।

सभी की जाति जन्म से निर्णीत होती है, अन्य किसी तरह नहीं । करोड़ों कर्म भी शरीर की जाति को बदल नहीं सकते । जैसे पशु आदि की गोत्यादि जाति का निर्णय जन्म से ही होता है, दूध देना आदि कर्म से नहीं, वैसे मनुष्यों की जाति के विषय में भी समझना चाहिये ॥ ५१ ॥ (जो तो महाभारतादि में तत्तत्कर्म करने वाले को तत्तद्वर्ण वाला कहा है वह उन कर्मों की प्रशंसा के लिये है । अर्थात् शमादि वाला वेदज्ञ ब्राह्मण श्रेष्ठ है, क्रोध आदि युक्त अविद्वान् नीच है किंतु है ब्राह्मण ही । जप आदि से उत्तम वर्ण का लाभ भी जन्मान्तर के अभिप्राय से समझना चाहिये । जातिभ्रंशकर पाप भी उनके अनुष्ठाता को बहिष्कार्य तो बना सकते हैं किंतु जाति का परिवर्तन नहीं कर सकते । संकर जातियाँ चाहे समाज द्वारा व्यवस्थित हों, ब्राह्मणादि चार जातियाँ भगवान् ने ही बनायी हैं अतः उनमें कोई हेरफेर हम लोग नहीं कर सकते । जात्यनुसार उच्च-नीचभाव भी अतएव ध्रुव ही है, ब्राह्मण ही पूज्य हो सकता है क्षत्रियादि नहीं । क्योंकि इन जातियों के निर्णय का संबंध धर्म से है अतः सामाजिक सुधार आदि का फल इन पर नहीं पड़ सकता । अतः चाहे समाज स्वयं यह निर्णय कर भी ले कि ब्राह्मण को सबसे हीन ही माना जायेगा, फिर भी ब्राह्मण रहेगा ब्राह्मण ही अतः उसे धर्म की दृष्टि से वेदाध्ययनादि ही करना पड़ेगा । वृत्ति के लिये उत्तम तो है कि याजन आदि ही ब्राह्मण करे किन्तु उससे जीविका असंभव होने पर क्रमशः हीनवर्णों के वृत्तिधर्मों का अनुष्ठान किया जा सकता है । यह भी तब जब स्वकीय वृत्तिधर्म से जीवनयापन असंभव हो । केवल सुविधा के आधिक्य के लिये भी यह छूट नहीं । स्वकीय वृत्तिधर्म से शोधन रूप अवांतर फल मिलता है । अन्यदीय वृत्तिधर्म से वह नहीं मिलता । अतः कोशिश यही करनी चाहिये कि स्वकीय वृत्तिधर्म से ही आजीविका चलायी जाये । यही इतर वर्णों के विषय में समझ लेना चाहिये । क्योंकि हमारे ही पूर्व कर्मों के अनुसार हमें वर्ण मिला है इसलिये इसके लिये दोषी हम स्वयं हैं, न ईश्वर न समाज । यदि आगे के लिये हम अपनी स्थिति सुधारना चाहते हैं तो स्वकीय धर्म के अनुष्ठान से ही वह संभव है क्योंकि उसी से वह पुण्य होगा जो हमें उत्तम जाति देगा । अन्य जप आदि भी इसके लिये करने चाहिये । इसी योनि में हम चाहे सामाजिक या कानूनी दृष्टि से अपना वर्ण बदल लें, धार्मिक दृष्टि से वह बदलेगा नहीं और स्वधर्मत्याग तथा परधर्म-पालन इन दो दोषों से हम बचेंगे नहीं । (सनातन धर्म मुख्यतः वर्णाश्रम धर्म है अतः इसे मानने वाला वर्णाश्रम को अवश्य स्वीकारता है । जो वर्णाश्रमहीन हैं उनके लिये भी सनातन धर्म में साधन बताये हैं किंतु वे साधन विलम्ब से फलदायक होते हैं यह अन्तर अवश्य है । मुमुक्षु को तो यथासंभव स्वधर्मतत्पर हो चित्तनैर्मल्य का संपादन कर ही लेना चाहिये । मोक्ष सभी वर्णों में प्राप्त हो सकता है । अतः फल की दृष्टि से मोक्षशास्त्र में कोई भेदभाव नहीं । स्वधर्मानुष्ठान से वैराग्यलक्षण चित्तशुद्धि पाकर स्वाधिकारानुसार श्रवण मनन निदिध्यासन से सभी मनुष्य इसी जन्म में मुक्त हो सकते हैं) ।

जन्म से प्राप्त वह जाति भी भौतिक स्थूल देह की होती है, आत्मा की नहीं । फिर भी 'स्थूल शरीर मैं हूँ' ऐसा मानने से आत्मा भी विप्र आदि नाम पा जाता है ॥ ५२ ॥ (व्यवहार स्थूल देह से होता है अतः आत्मा की जातिहीनता से व्यवहार में कोई भी अंतर नहीं आता । 'मैं ब्राह्मण हूँ' इत्यादि समझना हमारी भूल है किंतु उसी कोटि की भूल है जिस कोटि की 'मैं मनुष्य हूँ', 'मैं पुरुष हूँ' आदि मानना । भूल सुधारने चलेंगे तो अपनी शिवरूपता ही हाथ आयेगी, मनुष्यत्वादि सब छूटेंगे । एक को छोड़ दूसरी भूल पकड़ना मूर्खता ही है । अतः कर्तव्य यही है कि वेदान्तश्रवणादिपूर्वक सभी भूलों को जड़ से उखाड़ें ।) अपने वास्तविक शिवस्वरूप के अज्ञान से ही हमें 'शरीर मैं हूँ' ऐसा भ्रमात्मक निश्चय होता है । अपने स्वरूप

स्वस्वरूपापरिज्ञानाद्देहेऽहंमान[1] आत्मनः । अपरिज्ञानमप्यस्य ब्राह्मणा वेदवित्तमाः ॥ ५३ ॥
आदिमन्न भवत्यन्तस्तस्य ज्ञानेन सुव्रताः । ज्ञानं वेदान्तविज्ञानमिति सद्गुरुनिर्णयः[2] ॥ ५४ ॥
यस्यापरोक्षविज्ञानमस्ति वेदान्तवाक्यजम् । तस्य नास्ति नियोज्यत्वमिति वेदार्थनिर्णयः ॥ ५५ ॥
[4]वर्णिनामाश्रमाः प्रोक्ताः सर्वशास्त्रार्थवेदिभिः । तेषां वर्णाश्रमस्थानां वेदकिंकरता सदा ॥ ५६ ॥
यो अस्ति चेद्ब्रह्मविज्ञानं स्त्रियो वा पुरुषस्य वा । वर्णाश्रमसमाचारस्तयोर्नास्त्येव सर्वदा ॥ ५७ ॥
अविज्ञायाऽऽत्मसद्भावं स्ववर्णाश्रममास्तिकाः । जहाति यः स मूढात्मा पतत्येव[5] न संशयः ॥ ५८ ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन श्रद्धया सह सर्वदा । कर्तव्यो वर्णिभिर्धर्मः श्रौतः स्मार्तश्च मुक्तये ॥ ५९ ॥

आह–**साऽपि स्थूलस्येति** । सूक्ष्मभूतकार्यस्य लिङ्गशरीरस्याप्या[3]त्मवज्जात्यभावाभिप्रायेण स्थूलस्येत्युक्तम् । जातिमद्देहादितादात्म्याध्यासादजातेरप्यात्मनो विप्रत्वादिव्यवहार इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

अध्यासोपादानमज्ञानमाह–**स्वस्वरूपेति** । अज्ञानस्य तर्हि को हेतुः ? अनादित्वे वा तस्याऽऽत्मवदन्तोऽपि न स्यादिति चेत् ? न । यथा प्रागभावस्यानादेर्भावेन निवृत्तिरेवमनादेरज्ञानस्य ज्ञानेन निवृत्तिरित्याह–**अपरिज्ञानमिति** । लोकायतादिशास्त्रोक्तप्रज्ञानादज्ञाननिवृत्तिं वारयितुमाह–**ज्ञानमिति** । यथार्थदर्शिनो यथादृष्टार्थवादिनश्च व्यासादयस्ते सद्गुरवः । लोकायतादयस्तु विप्रलम्भकत्वादज्ञत्वाच्च नैवंविधा इत्यर्थः ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ ज्ञानिनस्तर्हि जात्यभावे कथं तस्य तत्प्रयुक्तौ विधिनिषेधाविति चेत् ? न स्त एव तस्य तावित्याह–**यस्यापरोक्षेति** । **वेदार्थेति** । 'स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानिति' वाजसनेयश्रुतिः । 'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्' इति काठकश्रुतिः ॥ ५५ ॥

वर्णधर्मवदाश्रमधर्मोऽपि तत्त्वज्ञानविरहिणामेवेत्याह–**वर्णिनामिति** । **वेदकिंकरता** वेदेन कर्मसु नियोज्यता ॥ ५६ ॥

स्त्रीत्वादीनामपि वर्णाश्रमवद्देहधर्मत्वेन देहाध्यासविरहे सति कर्मस्वनियोज्यत्वे न तत्कृतः कोऽपि विशेष इत्याह–**अस्ति चेदिति** ॥ ५७ ॥

संश्चासौ भावश्च सद्भावः पारमार्थिकं रूपमात्मनस्तदसाक्षात्कृत्य कर्मपरित्यागे पातित्यमाह–**अविज्ञायेति** ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

का अज्ञान भी अनादि है और ज्ञान के बिना इसकी समाप्ति संभव नहीं । ज्ञान भी यहाँ वेदान्तविज्ञान ही विवक्षित है यह मेरे सद्गुरु व्यास जी का निर्णय है ॥ ५३–५४ ॥ जिस व्यक्ति को वेदान्तवाक्य से आत्मा का अपरोक्ष साक्षात्कार हो गया है वह वेदादि द्वारा किसी कर्तव्य वाला नहीं बनाया जा सकता यह वेद का ही सिद्धान्त है ॥ ५५ ॥ जिन्हें वह ज्ञान नहीं अतएव वर्णाभिमान है उन्हीं के लिये आश्रम बताये गये हैं । जो अपने को किसी वर्ण व आश्रम वाला मानते हैं वे ही वेद की आज्ञाओं के विषय बनते हैं ॥ ५६ ॥ किन्तु पुरुष या स्त्री चाहे जिसको परमात्मज्ञान हो गया, उसे वर्माश्रम धर्म का पालन करने का कोई विधान नहीं ॥ ५७ ॥ (पूर्वाभ्यास से उसका कार्यकरणसंघात व्यवहार करता रहे तो कोई प्रतिबंध भी नहीं । उसे तो अपनी अकर्तृभोक्तृता का निश्चय बना रहता है । देहादि चाहे अश्वमेघ करें चाहे ब्रह्महत्या, कुछ अंतर नहीं, न एक से कुछ भी पुण्य होना है व न दूसरे से कुछ भी पाप) ।

---

१. ख. ङ. °नमात्म° । २. अतएवाध्यासात्मकवन्धनिवृत्तये प्रत्यज्ञासीद्ब्रह्मज्ञानस्य हेतुत्वमसौ वेदान्तमीमांसोपोद्घात इति भावः । वेदान्तविज्ञानवतामेव परिमोक्षः श्रुत्याऽपि निरगादि । बुद्धिमान् कृतकृत्य इति च पंचदशाध्यायोपसंहारे भगवता श्रीकृष्णेन बुद्धेरेव कृतकृत्यताप्रयोजकत्वं मुखतः प्रतिज्ञातं न कर्मणो भक्त्यादे र्वा । बुद्धिश्च योमामेवं जानातीत्यनुपदमेवोक्तेति न शंकालेशावसरः । ततश्च श्रुतिस्मृतिन्यायैरेवमेवोक्तत्वात्साधूक्तं निर्णयइति । ३. सूक्ष्मस्य जातिमत्त्वे सर्वेषु जन्मसु जातेरैक्यप्रसंगादित्यर्थः । ४. ग. वर्णाना° । ५. अयमत्र क्रमः–विविदिषायाः प्राक् स्ववर्णादिनिमित्तं प्रवृत्तिकर्म कुर्यात् । विविदिषोत्पत्तेरूर्ध्वं निवृत्तिकर्मैव श्रवणादिसहकृतं कुर्यात् । साक्षात्कारे जाते सर्वं कर्म परित्यजेदिति । विदुषि दृश्यमानन्तु कर्म आभासमात्रं लोकसंग्रहार्थमिति ।

इत्याकर्ण्य मुनीश्वराः श्रुतिगतं सूतोपदिष्टं परं सत्यानन्तसुखप्रकाशपरमं ब्रह्मात्मविज्ञानदम् ।
श्रुत्वा जातिविनिर्णयं सकललोकाम्भोधिपारं सदा सत्यास्तेयदयार्जवादिसहितास्तुष्टा बभूवुर्भृशम् ॥ ६० ॥
इति श्रीस्कन्दपुराणे श्रीसूतसंहितायां शिवमाहात्म्यखण्डे जातिनिर्णयो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

सत्यानन्तेति । जातिनिर्णयो हि तत्प्रयुक्तकर्मानुष्ठानद्वारा तत्त्वज्ञानहेतुः ॥ ६० ॥

इति श्रीमत्काशीविलासक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवापरायणेनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन माधवाचार्येण विरचितायां श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां शिवमाहात्म्यखण्डे जातिनिर्णयो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

नैमिषीया ऊचुः—भगवंस्तीर्थमाहात्म्यं सर्वशास्त्रार्थवित्तम । ब्रूहि कारुण्यतोऽस्माकं हिताय प्राणिनां मुदा[1] ॥ १ ॥

तत्त्वज्ञानमन्तरेण कर्मत्यागे पातित्यमुक्तम् । प्रमादाज्जातस्य तस्य निर्णजने तीर्थसेवा सुकरोपाय इति मन्यमाना मुनयस्तीर्थमाहात्म्यं जिज्ञासन्ते—**भगवंस्तीर्थेति** ॥ १ ॥

आत्मस्वरूप के अनुभव के बिना स्ववर्णाश्रमधर्म को छोड़ना मूर्खता है और ऐसा करने वाला पतित ही होता है ॥ ५८ ॥
(यहाँ यह क्रम है : इहलोक व परलोक से जब तक वैराग्य न हो तब तक प्रवृत्तिधर्मों को करना चाहिये । ईश्वरार्पण बुद्धि से या विविदिषा के उद्देश्य से उन्हें करने पर मनोनैर्मल्य होकर जिज्ञासा उत्पन्न होती है । जिज्ञासा पैदा होने के बाद प्रवृत्तिधर्म छोड़कर शमादि निवृत्तिधर्मों से सहकृत श्रवणादि अनुष्ठान में तत्पर हो जाना चाहिये । समस्त—प्रवृत्ति व निवृत्ति दोनों—कर्मों का परित्याग दृढ आत्मबोध के अनन्तर ही किया जा सकता है । उसके पूर्व वह है असंभव अतः हम यदि समझें भी कि हमने सर्वकर्मत्याग कर दिया तो वह भ्रम ही है । यह याद रखना चाहिये कि यह सारी परंपरा एक ही जन्म में होना आवश्यक नहीं । अतः यह संभव है कि किसी ने प्रवृत्ति धर्म से चित्तशुद्धि पूर्वभव में अर्जित कर ली हो जिससे इस जन्म में वह निवृत्ति धर्मों से अनुष्ठान से ही साधना प्रारंभ करे । यह निर्णय तो स्वयं अपनी मनःस्थिति से हो सकता है । यदि सांसारिक कोई कामना है तो स्ववर्णाश्रम प्रवृत्तिधर्मों का ही अनुष्ठान करे और यदि सांसारिक कामनायें नहीं, आत्मजिज्ञासा है तो निवृत्तिधर्मों का ही अनुष्ठान करे । जिज्ञासा के बाद प्रवृत्तिधर्मों के तत्पर होना उतना ही गलत है जितना जिज्ञासा के बिना निवृत्तिधर्म-परायण होना । अतः दृढात्मबोध के पहले सबको प्रवृत्तिधर्म ही करना चाहिये ऐसा असंभव अर्थ शास्त्र का कहीं नहीं है । स्वधर्मानुष्ठान करना चाहिये इससे यह भ्रम किन्हीं को हो सकता है, किंतु धर्म तो प्रवृत्ति व निवृत्ति उभयात्मक है व कल्याण चाहने वालों को क्रमशः दोनों करने ही पड़ते हैं । किसी एक को ही धर्म नहीं मानकर बैठ सकते । यह विषय गीताभाष्य के उपोद्घात आदि में स्पष्ट सूचित है) ।

अतः सब वर्ण वालों को श्रद्धापूर्वक पूर्ण प्रयत्न से मुक्तिप्राप्ति के लिये श्रौत-स्मार्त धर्मों का पालन करना चाहिये ॥ ५९ ॥

इस प्रकार नैमिषीय मुनियों ने जातिनिर्णय सुना तथा सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), दया, ऋजुता (कुटिल न होना) आदि आदि सद्गुणों का रक्षण करते हुए परम सन्तुष्ट हुए । मुनि होने से इन्हीं धर्मों में अधिकारी थे और स्वकीय जो कोई भी धर्म है वह पर्याप्त है यह सूतजी ने निर्णय दिया ही था अतः इन्हीं का पालन करते हुए वे परम संतुष्ट हुए । यह जाति निर्णय श्रुति-समधिगत है । सूतोपदिष्ट अर्थात् पुराणसंमत भी है । यह पर अर्थात् श्रेष्ठ भी है क्योंकि इसके बिना स्वधर्म में प्रवृत्ति अशक्य है । यही सत्य, अनन्त, सुख व प्रकाश रूप परमात्मा की प्राप्ति के लिये तत्पर है अर्थात् इसे समझकर तदनुसार कर्म करने से ही शिवप्राप्ति संभव है । अतएव यह ब्रह्म की आत्मरूपता प्रदान करता है क्योंकि इसके अनुसार ही श्रुति, स्मृति, पुराण, भाषादि ग्रंथों का श्रवणादि किया जा सकता है । अतः सब लोगों के लिये संसार सागर से पार ले जाने वाला यह जातिनिर्णय है ॥ ६० ॥

तीर्थमाहात्म्य-कथन नामक तेरहवा अध्याय

(शिवबोध के बिना कर्मत्याग दोषावह बताया गया । यदि प्रमाद से या अज्ञान से वह हो जाये तो उस दोष का प्रायश्चित्त

१. मुदा हितायेत्यन्वयः । प्रसन्नतया हितलाभो हि तीर्थसेवया भवतीत्यनुभवसिद्धम् ।

सूत उवाच—वदामि तीर्थमाहात्म्यं संग्रहेण मुनीश्वराः । शृणुध्वं सर्वशास्त्रोक्तं श्रद्धया परया सह ॥ २ ॥
गङ्गाद्वारं महातीर्थं सर्वदेवनिषेवितम् । तत्र स्नात्वा रवौ मेषे स्थितेऽश्विन्यां मुनीश्वराः ॥ ३ ॥
यथाशक्ति धनं दत्त्वा श्रद्धया शिवयोगिने । उपोष्य सर्वपापेभ्यो मुच्यते मानवो द्विजाः ॥ ४ ॥
सोमतीर्थमिति ख्यातं सोमनाथस्य संनिधौ । समुद्रे पश्चिमे विप्राः स्थितं योजनमायतम् ॥ ५ ॥
विस्तीर्णं योजनं विप्राः विश्वैर्देवैर्निषेवितम् । पर्वण्यार्द्रादिनेऽष्टम्यां व्यतीपाते तथा द्विजाः ॥ ६ ॥
अर्कवारे चतुर्दश्यां स्नात्वा दत्त्वाऽत्र भोजनम् । प्रणम्य सोमनाथाख्यं सोमं सोमविभूषणम् ॥ ७ ॥
उपोष्य रजनीमेकां भस्मदिग्धतनूरुहः । सर्वपापविनिर्मुक्तः शंकरं याति मानवः ॥ ८ ॥
वाराणस्यां महातीर्थं नाम्ना तु मणिकर्णिका । तत्र स्नात्वा महाभक्त्या प्रातरेव समाहितः ॥ ९ ॥
दृष्ट्वा विश्वेश्वरं देवं करुणासागरं हरम् । यथाशक्त्यन्नपानादि दत्त्वा मुक्तो भवेन्नरः ॥ १० ॥
प्रयागाख्यं महातीर्थं भवरोगस्य भेषजम् । भरण्यां कृत्तिकायां तु रोहिण्यां वा विशेषतः ॥ ११ ॥
तत्र स्नात्वा रवौ मेषे वर्तमाने मुनीश्वराः । यथाशक्ति धनं दत्त्वा विमुक्तो मानवो भवेत् ॥ १२ ॥
आर्द्रायां मार्गशीर्षे वा गङ्गासागरसंगमे । स्नात्वा मध्यंदिने दत्त्वा यथाशक्ति धनं मुदा ॥ १३ ॥
सर्वपापविनिर्मुक्तः शिवसायुज्यमाप्नुयात् । नर्मदा च महातीर्थं नरकद्वारनाशकम् ॥ १४ ॥
ब्रह्मविष्ण्वादिभिर्नित्यं सेवितं शंकरेण च । तत्र स्नात्वा यथाशक्ति धनं दत्त्वाऽऽदरेण च ॥ १५ ॥
ब्रह्मलोकमवाप्नोति नरो नात्र विचारणा । यमुना च महातीर्थं यमेनापि निषेवितम् ॥ १६ ॥

श्रद्धयेति । तद्विरहे तीर्थानामपि निष्फलत्वम्—'मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ । यादृशी भावना [1]यत्र सिद्धिर्भवति तादृशी' इत्याहुः ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

करना चाहिये । प्रायश्चित्तों में तीर्थसेवा सुकर है अतः सबके उपकारार्थ) नैमिषारण्य के मुनियों ने प्रार्थना की—हे भगवन् ! सब प्राणियों के हित के लिये कृपाकर प्रसन्नता पूर्वक हमें तीर्थों की महत्ता बताइये ॥ १ ॥

सूतजी बोले—हे मुनीश्वरो ! सब शास्त्रों में बताये तीर्थमाहात्म्य को मैं संक्षेप में बताता हूँ, परम श्रद्धालु होकर सुनिये ॥ २ ॥

गंगाद्वार (हरद्वार) एक महान् तीर्थ है । सब देवता उसका सेवन करते हैं । मेष राशि में तथा अश्विनी नक्षत्र में सूर्य के स्थित होने पर वहाँ स्नान कर किसी भी शिवयोगी को यथाशक्ति धन देना चाहिये और व्रती रहना चाहिये । ऐसा करने से मनुष्य सब पापों से छूट जाता है ॥ ३–४ ॥

सोमनाथ के निकट पश्चिम समुद्र में एक योजन विस्तार वाल सोमतीर्थ प्रसिद्ध है । सभी देवताओं ने उसका सेवन किया है । पर्वों पर, आर्द्रा नक्षत्र होने पर, अष्टमी को, व्यतीपात योग होने पर, रविवार को तथा चतुर्दशी को उसमें स्नान कर भोजन दान करना चाहिये । सोमार्धशेखर भगवान् सोमनाथ को प्रणामकर एक दिन (अहोरात्र) व्रत रखना चाहिये और सारे शरीर पर भस्म लगानी चाहिये । इससे मानव सब पापों से छूटकर शंकर को पा लेता है ॥ ५–८ ॥

वाराणसी में मणिकर्णिका नामक महान् तीर्थ है । भक्तिपूर्वक प्रातःकाल उसमें स्नानकर करुणासागर विश्वेश्वर का दर्शन कर यथाशक्ति अन्न पेय आदि का दान करने से मनुष्य पापमुक्त हो जाता है ॥ ९–१० ॥

संसाररूप रोग की दवा रूप महान् तीर्थ प्रयाग है । भरणी, कृत्तिका या रोहिणी नक्षत्र के समय तथा विशेषतः सूर्य के मेष राशि में होने पर वहाँ स्नानकर यथाशक्ति धन का दान करने से मनुज पापमुक्त होता है ॥ ११–१२ ॥

आर्द्रा नक्षत्र के समय या मार्गशीर्ष महीने में गंगासागर में (गंगा व सागर के संगम में) स्नानकर मध्याह्न में यथाशक्ति

१. ख. तत्र । घ. यस्य ।

तत्र स्नात्वा नरो भक्त्या रवौ वृषभसंस्थिते । विशाखे सूर्यवारे वा दत्त्वा विप्राय भोजनम् ॥ १७ ॥
सर्वपापविनिर्मुक्तः शिवेन सह मोदते । सरस्वतीति विख्याता नदी सर्ववरप्रदा ॥ १८ ॥
यस्यां वागीश्वरी देवी वर्तते सर्वदाऽऽदरात् । तस्यामार्द्रादिने स्नात्वा यत्किंचिच्छिवयोगिने ॥ १९ ॥
दत्त्वा पुत्रादिभिः सार्धं नरः स्वर्गमवाप्नुयात् । गोदावरीति या लोके सुप्रसिद्धा महानदी ॥ २० ॥
[1]सिंहराशौ स्थिते सूर्ये सिंहयुक्ते बृहस्पतौ । तस्यां स्नात्वा यथाशक्ति धनं दत्त्वा तु मानवः ॥ २१ ॥
गङ्गायां द्वादशाब्दस्य नित्यं स्नानफलं लभेत् । कृष्णवेणीति या लोके प्रोक्ता विप्रा महानदी ॥ २२ ॥
सर्वयो[2]गीश्वराराध्या सह्यादेवोद्गता शुभा । इन्द्रनीलगिरिर्यस्यां स्नात्वाऽभूच्छंकरासनम् ॥ २३ ॥
नित्यं यस्यां महादेवः स्नात्वा विष्ण्वादिभिः सह । तस्मिन्गिरिवरे श्रीमान्वर्तते शिवया सह ॥ २४ ॥
स्नात्वा तस्यां नरः पर्वण्युपोष्य ब्रह्मवित्तमाः । यथाशक्ति धनं दत्त्वा मुच्यते भवबन्धनात् ॥ २५ ॥
सुवर्णमुखरी नाम नदी संसारनाशिनी । समस्तप्राणिनां भुक्तिमुक्तिसिद्ध्यर्थमास्तिकाः ॥ २६ ॥
केवलं कृपया साक्षाच्छिवेन परमात्मना । निर्मिता मघनक्षत्रे माघमासि द्विजोत्तमाः ॥ २७ ॥

विशाख इति । विशाखानक्षत्रयुक्ते सूर्यवारे । 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' इत्यण् । संज्ञापूर्वकस्य विधेरनित्यत्वादादिवृद्ध्यभावः । सूर्यवारस्य विशेषस्योपादानात् 'लुबविशेषे' इति न लुप् । अत एव युक्तवद्व्यक्तिवचने न भवतः । अथवा सूर्यवारे विशाखे स्यातां चेदित्यर्थः ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥

व प्रसन्नतासे धनदान करने से सब पापों से छूटकर शिवसायुज्य की प्राप्ति होती है ॥ १३१/२ ॥

नरक के द्वार को नष्ट करने वाला श्रेष्ठ तीर्थ नर्मदा है । ब्रह्मा, विष्णु आदि देवता व स्वयं शंकर उसका प्रतिदिन सेवन करते हैं । उसमें स्नानकर और आदरपूर्वक स्वसामर्थ्यानुसार धन का दान करने से मनुष्य ब्रह्मलोक प्राप्त करता है इसमें कोई संदेह नहीं ॥ १४–१५१/२ ॥

यमुना भी महान् तीर्थ है । यमराज भी उसका सेवन करते हैं । जब सूर्य वृष राशि में हो, या विशाखा नक्षत्र वाले रविवार को भक्तिपूर्वक उसमें स्नानकर ब्राह्मण को भोजन-प्रदान करने से मानव सब पापों से छूटकर शिव के साथ रहते हुए आनन्दित होता है ॥ १६–१७१/२ ॥

प्रसिद्ध सरस्वती नदी सब श्रेष्ठ फलों को देने वाला तीर्थ है । भगवती वागीश्वरी (सरस्वती) सदा प्रेम से उसका सेवन करती हैं । आर्द्रानक्षत्र वाले दिन में उसमें स्नानकर किसी शिवयोगी को जो कुछ भी दे देने से मनुष्य अपने पुत्रादियों सहित स्वर्ग पाता है (अर्थात् तत्फलस्वरूप वह भी मरने पर स्वर्ग पाता है व उसके पुत्रादि भी यथाकाल मरकर स्वर्ग प्राप्त कर लेते हैं । आदि से पत्नी व दुहिता समझना चाहिये ।) ॥ १८–१९१/२ ॥

गोदावरी नामक प्रसिद्ध नदी भी उत्तम तीर्थ है । जब बृहस्पति व सूर्य सिंह राशि में स्थित हों तब गोदावरी में स्नान कर यथाशक्ति धनदान करने से मनुष्य को वही फल मिलता है जो गंगा में बारह साल नित्य स्नान करने से मिलता है ॥ २०–२११/२ ॥

कृष्णवेणी नाम की जो नदी सह्याद्रि से निकली है (आजकल केवल कृष्णा नाम से प्रसिद्ध है) वह भी श्रेष्ठ तीर्थ है । सब योगीश्वर उसकी आराधना करते हैं । इसी में स्नान करने से इंद्रनील पर्वत ने शंकर की आसनरूपता प्राप्त की है । विष्णु आदि सहित महादेव इसी नदी में स्नानकर उस पर्वत पर पार्वती समेत विराजते हैं । पर्व-दिनों पर व्रती होकर इसमें स्नानकर स्वसामर्थ्यानुसार धनदान करने से भवबन्धन से मोक्ष प्राप्त होता है ॥ २२–२५ ॥

सुवर्णमुखरी नामक नदी संसरण निवृत्त करने वाली है । यह सब प्राणियों को भोग व मोक्ष प्रदान करती है । परमात्मा

---

१. ख. सिंहराशियुते सूर्ये सिंहस्थे च बृहस्पतौ । २. °योगेश्च° ।

यस्यास्तीरे महादेवः शंकरः शशिभूषणः । श्रीमद्दक्षिणकैलासे शिवया परया सह ॥ २८ ॥
वर्तते तां समालोक्य सुवर्णमुखरीं नदीम् । यस्यां संभूय तीर्थानि स्वपापध्वस्तिसिद्धये ॥ २९ ॥
स्नानं कृत्वा महाभक्त्या मघर्क्षे माघमासि च । यथाशक्ति धनं दत्त्वा श्रद्धया शिवयोगिने ॥ ३० ॥
श्रीकालहस्तिशैलेशं शिवं शिवकरं नृणाम् । श्रीमद्दक्षिणकैलासवासिनं वासवार्चितम् ॥ ३१ ॥
प्रणम्य दण्डवद्भक्त्या विमुक्ता ह्यघपञ्जरात् । स्नात्वा तस्यां नरो भक्त्या मघर्क्षे माघमासि च ॥ ३२ ॥
सर्वपापविनिर्मुक्तः शिवसायुज्यमाप्नुयात् । [1]कम्पा नाम नदी पुण्या कमलासननिर्मिता ॥ ३३ ॥
यस्यां द्विजोत्तमाः स्नात्वा शंकरं शशिशेखरम् । दृष्ट्वा भक्त्या नरः सद्यो मुच्यते भवबन्धनात् ॥ ३४ ॥
आदिलिङ्गे महाविष्णुर्यस्यां स्नात्वा महेश्वरम् । समाराध्य स्थितस्तत्र देवदेवस्य संनिधौ ॥ ३५ ॥
निरीक्ष्य श्रद्धया विप्रा नदीं तामच्युतो हरिः । तस्यां स्नात्वाऽर्कवारे च ब्राह्मणाः श्रद्धया सह ॥ ३६ ॥
हस्ते वा भगनक्षत्रे तथा पर्वण्यपि द्विजाः । विप्रायान्नादिकं दत्त्वा नरः स्वर्गे महीयते ॥ ३७ ॥
कुटिला नाम या लोके प्रसिद्धा महती नदी । यस्यास्तीरे मुनिश्रेष्ठा वीराख्या वेदवित्तमाः ॥ ३८ ॥
श्रावण्यां पौर्णमास्यां तु[2] भद्रकाली दृढव्रता । अधिकासंज्ञितां रम्यां पुरीमादित्यनिर्मिताम् ॥ ३९ ॥
अप्सरोगणसंकीर्णामाश्रितामसुरैः सुरैः । अभ्येत्याशेषदेवानामादिभूतं महेश्वरम् ॥ ४० ॥
प्रतिष्ठाप्य जलेनास्याः स्नाप्य श्रद्धापुरःसरम् । प्रार्थयामास धर्मज्ञा [3]देवदेवं घृणानिधिम् ॥ ४१ ॥
यः पुमान्देवदेवास्यां स्नात्वा श्रद्धापुरःसरम् । श्रावण्यां पौर्णमास्यां वा दृष्ट्वा स्तुत्वाऽभिवन्द्य च ॥ ४२ ॥
ददाति विदुषे वस्त्रं धनं धान्यं यथाबलम् । तस्य भुक्तिं च मुक्तिं च प्रयच्छाशेषनायक ॥ ४३ ॥

सह्यादिति । सह्यपर्वतात् ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

भगनक्षत्र उत्तरफल्गुन्याम् ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

ने इसे केवल कृपा के कारण मघनक्षत्र के समय माघ मास में निर्मित किया है। इसी के तट पर दक्षिणकैलास में ज्ञानप्रसूनाम्बिका समेत भगवान् विराजते हैं। सब तीर्थ इस एक तीर्थ में एकत्र हैं। मघनक्षत्र के समय माघमास में इस नदी में श्रद्धापूर्वक स्नानकर व यथाशक्ति किसी शिवयोगी को धनदानकर श्रीकालहस्तीश्वर को भक्तियुक्त हो दण्डवत् प्रणाम करने से मनुष्य पापों से छूट जाता है। उक्त काल में इसमें स्नान कर पापमुक्त हो शिवसायुज्य प्राप्त होता है ॥ २६–३२½ ॥

ब्रह्मा द्वारा निर्मित कम्पा नामक नदी है जिसमें स्नानकर महादेव का दर्शन करने से मनुष्य भवबंधन से मुक्त हो जाता है। उसी में स्नानकर महाविष्णु आदिलिंग में महादेव की आराधना करते हुए स्थित हैं। रविवार को, हस्त नक्षत्र के या उत्तरा फाल्गुनी के काल में तथा पर्वों पर उसमें स्नानकर ब्राह्मण को अन्न आदि का दान करने से मनुष्य स्वर्ग में प्रतिष्ठित होता है ॥ ३३–३७ ॥

कुटिला नाम की प्रसिद्ध नदी भी विशिष्ट तीर्थ है। श्रावणी पूर्णिमा को वीराख्य भद्रकाली सूर्यनिर्मित अधिकापुरी में आयी थीं। यह पुरी कुटिलातट पर है। सुर, असुर, अप्सरायें आदि सब इसमें निवास करते हैं। भद्रकाली ने वहाँ महेश्वर को प्रतिष्ठापित कर कुटिला के जल से उनका श्रद्धापूर्वक अभिषेक किया। उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की कि जो कोई पुरुष श्रावणी पूर्णिमा को उस नदी में श्रद्धा से स्नानकर अथवा उसका दर्शन व स्तुतिकर किसी वेदज्ञ को यथाशक्ति वस्त्र, धन और धान्य का दान करे, भगवान् उस व्यक्ति को भोग व मोक्ष दे देवें। वीरा देवी की प्रार्थना भगवान् ने मान

१. ख. पम्पा ना° । २. ख. वा । ३. ख. वेदवेद्यं ।

सूत उवाच—बीरया प्रार्थितो देवो विप्रेन्द्रा ब्रह्मवित्तमाः । तथा भवत्विति प्राह शिवो गम्भीरया गिरा ॥ ४४ ॥
तस्यां स्नात्वाऽर्कवारे यः श्रद्धया परया सह । ददाति धनमन्यद्वा स मुक्तो नात्र संशयः ॥ ४५ ॥
मणिमुक्ता नदी दिव्या महादेवेन निर्मिता । यस्यां विष्णुश्च रुद्रश्च ब्रह्मा वह्निश्च मारुतः ॥ ४६ ॥
विश्वे देवाश्च वसवः सूर्यो देवः पुरंदरः । आदित्ये चापसंयुक्ते श्रद्धयाऽऽर्द्रादिने द्विजाः ॥ ४७ ॥
स्नानं कृत्वा धनं दत्त्वा श्रीमद्वृद्धाचलेश्वरम् । प्रणम्य दण्डवद्भूमौ लोकानां हितकाम्यया ॥ ४८ ॥
प्रार्थयामासुरीशानं श्रीमद्वृद्धाचलेश्वरम् । दुर्वृत्तो वा सुवृत्तो वा मूर्खो वा पण्डितोऽपि वा ॥ ४९ ॥
ब्राह्मणो वाऽथ शूद्रो वा चाण्डालो वाऽन्य एव वा । अस्यामस्मिन्दिने स्नात्वा श्रद्धया शिवयोगिने ॥ ५० ॥
यथाशक्ति धनं दत्त्वा धान्यं वा वस्त्रमेव वा । श्रीमद्वृद्धाचलेशाय ब्राह्मणा वेदवित्तमाः ॥ ५१ ॥
उपोष्य प्रातरेवेशं श्रीमद्वृद्धाचलेश्वरम् । यो नमस्कुरुते तस्य प्रयच्छ परमां गतिम् ॥ ५२ ॥
इत्येवं प्रार्थितः सर्वैः श्रीमद्वृद्धाचलेश्वरः । तथैवास्त्विति संतुष्टः प्राह गम्भीरया गिरा ॥ ५३ ॥
तस्यामार्द्रादिने स्नाति श्रद्धया मानवो द्विजाः । तस्य संसारविच्छित्तिः सिद्धा नात्र विचारणा ॥ ५४ ॥
श्रीमद्व्याघ्रपुरे रम्ये महालक्ष्म्या निषेविते । शिवगङ्गेति विख्यातं तटाकं तीर्थमुत्तमम् ॥ ५५ ॥
तस्य दक्षिणतीरे श्रीशंकरः शशिशेखरः । प्रनृत्यति परानन्दमनुभूयानुभूय च ॥ ५६ ॥
यस्मिन्ब्रह्मादयो देवा मुनयश्च दिने दिने । स्नानं कृत्वा प्रनृत्यन्तं भवानीसहितं शिवम् ॥ ५७ ॥
प्रणमन्ति महाभक्त्या भवरोगनिवृत्तये । यस्मिन्साक्षान्महादेवो भवानीसहितो हरः ॥ ५८ ॥
ब्रह्मविष्ण्वादिभिः सार्धं मघर्क्षे माघमासि च । स्नानं करोति रक्षार्थं प्राणिनामीश्वरेश्वरः ॥ ५९ ॥

[१]अप्सरैरप्सरोभिश्च न कादाचित्कत्वं संकीर्णत्वं किंतु नियतवासोऽपि तासामियं पुरीत्यर्थः ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

ली। अतः जो व्यक्ति रविवार को उस नदी में स्नानकर दान करता है वह अवश्य मुक्त हो जाता है ॥ ३८–४५ ॥

महादेव द्वारा निर्मित मणिमुक्ता नाम की नदी उत्तम तीर्थ है। विष्णु, रुद्र, ब्रह्मा आदि देवताओं ने सूर्य के धनुराशि में स्थित होने पर आर्द्रा नक्षत्र के समय उस नदी में स्नानकर तथा धनदान कर श्रीवृद्धाचलेश्वर को दण्डवत् प्रणाम किया और प्रार्थना की कि सदाचारी या दुराचारी, मूर्ख या पण्डित, ब्राह्मण, शूद्र, चाण्डाल या अन्य भी कोई व्यक्ति उस दिन (अर्थात् धनुराशि में सूर्य के रहते आर्द्रानक्षत्र युक्त काल में) उस नदी में नहाकर श्रद्धापूर्वक किसी शिवयोगी को यथासामर्थ्य धन, धान्य या वस्त्र देकर, वृद्धाचलेश्वर के निमित्त व्रत रखे और प्रातःकाल ही वृद्धाचलेश्वर को प्रणामकरे तो भगवान् उसे परम गति प्रदान करें। भगवान् ने उनकी भी प्रार्थना मान ली। आर्द्रानक्षत्र के दिन जो व्यक्ति उसमें स्नान करता है उसका संसरण कष्ट अवश्य समाप्त होता है ॥ ४६–५४ ॥

महालक्ष्मी द्वारा सेवित व्याघ्रपुर में शिवगंगा नामक तालाब है जो एक श्रेष्ठ तीर्थ है। उसके दाहिने तट पर परमानन्द का अनुभव करते-कराते हुए नृत्य करते हैं। ब्रह्मादि देवता नित्य उस तीर्थ में स्नानकर भवानी सहित शिव को वहाँ प्रणाम करते हैं। प्राणियों की रक्षा के लिये भगवान् शंकर भवानी व अन्य देवताओं सहित मघनक्षत्र के समय माघमास में उसमें स्नान करते हैं। जो मनुष्य उसमें स्नानकर धनदान करता है वह ब्रह्मप्राप्ति करता है ॥ ५५–६० ॥

---

१. असुरैः सुरैरप्सरोभिश्चेत्यपेक्षितमिति प्रतिभाति ।

तस्मिन्भक्त्या नरः स्नात्वा ददाति धनमादरात् । स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माप्येति द्विजोत्तमाः ॥ ६० ॥
गुह्यतीर्थमिति ख्यातं समुद्रे वेदवित्तमाः । श्रीमद्व्याघ्रपुरस्यास्य प्रागुदीच्यां दिशि स्थितम् ॥ ६१ ॥
एकयोजनविस्तीर्णमेकयोजनमायतम् । समुद्रतीरमारभ्य ब्रह्मणा विष्णुना तथा ॥ ६२ ॥
रुद्रेणाशेषदेवाद्यैर्मुनिभिश्च निषेवितम् । पुरा वेदविदां मुख्या वरुणो जलनायकः ॥ ६३ ॥
प्रमादाद्ब्राह्मणं हत्वा तत्पापविनिवृत्तये । व्याघ्रपादवचः श्रुत्वा त्वरया परया सह ॥ ६४ ॥
गुह्यतीर्थमिदं गत्वा मघर्क्षे माघमासि च । तत्र स्नात्वा महाभक्त्या वरुणो दग्धकल्मषः ॥ ६५ ॥
एतस्मिन्नन्तरे श्रीमान्नीलकण्ठोऽम्बिकापतिः । प्रसादमकरोत्तस्य वरुणस्य कृपाबलात् ॥ ६६ ॥
वरुणोऽपि महादेवं वाञ्छितार्थप्रदायिनम् । प्रार्थयामास धर्मात्मा लोकानां हितकाम्यया ॥ ६७ ॥
वरुण उवाच—भगवन्देव मत्पूजां मघर्क्षे माघमासि च । कृत्वा यः श्रद्धयैवास्मिंस्तीर्थे स्नात्वा ददाति च ॥ ६८॥
तस्य मुक्तिं प्रयच्छाऽऽशु ब्राह्मणस्यान्त्यजस्य वा ।
सूत उवाच—देवदेवो महादेवो वाङ्मनोऽगोचरो हरः ॥ ६९ ॥
तथैवास्त्विति विप्रेन्द्राः प्राह गम्भीरया गिरा । अत्र पर्वणि यः स्नात्वा ददाति धनमादरात् ॥ ७० ॥
समस्तपापनिर्मुक्तः[1] स याति परमां गतिम् । बहवोऽत्र मुनिश्रेष्ठाः स्नात्वा पर्वणि पर्वणि ॥ ७१ ॥
विहाय सर्वपापानि विमुक्ता भवबन्धनात् । ब्रह्मतीर्थमिति ख्यातं तटाकं ब्रह्मणा कृतम् ॥ ७२ ॥
श्रीमद्ब्रह्मपुराख्यस्य मध्यमे सुप्रतिष्ठितम् । [2]रोमशो भगवान्यस्मिंस्तटाके वेदवित्तमाः ॥ ७३ ॥
स्नात्वा नित्यं महाभक्त्या ततापं सुम[3]हत्तपः । यस्मिन्ब्रह्मा द्विजाः स्नात्वा कल्पादौ परमेश्वरम् ॥ ७४ ॥
पूजयामास लोकानां सृष्टिस्थित्यर्थमादरात् । तत्र स्नात्वाऽर्कवारे च ग्रहणे चैव पर्वणि ॥ ७५ ॥

स सर्वसमतामेत्येति । समत्वलाभो हि महत्तरं फलम्। तथा च गीतासु—'सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु । साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते' इति ॥ ६०–६८ ॥ वाङ्मनोऽगोचरो वाङ्मनसयोरगोचरः ॥ ६९–९३ ॥

व्याघ्रपुर से पूर्वोत्तर दिशा में समुद्र में गुह्यतीर्थ प्रसिद्ध है । समुद्रतट से लेकर यह तीर्थ एक योजन विस्तार वाला है । ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र व अन्य सभी देवताओं द्वारा यह सेवित है । एक बार वरुण ने प्रमादवश ब्राह्मण हत्या कर दी थी । उस पाप को धोने के लिये व्याघ्रपाद से इस तीर्थ के विषय में सुनकर वरुण मघनक्षत्र के समय माघमास में इस गुह्यतीर्थ में स्नानकर पाप से निवृत्त हुए थे । उसी समय भगवान् ने कृपाकर उन्हें दर्शन दिया । सब लोगों का हित चाहकर वरुण ने उनसे प्रार्थना की—वरुण बोले—'हे भगवन् ! हे देव ! जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक मघनक्षत्र के समय माघमास में मेरी पूजाकर इस तीर्थ में स्नान कर दान देवे उसे—चाहे वह ब्राह्मण हो, चाहे अन्त्यज—आप शीघ्र मोक्ष प्रदान करें ।' सूतजी बोले—वाणी व मन से जिनकी करुणा बतायी व समझी नहीं जा सकती उन महादेव ने वरुण की प्रार्थना स्वीकार कर ली । जो व्यक्ति पर्वदिनों में यहाँ श्रद्धा से स्नानकर सत्कारपूर्वक धनदान करता है वह सभी दोषों से छूटकर सद्गति प्राप्त करता है । कई लोग यों उत्तम गति पा चुके हैं ॥ ६१–७१½ ॥

ब्रह्मा द्वारा निर्मित ब्रह्मतीर्थ नामक तालाब (पुष्करराज) भी उत्तम तीर्थ है । यह ब्रह्मपुर नाम स्थान में स्थित है । रोमश ने इसमें स्नानकर महान् तप किया था । कल्पप्रारंभ में ब्रह्माजी ने भी इसमें स्नान कर परमेश्वर का पूजन किया था । रविवार, ग्रहण तथा पर्व के दिनों में इसमें स्नानकर धनदान करने से परमेश्वरप्राप्ति होती है ॥ ७२–७५½ ॥

१. समस्तसर्वादिशब्दा आधिक्यबोधकाः । २ ख. लोमशो । ३. ङ. °महातपाः ।

यो ददाति धनं भक्त्या स याति परमेश्वरम् । सूर्यपुष्करिणी नाम तीर्थमत्यन्तशोभनम् ॥ ७६ ॥
श्रीमद्ब्रह्मपुराल्यस्य पश्चिमस्यां दिशि स्थितम् । यत्र स्नात्वाऽर्कवारे च ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः ॥ ७७ ॥
विषुवायनकालेषु पर्वण्यार्द्रादिने तथा । पूषा दक्षाध्वरध्वस्तदन्ताँल्लब्ध्वा प्रियं गतः ॥ ७८ ॥
पुरा रावणपुत्रस्तु विजित्य सकलं जगत् । इन्द्रजिद्रथमारुह्य प्रमत्तः पण्डितोत्तमाः ॥ ७९ ॥
गच्छन्नत्यन्तवेगेन व्योम्नि लङ्कां प्रति द्विजाः । तीर्थस्यास्य रथस्तीरे दक्षिणे सुस्थितोऽभवत् ॥ ८० ॥
सोऽपि तत्प्रेक्ष्य विप्रेन्द्रा विचार्य सुचिरं सुधीः । पूजयामास तत्रैव श्रद्धया परमेश्वरम् ॥ ८१ ॥
देवदेवो महादेवो राक्षसानां महाधनम् । तत्रैवाऽऽस्ते स्वयं प्रीत्या भवानीसहितो हरः ॥ ८२ ॥
इन्द्रजित्पुनरादातुं न शशाक तमीश्वरम् । स पुनः सुचिरं कालं विचार्य परमेश्वरम् ॥ ८३ ॥
प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा समारुह्य रथोत्तमम् । विवर्णो विवशोऽतीव द्विजा लङ्कापुरीं गतः ॥ ८४ ॥
अस्मिन्पर्वणि यः स्नात्वा भोजयेद्ब्राह्मणं मुदा । सर्वपापविनिर्मुक्तः शिवलोकं स गच्छति ॥ ८५ ॥
यः स्नाति वेदविच्छ्रेष्ठाः कावेर्युदधिसंगमे । सर्वाणि तस्य पापानि विनश्यन्ति न संशयः ॥ ८६ ॥
श्वेतारण्ये तथा कुम्भकोणे मध्यार्जुने द्विजाः । आम्रतीर्थे हृदि स्थाने तथा मङ्गलवंशके ॥ ८७ ॥
त्रिकोटिहाख्ये कावेरी वरिष्ठा सर्वकामदा । एषु स्थानेषु कावेर्यां स्नात्वा पर्वणि यः पुमान् ॥ ८८ ॥
अर्कवारे तथा विप्राः प्रणम्य परमेश्वरम् । ददाति धनमन्यद्वा महापापात्प्रमुच्यते ॥ ८९ ॥
पापिष्ठो वा वरिष्ठो वा यः पुमान्मरणं गतः । एषु स्थानेषु विप्रेन्द्राः स मुक्तो नात्र संशयः ॥
बहवो मरणान्मुक्ता एषु स्थानेषु सप्तसु ॥ ९० ॥

ब्रह्मपुर के ही पश्चिम में सूर्यपुष्करिणी नाम का तीर्थ है । रविवार को, चन्द्र व सूर्य के ग्रहणों पर, विषुव के दिनों पर, अयनारंभक संक्रान्तियों पर, पर्वों पर तथा आर्द्रानक्षत्र वाले दिन पूषा देवता ने इसमें स्नानकर दक्षयज्ञ के ध्वंस के समय नष्ट अपने दाँत पुनः पा लिये थे । प्राचीन काल में रावण का पुत्र इंद्रजित् सारे जगत् पर विजयकर आकाशमार्ग से लंका जा रहा था । वह इस तीर्थ के दक्षिण तट पर रुका । उसने वहाँ श्रद्धा से भगवान् शंकर का पूजन किया । देवी समेत शंकर जी वहीं विराजते हैं । इंद्रजित् उन्हें वहाँ से ले जाने में समर्थ नहीं हुआ । उनकी तीन बार परिक्रमा कर वह लंका को चला गया । जो व्यक्ति इस तीर्थ में पर्वकाल में स्नानकर प्रसन्नता से ब्राह्मण को भोजन कराता है वह सब पापों से छूटकर शिवलोक को जाता है ॥ ७६–८५ ॥

जो व्यक्ति कावेरी और समुद्र के संगम पर स्नान करता है उसके सारे पाप धुल जाते हैं इसमें संदेह नहीं ॥ ८६ ॥

श्वेतारण्य, कुम्भकोण, मध्यार्जुन, आम्रतीर्थ, हृदयस्थान, मंगलवंशक व त्रिकोटिह नामक स्थलों पर कावेरी सर्वोत्तम है व सर्वकामप्रदायिका है । जो पुरुष पर्व के दिनों पर तथा रविवार को इन स्थानों पर कावेरी में स्नानकर, परमेश्वर को प्रणामकर धन या अन्य वस्तुएँ दान करता है वह महापाप से भी छूट जाता है । चाहे अत्यधिक पापी हो, चाहे साधना बिना किये ही बुड्ढा हो गया हो, इन सात स्थानों पर यदि मर जाता है तो अवश्य मुक्त होता है । बहुत लोग यहाँ मरकर मुक्त हुए हैं ॥ ८७–९० ॥

क्षीरकुण्डमिति ख्यातं भवरोगस्य भेषजम् । सर्वतीर्थोत्तमं पुण्यं सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ९१ ॥
सर्वकामप्रदं दिव्यं श्रीमद्वल्मीकमध्यगम् । उत्तरे फाल्गुने मासि ब्रह्मणा विष्णुना तथा ॥ ९२ ॥
शंकरेण तथा देवैर्मुनिभिः सर्वजन्तुभिः । सेवितं सोमसूर्याभ्यां स्वर्गाद्वल्मीकमागतम् ॥ ९३ ॥
यः स्नाति फाल्गुने मासि श्रद्धयैवोत्तरे दिने । तस्य सर्वाणि पापानि विनश्यन्ति द्विजोत्तमाः ॥ ९४ ॥
यः स्नात्वा[1]ऽत्र व्यतीपाते ददाति धनमादरात् । तस्य मुक्तिरयत्नेन सिध्यत्येव न संशयः ॥ ९५ ॥
देवतीर्थमिति ख्यातं क्षीरकुण्डस्य पश्चिमे । देवराजः पुरा यत्र स्नात्वा पर्वणि पर्वणि ॥ ९६ ॥
वत्सरान्ते महादेवं वल्मीकावासमादरात् । प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा प्रणम्य भुवि दण्डवत् ॥ ९७ ॥
विसृज्य देवराजत्वं विमुक्तः कर्मबन्धनात् । यत्र स्नात्वोत्तरे मर्त्यः श्रद्धया मासि फाल्गुने ॥ ९८ ॥
प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा वल्मीकावासमीश्वरम् । ददाति धनमल्पं वा मुच्यते भवबन्धनात् ॥ ९९ ॥
अर्कवारे च तथाऽऽर्द्रायां कृष्णाष्टम्यां विशेषतः । यः स्नाति देवतीर्थेऽस्मिन्स याति परमां गतिम् ॥ १०० ॥
सेतुमध्ये महातीर्थं गन्धमादनपर्वतम् । यत्र स्नात्वा महाभक्त्या राघवः सह सीतया ॥ १०१ ॥
लक्ष्मणेन तथैवान्यैः सुग्रीवप्रमुखैर्वरैः । मुनिभिर्देवगन्धर्वैर्यक्षविद्याधरादिभिः ॥ १०२ ॥
राक्षसेशवधोत्पन्नां ब्रह्महत्यां विहाय सः । प्रतिष्ठाप्य महादेवं श्रीमद्रामेश्वराभिधम् ॥ १०३ ॥
विदित्वा तीर्थमाहात्म्यं दत्तवान्धनमुत्तमम् । यत्र स्नात्वा व्यतीपाते ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः ॥ १०४ ॥
अर्कवारे भृगोर्वारे पर्वण्यार्द्रादिने तथा । विषुवायनकालेषु षडशीतिमुखे तथा ॥ १०५ ॥
अर्धोदयेऽथवा विप्राः सुमुहूर्तेषु चाऽऽस्तिकाः । यथाशक्ति धनं दत्त्वा दृष्ट्वा रामेश्वरं शिवम् ॥ १०६ ॥

उत्तरे दिन इति । विशाखे सूर्यवारे चेतिवद्व्याख्येयम् ॥ ९४ ॥ ९५ ॥ ९६ ॥ ९७ ॥ ९८ ॥ ९९ ॥ १०० ॥ १०२ ॥ ॥ १०३ ॥ १०४ ॥

श्रीवल्मीक नामक स्थान में क्षीरकुण्ड नामक उत्तम तीर्थ है जिसे भवरोग की दवा समझना चाहिये । सब पापों का नाशक व सब कामनाओं का साधक वह तीर्थ है । ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, देवता, मुनि व अन्य सब जन्तुओं द्वारा स्वर्ग से वल्मीक में आये हुए और सूर्य व चंद्र द्वारा सेवित इस तीर्थका फाल्गुन मास में उत्तरनक्षत्र युक्त दिन को सेवन किया जाता है । व्यतीपात योग होने पर जो इसमें स्नान कर धन का दान करता है उसे अनायास मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥ ९१—९५ ॥

क्षीरकुण्ड से पश्चिम में देवतीर्थ है । पूर्वकाल में इन्द्र ने एक वर्ष तक यहाँ प्रतिपर्व स्नान किया तथा साल की समाप्ति पर वल्मीक स्थान पर स्थित महादेव की प्रणाम कर तीन परिक्रमायें कर इन्द्रपद छोड़ मोक्ष पाया । जो व्यक्ति फाल्गुन मास में उत्तरनक्षत्रयुक्त दिन को देवतीर्थ में स्नानकर वल्मीकावास परमेश्वर की तीन परिक्रमायें कर थोड़े भी धन का दान करता है वह भवबन्धन से छूट जाता है । रविवार, आर्द्रा नक्षत्र के रहते और विशेषतः कृष्णाष्टमी को जो इस देवतीर्थ में स्नान करता है वह उत्तम गति पाता है ॥ ९६—१०० ॥

सेतु नामक शैलशृंखला के बीच गंधमादनपर्वत एक महान् तीर्थ है । राक्षसराज रावण को मारने से लगी ब्रह्महत्या से छूटने के लिये श्रीराम ने सीत, लक्ष्मण व मुनि आदि सहित परम भक्तिपूर्वक यहाँ स्नान किया था और रामेश्वर नाम से महादेव

---

१. ङ. °स्नात्वा तु व्य° ।

लौकिकैर्वैदिकैः स्तोत्रैः स्तुत्वा वेदार्थपारगाः । प्रदक्षिणत्रयं भक्त्या यः करोति द्विजोत्तमाः ॥ १०७ ॥

ब्रह्महत्यादिभिः पापैर्महद्भिः स विमुच्यते । कृतघ्नाश्च विमुच्यन्ते यत्र मरणं गताः ॥ १०८ ॥

स्नात्वाऽत्रैव महाभक्त्या मासमात्रं दिने दिने । दृष्ट्वा रामेश्वरं [1]दत्त्वा सुवर्णं निष्कमादरात् ॥ १०९ ॥

उपोष्य रजनीमेकां मासान्ते पर्वणि द्विजाः । ब्रह्महत्यासुरापानस्वर्णस्तेयादिपातकैः ॥ ११० ॥

बुद्धिपूर्वकृतैर्मर्त्यो मुच्यते नात्र संशयः । कृतार्थाः स्नानमात्रेण बहवोऽत्राभवन्द्विजाः ॥ १११ ॥

सूत उवाच—

एतानि तीर्थानि पुरोदितानि वेदेषु शास्त्रेषु शिवागमेषु ।
दृष्ट्वा भवानीपतिरम्बिकायाः प्रोवाच कारुण्यबलेन देवः ॥ ११२ ॥

देवी पुनः प्राह गुहस्य शंकरी गुहो विरिञ्चाय चतुर्मुखस्ततः ।
गुरोर्ममाशेषजगत्प्रसिद्धये गुरुर्ममापारकृपामहोदधिः ॥ ११३ ॥

युष्माकं परमकृपाबलेन विप्रा अस्माभिः कथितमिदं जगद्धिताय ।
शिष्याणां सततमिदं मुदा भवद्भिर्वक्तव्यं परमशिवप्रसादसिद्ध्यै ॥ ११४ ॥

य इदं तीर्थमाहात्म्यं पठते सुमुहूर्तके । सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ॥ ११५ ॥

य इदं शृणुयान्नित्यं सुमुहूर्तेषु वा पुनः । सर्वपापविनिर्मुक्तः शिवलोके महीयते ॥ ११६ ॥

तीर्थेषु श्राद्धकाले वा य इदं श्रावयेन्मुदा । दारिद्र्यं सकलं त्यक्त्वा स महाधनवान्भवेत् ॥ ११७ ॥

की स्थापना की थी । उस तीर्थ के माहात्म्य को जानकर उन्होंने उत्तम धन का दान भी किया था । व्यतीपात योग होने पर, चंद्र या सूर्य के ग्रहण होने पर, रविवार को, बृहस्पतिवार को, पर्व के दिनों में, आर्द्रा नक्षत्र वाले दिन, विषुव के दिनों में, अयनारंभक संक्रान्तियों पर, मिथुन कन्या धन और मीन राशियों में सूर्यसंक्रान्ति होने पर, अष्टमी को अथवा अन्य शुभ मुहूर्तों पर वहाँ स्नानकर, यथाशक्ति धनदान कर, रामेश्वर का दर्शन और लौकिक व वैदिक स्तोत्रों से उनकी स्तुतिकर जो व्यक्ति भक्तिपूर्वक उनकी तीन परिक्रमायें करता है वह ब्रह्महत्या आदि महापापों से छूट जाता है । वहाँ मरने से कृतघ्न लोग भी मुक्त हो जाते हैं । एक महीना प्रतिदिन इस तीर्थ में स्नानकर, रामेश्वर का दर्शनकर, स्वर्ण निष्क (सोलह माशे के तोल के सोने के बराबर की स्वर्ण मुद्रा) का दानकर और मासान्त के पर्व पर एक अहोरात्र का व्रत रखने से जान बूझकर किये भी ब्रह्महत्या, सुरापान, स्वर्णकी चोरी आदि महापापों से छुटकारा मिल जाता है । यहाँ अनेक भक्त स्नान करने से ही कृतार्थ हुए हैं ॥ १०१–१११ ॥

---

१. ख. नत्वा ।

यः शृण्वन्देवतापूजां करोतीदं मुदा नरः । तस्य ब्रह्मा हरिश्चापि प्रसीदति महेश्वरः ॥ ११८ ॥

भगवान्देवकीसूनुः सर्वभूतहिते रतः । महादेवप्रसादार्थमिदं पठति नित्यशः ॥ ११९ ॥

तस्माद्भवद्भिर्मुनयः श्रद्धया परया सह । पठितव्यमिदं नित्यं प्रसादार्थं त्रिशूलिनः ॥ १२० ॥

एवमुक्त्वा मुनीन्द्रेभ्यः सूतः सर्वार्थवित्तमः । अतीव प्रीतिमापन्नः सोमं सोमार्धशेखरम् ॥ १२१ ॥

सर्वज्ञं सर्वकर्तारं संसारामयभेषजम् । सुरासुरमुनीन्द्रैश्च प्रणताङ्घ्रिसरोरुहम् ॥ १२२ ॥

ध्यात्वा हृत्पङ्कजे भक्त्या प्रसन्नेन्द्रियमानसः । प्रणम्य दण्डवद्भूमौ महादेवं जगद्गुरुम् ॥ १२३ ॥

वेदव्यासं च संसारसमुद्रतरणप्लवम् । विहाय मुनिशार्दूलान्कैलासमचलं गतः ॥ १२४ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे शिवमाहात्म्यखण्डे तीर्थमाहात्म्यकथनं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

षडशीतिमुख इति । मिथुनकन्याधनमीनराशिषु रविसंक्रमे ॥ १०५ ॥ १०६ ॥ १०७ ॥ १०८ ॥ १०९ ॥ ११० ॥ ॥ १११ ॥ ११२ ॥ ११३ ॥ ११४ ॥ ११५ ॥ ११६ ॥ ११७ ॥ ११८ ॥ ११९ ॥ १२० ॥ १२१ ॥ १२२ ॥ १२३ ॥ ॥ १२४ ॥

इति श्रीमत्काशीविलासश्रीक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवापरायणेनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन माधवाचार्येण विरचितायां श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां शिवमाहात्म्यखण्डे तीर्थमाहात्म्यकथनं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

समाप्तमिदं शिवमाहात्म्यखण्डम् ।

सूतजी ने तीर्थमाहात्म्य का वर्णन यह कहते हुए समाप्त किया–पूर्व में वेद, शास्त्र व शिवागमों में बताये इन तीर्थों को उन ग्रंथों में देखकर भगवान् ने देवी को बताया । देवी ने कार्तिकेय को, उन्होंने ब्रह्मा को, ब्रह्मा ने मेरे गुरु व्यासदेव को तथा कृपा के अथाह सागर मेरे गुरु ने मुझे ये तीर्थ बताये हैं ॥ ११२–११३ ॥ परमेश्वर की कृपा से प्राप्त बल के सहारे मैंने इन्हें आप लोगों को बताया है, आप लोग भी अपने शिष्यों को इनका ज्ञान कराइये जिससे वे इनका सेवन कर शिवप्रसाद पावें ॥ ११४ ॥ जो इस तीर्थमाहात्म्यद्योतक अध्याय का शुभ मुहूर्त में अध्ययन करता है वह सब पापों से मुक्त हो उत्तम गति प्राप्त करता है ॥ ११५ ॥ जो इसका उत्तम मुहूर्त में श्रवण कर लेता है वह भी निष्पाप हो शिवलोक में प्रतिष्ठा पाता है ॥ ११६ ॥ तीर्थों में या श्राद्ध के समय जो इसे प्रसन्नतापूर्वक सुनाता है उसका दारिद्र्य निवृत्त हो वह अत्यधिक धनी हो जाता है ॥ ११७ ॥ जो इसे सुन देवता पूजन करता है उसपर ब्रह्मा विष्णु महेश प्रसन्न हो जाते हैं ॥ ११८ ॥ देवकीपुत्र श्रीकृष्ण शिवप्रीत्यर्थ इसका नित्य पाठ करते हैं ॥ ११९ ॥ अतः हे मुनियो ! आप लोगों को भी शिवप्रसन्नता के लिये इसे रोज़ पढ़ना चाहिये ॥ १२०॥

यों मुनीन्द्रों को समझाकर सर्वज्ञ सूतजी अत्यन्त सन्तुष्ट हुए । सर्वदेव-नमस्कृत, चन्द्रभूषण भगवान् उमेश का हृदय में ध्यान और उन्हें दण्डवत् प्रणामकर तथा संसारार्णव से तारने वाले निजगुरु व्यास का ध्यान व उन्हें प्रणामकर सूतजी मुनियों को छोड़ कैलास पर्वत की ओर चले गये ॥ १२१–१२४ ॥

द्वितीयं ज्ञानयोगखण्डम्

प्रथमः अध्याय

कैलासशिखरे रम्ये नानारत्नसमाकुले । नानापुष्पसमाकीर्णे नानामूलफलोदके ॥ १ ॥
नानावल्लीसमाकीर्णे नानामृगसमाकुले । नानावृक्षसमाकीर्णे नानायोगिसमावृते ॥ २ ॥
नानासिद्धसमाकीर्णे नानामुनिसमावृते । नानादेवसमाकीर्णे नानाचारणसेविते ॥ ३ ॥
नाना[1]यक्षसमाकीर्णे नानागन्धर्वसेविते । सुखासीनं सुप्रसन्नं [2]सुनेत्रं सुस्मितं शुचिम् ॥ ४ ॥
स्वतेजसा जगत्सर्वं भासयन्तं भयापहम् । सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञं वेदवेदा[3]ङ्गपारगम् ॥ ५ ॥
भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गं त्रिपुण्ड्राङ्कितमस्तकम् । रुद्राक्षमालाभरणं जटामण्डलमण्डितम् ॥ ६ ॥
जितेन्द्रियं जितक्रोधं जीवन्मुक्तं जगद्गुरुम् । व्यासप्रसादसंपन्नं व्यासवद्विगतस्पृहम् ॥ ७ ॥
वेदमार्गे सदा निष्ठं वेदमार्गप्रवर्तकम् । ऋजुकायशिरोग्रीवं नासा[4]ग्रन्यस्तलोचनम् ॥ ८ ॥
स्वयं स्वमेव ध्यायन्तं सूतं बुद्धिमतां वरम् । विष्णुवृद्धो विशालाक्षो [5]वत्सः कुण्डिन आरुणिः ॥ ९ ॥
जाबालो जमदग्निश्च जर्जरो जङ्गमो जयः । पक्वः पाशधरः पारः पारगः पण्डितोत्तमः ॥ १० ॥
महाकायो महाग्रीवो महाबाहुर्महोदरः । उद्दालको महासेन आर्त आमलकप्रियः ॥ ११ ॥
एकपादो द्विपादश्च त्रिपादः पद्मनायकः । उग्रवीर्यो महावीर्य उत्तमोऽनुत्तमः पटुः ॥ १२ ॥
पण्डितः करुणः कालः कैवल्यश्च कलाधरः । कल्पान्तः कङ्कणः कण्वः कालः कालाग्निरुद्रकः ॥ १३ ॥
श्वेतबाहुर्महाप्राज्ञः श्वेताश्वतरसंज्ञकः । एषां शिष्याः प्रशिष्याश्च पाशविच्छेदने रताः ॥ १४ ॥
विचार्यमाणा वेदार्थं विषण्णा विवशा भृशम् । समागम्य समाधिस्थं दण्डवत्प्रणिपत्य च ॥ १५ ॥

ज्ञातव्यं वस्तु प्रथमखण्डेनोपदिश्य ज्ञानोपायं वक्तुं द्वितीयखण्डमार[6]भते–कैलासेत्यादिना । कैलासेत्यारभ्य मुनय उचुरि[7]त्येतदन्तं व्यासवाक्यम् ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥

द्वितीय– ज्ञानयोगखण्ड

ज्ञानयोग-परम्परा-कथन नामक प्रथम अध्याय

रमणीय, अनेक रत्नों से सज्जित, विभिन्न सुमनों से सुगंधित, पर्याप्त मूल फल व जल से भरपूर, विभिन्न लताओं से आच्छादित, कई प्रकार के पशुओं से संचरित, असंख्य प्रजातियों के वृक्षों वाले, नाना योगी, सिद्ध, मुनि, देव, चारण, यक्ष तथा गन्धर्वों से सेवित कैलास-शिखर पर सुख से बैठे सुप्रसन्न, आभापूर्ण, सर्वज्ञ, जटिल, भस्म-रुद्राक्ष से विभूषित जीवन्मुक्त, जगद्गुरु, निरीह, व्यास के कृपापात्र, बुद्धिमानों में श्रेष्ठ, स्वयं अपना ध्यान करते हुए श्री सूतजी से विष्णुवृद्ध, वत्स, आरुणि, श्वेताश्वतर जाबाल, जमदग्नि, उद्दालक आदि मुनियों व उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने–जो कि सभी पाशों को काटने के लिये साधनारत थे–प्रणाम तथा स्तुतिकर निवेदन किया ॥ १–१५½ ॥

---

१. घ. °नापक्षिस° । २. ङ. त्रिनेत्रं । ३. क. ख. °दान्तपा° । ४. क. घ. °साग्रे न्य° । ५. ग. ङ. वत्सकु° । ६. ग. घ. °रभ्यते । ७. ख. °रित्यन्तं ।

स्तोत्रैः स्तुत्वा महात्मानं पप्रच्छुः पण्डितोत्तमाः ।

मुनय ऊचुः--भवता कथितं सर्वं संक्षेपाद्विस्तरेण च ॥ १६ ॥

इदानीं श्रोतुमिच्छमो ज्ञानयोगं सहेतुकम् । साक्षाद्विष्णोर्जगन्नाथात्कृष्णद्वैपायनाद्गुरोः ॥ १७ ॥

अवा[1]प्तज्ञानयोगस्त्वं न वेत्ता त्वामृते भुवि । तस्मात्कारुण्यतोऽस्माकं संक्षेपाद्वक्तुमर्हसि ॥ १८ ॥

इति पृष्टो मुनिश्रेष्ठैः सूतः पौराणिकः प्रभुः । साक्षात्सर्वेश्वरं साम्बं संसारा[2]मयभेषजम् ॥ १९ ॥

सर्वज्ञं सर्वगं श[3]र्वं सर्वभूतहिते रतम् । व्याघ्रचर्माम्बरधरं व्याख्यानैकरतं विभुम् ॥ २० ॥

चतुर्भुजं शरच्चन्द्रचन्द्रिकाधवलाकृतिम् । गङ्गाधरं विरूपाक्षं चन्द्रमौलिं जटाधरम् ॥ २१ ॥

नीलग्रीवं चिरं स्मृत्वा व्यासमप्यमितौजसम् । प्रहृष्टः परया भक्त्या परिपूर्णमनोरथः ॥ २२ ॥

लौकिकैर्वैदिकैः स्तोत्रैः स्तुत्वा सम्यक्समाहितः । वक्तुमारभते सर्वं प्रणिपत्य महेश्वरम् ॥ २३ ॥

सूत उवाच--शृणुध्वं मुनयः सर्वे भाग्यवन्तः समाहिताः । एतदेव पुराऽपृच्छद् गिरां नाथो महेश्वरम् ॥ २४ ॥

देवोऽपि देवी[4]मालोक्य करुणाविष्टचेतसा । प्राह गम्भीरया वाचा गुरवे मुनिपुंगवाः ॥ २५ ॥

देव्या अङ्के समासीनः स्कन्दोऽपि श्रुतवांस्तदा । स्कन्दाद्वसिष्ठः संप्राप्तः पूर्वजन्मतपोबलात् ॥ २६ ॥

संक्षेपविस्तराभ्यामुपदिष्टस्यापि तत्त्वस्यानादिभवपरम्परोपात्तदुरितोपहतचित्तैर्दुरधिगमत्वाद्दुरितप्रक्षयद्वारा तेषामपि तदधिगमे क उपाय इति मुनयो जिज्ञासन्ते-**भवता कथितमिति** । योग उपायः । सोपायं ज्ञानसाधनं शुश्रूषामह इत्यर्थः ॥ १६–२३ ॥

गिरां नाथो बृहस्पतिः । सकललोकहितायावश्यप्रष्टव्यमर्थमसौ बृहस्पतिः पृच्छति ॥ २४ ॥

आलोक्येति । देव्या ब्रह्मविद्याऽधिदेवतात्वात् तत्करुणावीक्षां विना ब्रह्मज्ञानानुदयान् तदभ्यनुज्ञापनमावश्यकमिति देव्यालोकनाभिप्रायः ॥ २५ ॥

मुनि बोले–हे सूत जी ! आपने सारा विषय संक्षेप व विस्तार से (बहुधा) बताया है (किन्तु कठिन बात बार-बार सुनने से ही समझ आती और जँचती है अतः) अब हम उपाय सहित ज्ञानसाधन के विषय में सुनना चाहते हैं ॥ १५–१६½ ॥ स्वयं व्यासरूप विष्णु से आपने विद्या पायी है अतः आपसे अन्य संसार में कौन जानकार होगा ? इसलिये कृपाकर आप ही हमें संक्षेप में यह विषय समझाइये ॥ १७–१८ ॥

यह सुनकर पौराणिक सूतजी ने साक्षात् परमेश्वर, संसाररोग की औषधि, सर्वज्ञ, व्यापक, पाशनाशक, सबका हित करते रहने वाले, बाघाम्बर धारी, सदा व्याख्यान करने वाले, परम महान्, शरत्कालीन चन्द्रज्योत्स्ना सी धवल आकृति वाले, गंगाधर, त्रिनेत्र, सोमार्धशेखर, जटिल, नीलकण्ठ, चतुर्भुज, पार्वती-परमशिव को कुछ समय स्मरणकर तथा अपरिच्छिन्न तेज वाले व्यासजी को स्मरणकर, निष्काम होने से प्रसन्नतापूर्वक परमभक्ति से लौकिक व वैदिक स्तोत्रों से शिवस्तुति व गुरुस्तवनकर एकाग्र हो पुनः महेश्वर को प्रणामकर कहना प्रारंभ किया ॥ १९–२३ ॥

सूतजी बोले–हे सौभाग्यशाली मुनियो ! आप लोग ध्यान से सुनिये । यही बात पहले बृहस्पति ने महादेव से पूछी थी ॥ २४ ॥ शिव ने भी करुणाकर देवी को देखते हुए बृहस्पति को उपदेश दिया था ॥ २५ ॥ भगवती की गोद में बैठे कार्तिकेय ने तब इसे सुन लिया था । उनसे वसिष्ठ ने यह ज्ञान पूर्व जन्म में किये तप के प्रभाव के कारण पाया ॥ २६ ॥

---

१. ख. °वाप्तो ज्ञा° । २. घ. °रभय° । ३. ङ. घ. सर्वं । ४. ग. °देवमा° ।

वसिष्ठाल्लब्धवाञ्शक्तिः शक्तेः प्राप्तः पराशरः । पराशरान्मुनि[1]श्रेष्ठो भगवान्व्याससंज्ञितः ॥ २७ ॥

तदहं श्रुतवान्व्यासाज्जन्मान्तरतपोबलात् । वक्ष्ये वेदविदामद्य युष्माकं तद्यथाश्रुतम् ॥ २८ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे ज्ञानयोगसंप्रदायपरम्पराकथनं नाम प्रथमोध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

ईश्वर उवाच—अवाच्यमेतद्विज्ञानमतिगुह्यमनुत्तमम् । आम्नायान्तैकसंसिद्धमशेषक्लेशनाशनम् ॥ १ ॥

अनन्तानन्दमोक्षाख्यब्रह्मप्राप्त्ये[2]कसाधनम् । आश्रमैरखिलैर्युक्तमष्टाङ्गैर[3]पि [4]संयुतम् ॥ २ ॥

वक्ष्यमाणोपाये समाश्वासजननाय शिवादिवक्तृपरम्परोपन्यासः ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

इति श्रीसूतसंहितादीकायां ज्ञानयोगखण्डे ज्ञानयोगसंप्रदायपरम्पराकथनं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

सोपायज्ञानयोगे श्रद्धावत एवाधिकारो नेतरस्य । उक्तं हि—'अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् । असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह' इति ॥ अतस्तत्र ज्ञाने श्रद्धातिशयजननाय स्वरूपतः फलतश्च तस्य निरतिशयमुत्कर्षमाह—**अवाच्यमित्यादिभिः** । अशेषक्लेशनिवर्हणत्वेन नित्यनिरतिशयानन्दप्रापकत्वेन चात्यन्तमुत्तमत्वादतिगुह्यमतिरहस्यमिदं ज्ञानं यत्र तत्रानधिकारिणि न वक्तव्यम् । न विद्यामूखरे वपेदित्यर्थः । तत्र च ज्ञाने त्रिविधा अधिकारिणः । विशुद्धसत्त्वाः समाहितचेतस उत्तमाः । तेषां वेदान्तश्रवणमात्रमेवोपायस्तदाह—**आम्नायान्तैकसंसिद्धमिति** । वक्ष्यति च सप्तमाध्यायावसाने—'सर्वदा सर्वमुत्सृज्य वेदान्तश्रवणं कुरु' इति ॥ १ ॥

ये तु विवेकवैराग्यसंपन्ना अपि रजोलेशानुवृत्त्या विक्षिप्तचेतसो मध्यमाधिकारिणः सहसैव चेतस एकाग्रत्वं न लभन्ते तेषामष्टाङ्गयोगो ज्ञानसाधनम् । [5]तच्च दशमाध्यायमारभ्य खण्डशेषेण वक्ष्यति । ये तु प्रबलतरदुरितप्रतिबद्धचित्ताऔत्सुक्यमात्रेण प्रवृत्ता अप्यप्रतिष्ठितजिज्ञासा अधमाधिकारिणस्तेषां जिज्ञासाप्रतिष्ठार्थं वर्णाश्रमध[6]र्माणां[7] कथंचिद्व्यतिक्रमे तन्निमित्तं पापं तस्य प्रायश्चित्तं तेन विशुद्धानां दानधर्मादिकं चोपायः । 'विविदिषन्ति यज्ञेन'—इत्यादिश्रुतेः । स चायमुपायो दशमादर्वाचीनेनाध्यायजातेनोपदिश्यत इति सकलोऽयं खण्डो ज्ञानोपायप्रतिपादकः ॥ २ ॥

वसिष्ठ से शक्ति ने, शक्ति से पराशर ने और पराशर से मनिपुंगव श्रीमान् व्यासदेव ने इसे प्राप्त किया ॥ २७ ॥ अन्य जन्म में किये तप के फलस्वरूप मैंने इस ज्ञान को व्यासजी से पाया है उसे जैसे मैंने सुना है वैसा आज आपको सुनाता हूँ ॥ २८ ॥

आत्माद्वारा की गयी सृष्टि का निरूपण नामक द्वितीय अध्याय

शिव ने (बृहस्पति से) कहा— केवल वेदान्तों से समधिगम्य तथा समस्त-क्लेश-विनाशक सर्वश्रेष्ठ यह विज्ञान अत्यन्त छिपाने योग्य है अतः अनधिकारी के लिये इसे प्रकाशित नहीं करना चाहिये ॥ १ ॥ (अनधिकारी इसे समझ तो सकेगा नहीं, गलत ही समझेगा और अपना विनाश करेगा तथा वैसा ही प्रचार कर अन्यों की भी हानि करेगा । पुस्तकादि पढ़ते हुए अपना अधिकार भी निर्धारित कर लेना चाहिये अन्यथा हम भी पतित हो सकते हैं । प्रत्येक ग्रंथ अपने अधिकारी का उल्लेख करता है । यदि हममें वे गुण हैं तब तो उस ग्रंथ के उपदेश अपनाने चाहिये । यदि नहीं हैं, तो या उसे पढ़ें नहीं और यदि कुतूहलवश पढ़ें तो न उसका अनुसरण करें व न उसे हमने समझ लिया ऐसा मानकर दूसरे को उसका उपदेश दें ।) यह विज्ञान ही अनन्त आनन्दरूप मोक्ष नामक परमात्मा की प्राप्ति का साधन है । समस्त आश्रमों के धर्म व योग के आठों अंग न्यूनाधिक व्यवधान से इस ज्ञान के लाभ के उपाय हैं ॥ २ ॥ हे वाचस्पति ! यह मैं तुम्हें बताऊँगा, अब ध्यान से सुनो—

---

१. घ. ङ. °श्रेष्ठाद्द्रग° । २. अन्ययोगव्यवच्छेदोऽत्रैकपदार्थः । न हि नाना ज्ञानं मोक्षोपायः शिष्टसंमत इत्यर्थः । ३. ङ. °रधिसं° । ४. ग. संयुतः ॥ २ ॥ ५. घ. तत्र । ६. क. घ. °धर्माः क° । ७. धर्माणामुपायत्वमिति शेषः । धर्मानुष्ठानस्यापि केनचित्प्रकारेण व्यतिक्रमे जाते तज्ज्ञानस्य कारणं न भवेदित्याह—कथंचिदिति । अतन्निमित्तमितिच्छेदः । तेन धर्माणां स्वनुष्ठितानामुपायत्वेन । विशुद्धानां मुमुक्षुतया विशुद्धत्वेप्यधमाधिकारिणामित्यर्थः ।

वक्ष्ये कारुण्यतः साक्षाच्छृणु वाचस्पतेऽधुना । आसीदिदं तमोमात्रमात्माभिन्नं जगत्पुरा ॥ ३ ॥
ततः सत्त्वगुणक्षोभान्महत्तत्त्वमजायत । एक एव शिवः साक्षात्तिस्रो मूर्तीर्दधौ पुनः ॥ ४ ॥
रजोगुणं समास्थाय ब्रह्मा स्यात्सृष्टिकारणम् । सत्त्वमास्थाय विष्णुः स्यात्पालनार्थं बृहस्पते ॥ ५ ॥
तमसा कालरुद्राख्यः सर्व[1] संहारकारणम् । असंख्या मूर्तयस्तेषां विजायन्ते पृथक्पृथक् ॥ ६ ॥
उत्तमाधमरूपेण गुणवैषम्यमात्रतः । शब्दादीनि च भूतानि श्रोत्रादीन्द्रियपञ्चकम् ॥ ७ ॥
वागादिपञ्चकं तद्वत्प्राणापानादिपञ्चकम् । मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं चेति चतुष्टयम् ॥ ८ ॥
अव्यक्तात्काल[2]पाकेन प्रजायन्ते पृथक्पृथक् । सर्वे कालपराधीना न कालः कस्यचिद्वशे ॥ ९ ॥
[3]कालो मायात्मसंबन्धात्सर्वसाधारणात्मकः । हिरण्यगर्भो भगवान्प्रादुरासीत्प्रजापतिः ॥ १० ॥

तत्रै[4]तस्मिन्नध्याये वर्णाश्रमध[5]र्मेण सृष्टिं वक्तुं महदादिक्रमेण हिरण्यगर्भोत्पत्तिमाह—आसीदिदमित्यादि । एष च सर्गक्रमो गतखण्डेऽष्टमादिष्वध्यायेषु प्रपञ्चित इति नेह पुनरुच्यते । तत्र तु सूतेन मुनिभ्यः स्ववचनेनैवोक्तः । इह तु शिवेन बृहस्पतय उपदिष्टप्रकारवर्णनमे[6]वेत्येतावानेव विशेषः ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

हिरण्यगर्भ इति । यथोक्तसूक्ष्मभूतेन्द्रियकरणोपाधिको हिरण्यगर्भः पञ्चीकृतभूतमयशरीरः प्रजापतिरूपेण प्रादुरासीदित्यर्थः ॥ १० ॥

यह जगत् अभिव्यक्त होने से पूर्व केवल अव्यक्तरूप तथा आत्मा से अभिन्न था ॥ ३ ॥ (श्रुतियों का साग्रह घोष है कि वस्तुतः शिवेतर कुछ नहीं है । इसे समझाने के लिये वेद ने उस अवस्था का सहारा लिया है जब प्रपंच स्फुटरूप से नहीं था । अभी तो शिवैकसत्त्व समझने में सत्त्वेन उपस्थित संसार प्रतिरोधक है । इसे हटाने से समझना सरल होगा यह शास्त्र का अभिप्राय है । संसार का हटाना यही हो सकता है कि हम उस अवस्था का विचार करें जब संसार नहीं है । 'नहीं है' का भी अर्थ यही समझना होगा—कार्यरूप से नहीं है, क्योंकि यदि सर्वथा न हो तो बाद में भी उत्पन्न न होगा और आज 'है' इस तरह उपस्थित न होगा । अतएव कहा कि तब प्रपंच अव्यक्त है—कार्यकारी नहीं, आत्मैकत्व का प्रतियोगी नहीं । किन्तु इससे कहीं यह भ्रम न हो जाये कि 'अव्यक्तरूप से ही सही, प्रपंच है तो शिवेतर ही, अव्यक्त होने से प्रतियोगी न भी हो, व्यक्त हुआ तो शिव को सद्वितीय बना ही देगा'; उसे आत्मा से अभिन्न कहा गया है । अव्यक्त जगत् भी शिवेतर नहीं । अतएव व्यक्त जगत् भी शिव को सीमित करने में असमर्थ है । एवं च शिव से भिन्न न होते हुए शिव से भिन्न प्रतीत होना रूप मिथ्यात्व प्रपंच में सिद्ध करना श्रुति का करुणामय उद्देश्य है । उसी उद्देश्य को यहाँ पुराण सिद्ध कर रहा है ।) आत्मा की उस अव्यक्त नामक उपाधि में सत्त्वगुण का क्षोभ हो जाने से महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ । (यह क्षोभ भी किसी स्वतन्त्र प्रकृति का नहीं किन्तु आत्मसत्ता से अनतिरिक्त सत्ता वाली अज्ञानरूप प्रकृति का हुआ । स्वतन्त्र सत्ताकता व स्वैकप्रकाशता ही ईक्षणादिसिद्ध आत्म-स्वातंत्र्य है । इच्छा आदि सब क्षेत्रधर्म हैं । इस प्रकार सांख्यवाद से वैलक्षण्य स्फुट है ।) एक शिव ने ही तीन मूर्तियाँ धारण की । (शिव का परोक्षतया अभिधान यह द्योतित करने के लिये है कि जो मैं तुम्हें उपदेश दे रहा हूँ वह तो धारण की हुई मूर्ति वाला हूँ किन्तु जिसके विषय में बता रहा हूँ वह वह है जिसने मूर्ति को धारण किया है । यद्यपि धारण करने वाला और धारण किये हुए है एक ही तथापि सविशेष व निर्विशेष के अभिप्राय से भेद है ।) रजोगुण को प्रधानकर शिव ही सृष्टि कारण ब्रह्मा हुए । सृष्टि का पालन करने के लिये सत्त्वगुण को प्रधानकर वे ही विष्णु हुए और तमोगुणप्रधान कर सर्वसंहारकारण कालरुद्र हुए ॥ ४–५$^1/_2$ ॥ गुणों के न्यूनाधिक्य से ब्रह्मादि त्रितय की भी असंख्य मूर्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं ॥ ६$^1/_2$ ॥ अव्यक्त से यथाकाल शब्दादितन्मात्रारूप पाँच सूक्ष्म महाभूत, श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राण आदि पंचक, मन बुद्धि अहंकर चित्त—यह अंतःकरणचतुष्टय, सभी उत्पन्न हुए । सभी काल के पराधीन है, काल किसी के वश में नहीं ॥ ७–९ ॥ माया व आत्मा के सम्बन्ध से तद्रूप काल बना है और यह सबके लिये एक जैसा है । सूक्ष्मोपाधिक हिरण्यगर्भ स्थूलोपाधिक प्रजापति रूप से प्रकट हुए ॥ १० ॥ वे ही प्रथम शरीरी हैं । क्योंकि पूर्व में उन्होंने अपने सारे पाप जला दिये थे इसलिये

१. ङ. °र्वकारणका° । २. ङ. °लरूपेण प्र° । ३. 'न कस्यचिद्वशे' इत्युक्तेऽमुष्य स्वातन्त्र्यशङ्कामपाकरोति—कालइति । मायात्मसंबन्धएव कालस्ततएव सर्वसाधारणो, मायात्मसम्बन्धस्य विशेषे मानाभावात् । अतएव नासौ स्वतन्त्रः सम्बन्धस्य सम्बन्ध्यधीनत्वादिति भावः । ४. ङ. °त्रैव त° । ५. क. ख. ग. ङ. °धर्माणां हिरण्यगर्भेण सृ° । ६. घ. मेव° वि° ।

स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते । तेन ब्रह्माण्डमुत्पन्नं तन्मध्येऽयं बृहस्पते ॥ ११ ॥
भुवनानि च देवाश्च शतशोऽथ सहस्रशः । स्थावरं जङ्गमं चैव तथा वर्णाश्रमादि च ॥ १२ ॥
साम्बं सर्वेश्वरं ध्यात्वा प्रसादात्तस्य निर्ममे । प्रसादेन विना देवाः प्रसादेन विना नराः ॥ १३ ॥
प्रसादेन विना लोका न सिध्यन्ति महामुने । प्रसादाद्देवदेवस्य ब्रह्मा ब्रह्मत्वमागतः ॥ १४ ॥
विष्णुर्विष्णुपदं प्राप्तो रुद्रो रुद्रत्वमागतः । वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण महेश्वरः ॥ १५ ॥
आराध्यते प्रसादार्थं न दुर्वृत्तैः कदाचन । यस्मिन्प्रसन्ने सर्वेषां पुष्टिर्जायेत पुष्कला ॥ १६ ॥
अहो तेन विना लोकश्चेष्टतेऽन्यत्र मायया । ब्रह्मचर्याश्रमस्थानां यतीनां च विशेषतः ॥ १७ ॥
वानप्रस्थाश्रमस्थानां गृहस्थानां वशो हरः । वर्णाश्रमसमाचारात्प्रसन्ने परमेश्वरे ॥ १८ ॥
साक्षात्तद्विषयं ज्ञानमचिरादेव जायते । ज्ञानादज्ञानविध्वस्तिर्न कर्मभ्यः कदाचन ॥ १९ ॥
अज्ञाने सति संसारो ज्ञाने स कथमुच्यते । तस्माज्ज्ञानेन मुक्तिः स्यादज्ञानस्य क्षयान्मुने ॥ २० ॥
सर्वं संक्षेपतः प्रोक्तं मया वेदविदां वर । तस्मात्त्वं च महाभाग वर्णाश्रमरतो भव ॥ २१ ॥
सूत उवाच—इति श्रुत्वा मुनिश्रेष्ठाः प्रणम्य[1] परमेश्वरम् । स्तोतुमारभते विप्राः प्रसादार्थं त्रिशूलिनः ॥ २२ ॥

प्रथमः शरीरीति स्थूलभूतमयशरीरसंबन्ध एव तस्यैव यतः प्रथम इत्यर्थः । प्रजापतिपदप्रापकेण तपसा सर्वाणि पापानि पूर्वमोषतीति **पुरुषः** । श्रूयते हि—'स यत्पूर्वोऽ[2]स्मात्सर्वस्मात्सर्वान्पाप्मन औषत्तस्मात्पुरुषः' इति ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥

एवं वर्णाश्रमाचाराणामुत्पत्तिमभिधाय तदाचरणोपयोगमाह—**वर्णाश्रमाचारवतेति** ॥ १५ ॥ १६ ॥

चतुर्णामाश्रमाणां शिवप्रसादद्वारा ज्ञानोपयोगमाह—**ब्रह्मचर्याश्रमेति** ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥

सर्वं संक्षेपत इति । अयमुपायोऽनुष्ठेय इति संक्षेपेणोक्तमित्यर्थः । अनुष्ठानप्रकारस्तु प्रपञ्चेन वक्ष्यते । **वर्णाश्रमरत** इति तत्प्रयुक्तधर्मरत इत्यर्थः । तत्र वर्णधर्माः—'ब्राह्मणो बृहस्पतिसवेन, राजा राजसूयेन यजेत, वैश्यो वैश्यस्तोमेन' इत्यादयः । आश्रमधर्माः—'आहूतश्चाप्यधीयीत' इत्यादिब्रह्मचारिधर्माः । 'क्षौमे वसानौ जायापती अग्निमादधीयाताम्' इत्यादयो गृहस्थधर्माः । अरण्यवासादयो वनस्थधर्माः । [3]श्रवणादयो यतिधर्माश्चेति ॥ २१ ॥ २२ ॥

वे पुरुष कहे जाते हैं । उन्होंने ही ब्रह्माण्ड उत्पन्न किया और उसमें अभिमानी हुए वे ही उपस्थित हैं ॥ ११ ॥ (व्यष्टि भेदों में बाँटना ब्रह्माण्ड उत्पन्न करना है) । तीनों भुवन व हजारों की तादाद में देवता बनाये । साम्ब सर्वेश्वर का ध्यानकर उन्हीं की कृपा से स्थावर-जंगम सब प्राणी तथा वर्ण, आश्रम, अवस्था आदि का निर्माण किया । शिवप्रसाद के विना देव, मनुष्य, लोक आदि नहीं बनाये जा सकते ॥ १२–१३½ ॥ महादेव की कृपा से ही ब्रह्मा विष्णु रुद्रादि ने अपने पद प्राप्त किये हैं ॥ १४½ ॥

वर्णाश्रम के लिये विहित आचरणों को करने वाले पुरुषों द्वारा कृपाप्राप्ति के लिये महेश्वर की आराधना की जाती है । जो दुराचारी हैं वे कभी शिवपूजा नहीं करते ॥ १५½ ॥ अहो खेद है कि जिनकी प्रसन्नता से सबको पुष्कल पुष्टि प्राप्त होती है उन शंकर को छोड़ अज्ञानवश लोग अन्यान्य इष्टसाधकों की आराधना में लगते हैं ॥ १६½ ॥ विशेषकर संन्यासियों पर व ब्रह्मचारी आदि सभी आश्रमियों पर शिव शीघ्र कृपा करते हैं ॥ १७½ ॥ वर्णाश्रम के आचार के परिपालन से शिव के प्रसन्न हो जाने पर साक्षात् शिवविषयक ज्ञान तुरन्त उत्पन्न हो जाता है । ज्ञान से ही अज्ञान निवृत्त होता है कर्मों से कभी निवृत्त नहीं होता ॥ १८–१९ ॥ अज्ञान के रहते ही संसरण है । ज्ञान हो जाने पर वह कहाँ ? अतः हे मुनि बृहस्पति ज्ञान से अज्ञान का नाश होने के कारण मोक्ष होता है ॥ २० ॥ इस प्रकार जो उपाय अनुष्ठेय है उसे तुम्हें बता दिया । इसे समझ तुम वर्णाश्रमाचार में निरत हो जावो ॥ २१ ॥

सूतजी ने कहा—हे उत्तम मुनियो ! यह सुनकर बृहस्पति ने परमशिव को प्रणामकर उनकी कृपा पाने के लिये उनकी स्तुति करना प्रारंभ किया ॥ २२ ॥

१. ङ. °म्य जगदीश्व° । २. ख. °स्मात्सर्वान्पा° । ङ. °स्मात्पूर्वोऽस्मात्पाप्मन औ° । ३. ङ. श्रमणा° ।

बृहस्पतिरुवाच—नमो हराय देवाय त्रिनेत्राय त्रिशूलिने । तापसाय महेशाय तत्त्वज्ञानप्रदायिने ॥ २३ ॥
नमो मौञ्जाय शुभ्राय नमः कारुण्यमूर्तये । नमो देवादिदेवाय नमो वेदान्तवेदिने ॥ २४ ॥
नमः पराय रुद्राय सुपाराय नमो नमः । विश्वमूर्ते महेशाय[1] विश्वाधाराय ते नमः ॥ २५ ॥
नमो भक्तभवच्छेदकारणायामलात्मने । कालाय कालकालाय कालातीताय ते नमः ॥ २६ ॥
जितेन्द्रियाय नित्याय जितक्रोधाय ते नमः । नमः पाषण्डभङ्गाय नमः पापहराय ते ॥ २७ ॥
नमः पर्वतराजेन्द्रकन्यकापतये नमः । योगानन्दाय योगाय योगिनां पतये नमः ॥ २८ ॥
प्राणायामपराणां तु प्राणरक्षाय ते नमः । मूलाधारे प्रविष्टाय मूलदीपाय ते नमः ॥ २९ ॥

वर्णाश्रमधर्माणामुत्पत्तिं संग्रहेण स्वरूपं च श्रुतवानपि बृहस्पतिस्तत्प्रपञ्चशुश्रूषया देवं तुष्टाव—**नमो हराय देवाये**त्यादिना ॥ २३ ॥

नमो मौञ्जायेति ।[2]मुञ्जा अन्नं 'ऊर्ग्वै मुञ्जा' इति श्रुतेः । तच्च भोग्यमिति तत्संबन्धी भोगप्रद ईश्वरस्तस्मै । मुञ्जपदेन मुञ्जवान्या हिमवतः शिखरप्रदेश उपलक्ष्यते । सोऽस्य निवास इति मौञ्जस्तस्मै । 'परो मौञ्जवतोतीहि' इति श्रुतेः ॥ २४ ॥ २५ ॥

कालाय भावि[3]कालवद्भूतमयं कलयति जगदेष कालोऽतस्तदात्मने । **कालकालाय** । तमपि कलयते तस्यापि परिच्छेदकाय । **कालातीताय** स्वयं केनचिदप्यपरिच्छिन्नाय ॥ २६ ॥ २७ ॥

योगानन्दायेति । योगः समाधिः । 'युज समाधौ' इति धातुः । तत्राभिव्यज्यमानो य आनन्दस्तद्रूपाय । **योगाय** समाधिरूपाय । **योगिनां** पतय इति योगसमाधिनिष्ठानां समाधिफलप्रदानेन पालकाय च नम इत्यर्थः ॥ २८ ॥

प्राणायामेति । श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामस्तदभ्यासपराणाम् । तेहि यदा कण्ठादिस्थानेषु लकारादिभूतवर्णैः सह प्राणनियम[4]मभ्यस्यन्ति तदा[5] ते कालं वञ्चयन्ति । उक्तं हि—'कण्ठे भ्रूमध्ये हृदि नाभौ सर्वाङ्गे स्मरेत्क्रमशः । लवरसमीरणषवर्णैरनिलसमा कालवञ्चनेयं स्यात्' इति । अतस्तेषां वञ्चितकालानां या प्राणरक्षा भवति साऽपि त्वत्प्रसादलभ्येत्यर्थः । **मूलाधार** इति । परा हि शक्तिर्मूलाधारादामस्तकमुद्गता तत्र चन्द्र[6]मण्डलसंस्पर्शात्स्रवदमृतधारया सह स्वयमपि पुनर्मूलाधारं प्रविशति । यदाहुः—

बृहस्पति बोले—सर्वतापहर आपको नमस्कार है । प्रपंच क्रीडा करने वाले आपको नमस्कार है । सब प्रमाणों से सब जानने वाले आप त्रिनेत्र को नमस्कार है । पापियों को त्रिविध ताप से तप्त करने वाले त्रिशूलधारी आपको प्रणाम है । संकल्पमात्र से सब करने वाले आप तापस के लिये प्रणाम है । महान् शासक आपको नमस्कार है । वास्तविकता का बोध देने वाले आपको नमस्कार है ॥ २३ ॥ सर्वभोगप्रदायक होने से मौञ्ज कहे जाने वाले आपको नमस्कार है । सत्त्वरूप आपको नमस्कार है । करुणा के मूर्त्तिमान् रूप आपको प्रणाम है । सब प्रकाशों के मूल प्रकाश आपको नमस्कार है । वेदान्त समझने वाले आपको नमस्कार है ॥ २४ ॥ सबसे परे स्थित आपको प्रणाम है । दुःखनिवारक आपको प्रणाम है । संसार के श्रेष्ठ परले पाररूप आपको प्रणाम है । सर्वरूप आपको प्रणाम है । यज्ञ में अन्तर्हित रहने वाले आपको नमस्कार है । संसार के आधार आपको नमस्कार है ॥ २५ ॥ भक्तों की संसरणशृङ्खला तोड़ देने वाले शुद्ध स्वरूप आपको नमस्कार है । कालरूप तथा काल को भी सीमित कर देने वाले आपको नमस्कार है । वस्तुतः कालसम्बन्धवर्जित आपको प्रणाम है ॥ २६ ॥ नियंत्रित इन्द्रियों वाले आपको नमस्कार है । सनातन आपको नमस्कार है । क्रोध को जीतने वाले आपको प्रणाम है । पाखण्ड का नाश करने वाले तथा पाप का हरण करने वाले आपको प्रणाम है ॥ २७ ॥ पर्वतराजपुत्री के पति आपको नमस्कार है । समाधि में व्यक्त होने वाले आनन्दरूप तथा समाधिरूप आपको नमस्कार है । समाधिनिष्ठों को फलप्रदान करने वाले आपको नमस्कार है ॥ २८ ॥ प्राणायाम में तत्पर लोगों की प्राणरक्षा करने वाले आपको प्रणाम है । मूलाधार में निहित शक्ति से अभिन्न आपको प्रणाम है । स्वयम्प्रकाशरूप आपको प्रणाम है ॥ २९ ॥ नाभि में प्रवेश करने वाले और हृदय में रहने वाले आपको नमस्कार है ।

---

१. महो यज्ञः, मह्यतेऽनेनेति भौवादिकमहेः 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेणे'ति घः । तस्मिन् शेत इत्युलुक्समासेनायं महेशशब्दस्ततो न पुनरुक्तिः । सर्वयज्ञैः शिवएव पूज्यइत्यर्थः । २. घ. मौञ्जा । ३. क. ख. ग. घ. °विभव° । ४. ग. घ. ङ. °मनम° । ५. ङ. °दा केवलं ते° । ६. घ. °न्द्रस्प° ।

नाभिकन्दे प्रविष्टाय नमो हृद्देशवर्तिने । सच्चिदानन्दपूर्णाय नमः साक्षात्परात्मने ॥ ३० ॥

नमः शिवायाद्भुतविग्रहाय ते नमः शिवायाद्भुतविक्रमाय ते ।

नमः शिवायाखिलनायकाय ते नमः शिवायामृतहेतवे नमः ॥ ३१ ॥

सूत उवाच—य इदं पठते नित्यं स्तोत्रं भक्त्या सुसंयतः । तस्य मुक्तिः करस्था स्याच्छंकरप्रियकारणात् ॥ ३२॥

विद्यार्थी लभते विद्यां विवाहार्थी गृही भवेत् । वैराग्यकामो लभते वैराग्यं भवतारकम् ॥ ३३ ॥

तस्माद्दिने दिने यूयमिदं स्तोत्रं समाहिताः । पठन्तु भवनाशार्थमिदं हि भवनाशनम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्ड आत्मना सृष्टिनिरूपणं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

ईश्वर उवाच—अथातः संप्रवक्ष्यामि ब्रह्मचर्याश्रमं मुने । आम्नायैकसुसंसिद्धमादराच्छृणु सुव्रत ॥ १ ॥

'मूलालवालकुहरादुदिता भवानि निर्भिद्य षट्सरसिजानि तडिल्लतेव । भूयोऽपि तत्र विशसि ध्रुवमण्डलेन्दुनिष्यन्दमानसुखबोधसुधास्वरूपे' । इति । तस्याः शक्तेः शक्तिमाञ्छिवोऽप्यभिन्न इति हि निरूपितम् । अतः सोऽपि मूलाधारे प्रविष्ट इत्यर्थः । **मूलदीपायेति** । सोमसूर्याग्नयो हि सर्वं दीपयन्तीति दीपास्ते हि चित्प्रकाशेन प्रतिभातमेवार्थं दीपयितुं शक्नुवन्ति नान्यथा । श्रूयते हि—'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥' इति । अतश्चित्प्रकाशो मूलदीपस्तदात्मने ॥ २९ ॥

नाभिकन्द इति । तत्र तयोरपि स्थानयोरभिव्यक्तिहेतुत्वात् ॥ ३० ॥

अमृतहेतव इति । अमृतं पुण्यफलं स्वर्गादि विद्याफलं चापवर्गः तदुभयहेतवे । तथात्वं च गतखण्डे तृतीयाध्याये वर्णितम् ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

पठन्त्विति पुरुषव्यत्ययः ॥ ३४ ॥[२]

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहिताटीकायां ज्ञानयोगखण्ड आत्मना सृष्टिनिरूपणं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

विदितबृहस्पत्यभिप्रायः शिवो वर्णाश्रमधर्मान्प्रपञ्चयति । तत्र ब्रह्मचर्यपूर्वकत्वादाश्रमान्तराणां तद्धर्मानेव प्रथममाह—**अथातः संप्रवक्ष्यामीति** । यतो ब्रह्मचर्यं प्रथम आश्रमोऽतो बृहस्पतेर्जिज्ञासानन्तरं तद्धर्मान्संप्रवक्ष्यामि । **आम्नायैकेति** । 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत' इत्यादिश्रुतेः ॥ १ ॥

(मूलाधार से ऊर्ध्वगति होने पर इन स्थानों से होते हुए सहस्रार तक पहुँचा जाता है ।) सच्चिदानन्द से परिपूर्णस्वभाव वाले साक्षात्परमात्मा आपको नमस्कार है ॥ ३० ॥ अद्भुत मूर्ति वाले आप शिव को नमस्कार है । अलौकिक पराक्रम वाले आप शिव को नमस्कार है । सबके नेता आप शिवको नमस्कार है । अमरता के कारणभूत आप शिव को नमस्कार है ॥ ३१॥

सूतजी बोले—जो व्यक्ति इस स्तोत्र का प्रतिदिन भक्तिपूर्वक पाठ करता है उसे शंकरकृपा से अवश्य मोक्ष प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥ विद्या चाहने वाले को विद्या, विवाह चाहने वाले को पत्नी तथा वैराग्य चाहने वाले को संसार से तारने वाला वैराग्य प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥ अतः आप लोग एकाग्रतापूर्वक प्रतिदिन इसका पाठ कीजिये, यह संसार को निवृत्त करने का कारण है ॥ ३४ ॥

ब्रह्मचर्य-आश्रमविधि कथन नामक तीसरा अध्याय

(सामान्यतः अनुष्ठेय सुनकर भी बृहस्पति उसे विशेषतः जानना चाहते थे यह समझकर) भगवान् शंकर ने कहा—हे मुनि बृहस्पति ! अब मैं वेदसमधिगत ब्रह्मचर्याश्रम के विधान बताता हूँ, श्रद्धा से सुनो ॥ १ ॥ जिसका यज्ञोपवीत हो चुका

---

१. घ. °कण्ठे प्र° । २. 'संहितायाश्च सूतस्य व्याख्यां तात्पर्यदीपिकाम् । सुस्थितामनुगृह्णातु विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥' इत्यधिकं क्वचित् ।

उपनीतो द्विजो वेदानधीयीत समाहितः । दण्डं यज्ञोपवीतं च मेखलां च तथैव च ॥ २ ॥

कृष्णाजिनं च काषायं[1] शुक्लं वा वस्त्रमुत्तमम् । धारयेन्मन्त्रतो विद्वान्स्वसूत्रोक्तेन वर्त्मना ॥ ३ ॥

भिक्षाहारो यथाकामं गुरुशुश्रूषणे रतः । धारयेद्वैल्वपालाशौ दण्डौ केशान्तिकौ द्विजः ॥ ४ ॥

आश्वत्थं वा ऋजुं सौम्यमव्रणं त्वग्विभूषितम् । सायंप्रातरुपासीत संध्यां विप्रः समाहितः ॥ ५ ॥

कामं क्रोधं तथा लोभं मोहं चैव विवर्जयेत् । अग्निकार्यं[2] द्विजः कुर्यात्सायं प्रातः स्वसूत्रतः ॥ ६ ॥

देवानृषीन्पितॄन्स्नात्वा तर्पयेद्ब्राह्मणोत्तमः । समिद्धाग्निसमुत्थेन विरजानलजेन च ॥ ७ ॥

अग्निहोत्रसमुत्थेन भस्मना सजलेन च । अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैः षड्भिर्वा सप्तभिः क्रमात् ॥ ८ ॥

विमृज्याङ्गानि सर्वाणि समुद्धूल्य ततः परम् । तिर्यक्त्रिपुण्ड्रमुरसा ललाटेन करादितः ॥ ९ ॥

ग्रीवायां च शुचिर्भूत्वा शिवं ध्यात्वा शिवां तथा । मेधावीत्यादिभिर्मन्त्रैर्धारयेद्ब्राह्मणः सदा ॥ १० ॥

उपनीतो द्विज इति । अध्यापनस्य वृद्ध्[3]यर्थतया प्राप्तत्वेनाविधेयत्वात्[4] 'उपनीय तमध्यापयी[5]त' इति वाक्ये प्रयोजकव्यापारवाचिभ्यामुपनयनाध्यापनधातुभ्यां प्रयोज्यव्यापारलक्षणया 'उपगच्छेत्सोऽधीयीत' इति हि व्याचक्षते ॥ २ ॥ ३ ॥

बैल्वपालाशौ विकल्पितौ[6] । केशान्तिकाविति **केशानामन्तिकौ** । पुरुषशिरःसंमितावित्यर्थः ॥ ४ ॥ ५ ॥

काममिति मदमात्सर्ययोरप्युपलक्षणम् ॥ ६ ॥

समिद्धाग्निसमुत्थेनेति । समिद्धोऽग्निः शिवाग्निस्तदुत्थेन भस्मना । उक्तं[7] शैवागमेषु–'शुद्धं गोमयमादाय सद्योजातेन भस्मवित् । पञ्चगव्यात्मकं पिण्डं कृत्वा वामेन चाम्बुभिः ॥ शिवाग्निना दहद्घोरं [8]चालन्या [9]चालयेत्परम् । स्मरन्नीशं नये कुम्भे भस्म मूलेन संचयेत् ॥ ततः किंचित्समुद्धृत्य जप्त्वा [10]शस्त्रेण सप्तधा । क्रमशः शिरसः कार्यं तेनाङ्गौघप्रघर्षणम् ॥ ततश्च यावता स्नानं तावदुद्धृत्य मन्त्रयेत् । कलाभिर्भस्म गायत्र्या ब्रह्माङ्गैश्च शिवाणुना' । 'ॐसद्यो जाताय विद्महे । वामदेवाय धीमहि । तन्नो घोरः प्रचोदयात्' इति भस्मगायत्री । **विरजानलजेनेति** । 'ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासँ स्वाहा' इत्येतैर्मन्त्रैर्हुतोऽग्निर्विरजानलस्तदुत्थेन ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

'मेधावी भूयासं' 'तेजस्वी भूयासम्' इत्यादयो मन्त्राः ॥ १० ॥

है ऐसे ब्राह्मण को ध्यानपूर्वक वेदाध्ययन करना चाहिये । क्षत्रिय व वैश्य को भी उपनयन के अनन्तर वेदाध्ययन करना चाहिये । दण्ड, यज्ञोपवीत, मेखला, काला मृगचर्म तथा काषाय (गैरिक) या सफेद रंग का कपड़ा धारण करना चाहिये । स्वकीय परंपरा के गृह्यसूत्र के अनुसार बताये ढंग से मंत्रपूर्वक इनका ग्रहण कर्तव्य है ॥ २–३ ॥ भिक्षा से आहार चलाये और गुरु की यथेष्ट सेवा में तत्पर रहे । अपने सिर तक की लम्बाई वाले बेल, पलाश या पीपल के दण्ड धारण करे ॥ ४ ॥ दण्ड सीधा होना चाहिये, सुंदर दीखे, बीच में कटा न हो तथा छाल से युक्त हो । सुबह शाम एकाग्रता पूर्वक संध्या करनी चाहिये ॥ ५ ॥ ब्रह्मचारी को चाहिये कि काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का परित्याग करे । स्वसूत्र में विहित अग्निसेवा भी सुबह शाम करनी चाहिये ॥ ६ ॥ उत्तम ब्राह्मण को चाहिये कि स्नानकर देवता, ऋषि व पितरों को तर्पण दे । शिवाग्नि, विरजाग्नि या अग्निहोत्राग्नि से संभूत भस्म को जल से मिलाकर उससे 'अग्निरिति भस्म' आदि मंत्रों का उच्चारण करते हुए सब अंगों पर भस्मसमुद्धूलन करे । तदनन्तर छाती, ललाट, हाथ, ग्रीवा आदि में त्रिपुण्ड्र लगाये ॥ ७–९ ॥ 'मेधावी भूयासम्' आदि मन्त्रों से या 'त्रियायुषं जमदग्नेः' आदि मंत्र से त्रिपुण्ड्रधारण करना चाहिये ॥ १०½ ॥

---

१. अतएव काषायस्य न यतिलिंगत्वमिति सम्प्रदायः । २. ङ. °र्यं ततः कु° । ३. वृत्त्यर्थतयेत्यर्थः । ४. अपूर्वतया नियमतया वेति शेषः । अध्ययनस्य च नित्यत्वादनित्यप्रयुक्तत्वासम्भवादित्यर्थः । ५. क. °यीतेति हि वा° । ख. °यीतेत्यस्मिन्वाक्ये । ६. केचित्तु वर्णभेदेन दण्डभेदमाहुः । तत्रौदुम्बरो वैश्यस्य । दण्डस्य केशान्तिकप्रमाणत्वमपि ब्राह्मणस्यैव, क्षत्रियस्य ललाटपर्यन्तो वैश्यस्य च नासिकान्त इत्येवमादिविशेषाः स्मृत्यन्तरेषु दर्शनीयाः । ७. क. ख. ग. घ. °क्तं हि चाऽऽग° । ८. ख. चालिन्या । ९. चालयन्तरम् (?) इति सर्वपुस्तकेषु दृश्यते । १०. ग. शास्त्रेण ।

त्रियायुषं जमदग्नेरिति मन्त्रेण वा द्विजः । महादेवार्चनं कुर्यात्पुष्पाद्वा पत्रतोऽन्यतः ॥ ११ ॥

मातरं पितरं वृद्धं[1] तथा ज्येष्ठं स्वकं गुरुम् । अध्यात्मज्ञानिनं नित्यं श्रद्धयैवाभिवादयेत् ॥ १२ ॥

असावहं भो नामास्मि सम्यक्प्रणतिपूर्वकम् । आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने ॥ १३ ॥

आकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः । व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः ॥ १४ ॥

सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन तु दक्षिणः । लौकिकं वैदिकं चापि तथाऽऽध्यात्मिकमेव च ॥ १५ ॥

आददीत यतो ज्ञानं तत्पूर्वमभिवादयेत् । मातापित्रोश्च वंश्यांश्च गुरुवंश्यान्गुणाधिकान् ॥ १६ ॥

अनुवर्तेत मनसा वाचा कायेन सादरम् । गुरुं दृष्ट्वा समुत्तिष्ठेन्नमस्कृत्वा कृताञ्जलिः ॥ १७ ॥

तेनैवाभिहितः पश्चात्समासीतान्यभागतः । सत्यमेव वदेन्नित्यमधीतं च न विस्मरेत् ॥ १८ ॥

नित्यं नैमित्तिकं कर्म मोक्षकामनयाऽथवा । विध्युक्तमिति बुद्ध्या वा शान्तो भूत्वा समाचरेत् ॥ १९ ॥

भिक्षामाहृत्य विप्रेभ्योऽलाभे वर्णान्तरेष्वपि । निवेद्य गुरवेऽश्नीयाद्ब्रह्मचारी दिने दिने ॥ २० ॥

भवत्पूर्वं[2] चरेद्भैक्ष्यमुपनीतो द्विजस्तथा । भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम् ॥ २१ ॥

अभिशस्तेषु[3] सर्वेषु भिक्षां नित्यं विवर्जयेत् । प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीत सूर्याभिमुख एव वा[4] ॥ २२ ॥

अन्यत इति । अन्यैरक्षतचन्दनादिभिः ॥ ११–१२ ॥ अभिवादने कृते अभिवादितैश्च गुर्वादिभिः 'आयुष्मान्भव सौम्य देवदत्ता ३' इत्यादिक्रमेण प्रत्यभिवादनं च कार्यमित्याह– **आयुष्मान्भवेति** ॥ १३ ॥ १४ ॥

व्यत्यासमेव दर्शयति–**सव्येनेति** ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

विप्रेभ्य इति । तदलाभे वर्णान्तरेषु ॥ २० ॥

भवत्पूर्वमित्यादि । 'भवति भिक्षां देही'ति ब्राह्मणः । 'भिक्षां भवति देही'ति क्षत्रियः । 'भिक्षां देहि भवती'ति वैश्य इत्यर्थः ॥ २१ ॥ २२ ॥

तदनन्तर पुष्प से, बिल्वादि पत्ते से या चंदन आदि से महादेव की पूजा करे ॥ ११ ॥ माता, पिता, वृद्ध, ज्येष्ठ, निज गुरु तथा अध्यात्मज्ञानी का प्रतिदिन अभिवादन करना चाहिये ॥ १२ ॥ नमस्कार करते समय अपना नाम लेकर 'यह मैं आपको नमस्कार करता हूँ' यों कहकर भली प्रकार से प्रणाम करे । गुरु आदि को चाहिये कि नमस्कार करने वाले ब्राह्मण को कहें 'हे सौम्य ! तुम आयुष्मान् होवो' तथा अंत में उसका नाम लेकर प्लुत आकार का उच्चारण करें ॥ १३½ ॥ (ब्राह्मण) शिष्य को चाहिये कि अपने हाथों का व्यत्यास कर गुरु का चरण स्पर्श करे अर्थात् बायें हाथ से बायाँ और दाहिने से दायाँ चरण छुए । जिससे लौकिक, वैदिक और आध्यात्मिक ज्ञान लेता हो उन्हें पहले प्रणाम करना चाहिये । (अध्यात्मविद्यागुरु का प्रथम, वेदशिक्षक का तदनन्तर और उसके बाद लौकिक शिक्षा के प्रदाता का अभिवादन करे ।) माता-पिता के वंश वाले व गुरु के वंश वाले जो अन्य गुणतः श्रेष्ठ लोग हों उन्हें भी मन, वाणी और शरीर से अभिवादन करना चाहिये ॥ १४–१६½ ॥ गुरु को देखते ही खड़े हो जाना चाहिये और अंजलि बाँधकर नमस्कार करना चाहिये । उनके बैठने के बाद उनकी आज्ञा पाकर पुनः बैठना चाहिये । सदा सत्य ही बोले और पढ़े हुए को भूले नहीं ॥ १७–१८ ॥ नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों को मोक्षकामना से या यह समझकर कि ये विहित होने से कर्तव्य हैं, शान्तिपूर्वक निष्पादित करना चाहिये ॥ १९ ॥ ब्राह्मणों से या उनसे न मिले तो इतर वर्ण वालों से रोज़ भिक्षा लाये और गुरु को निवेदित कर तब उसे खाये, यह ब्रह्मचारी का कर्तव्य है ॥ २० ॥ ब्राह्मण ब्रह्मचारी हो तो भिक्षा माँगते हुए भवत्‌शब्द पहले बोले, क्षत्रिय हो तो मध्य में व वैश्य हो तो अंत में बोले ॥ २१ ॥ जो अभिशस्त हों उनसे कभी भिक्षा न ले । (शिष्ट जिन्हें महापापी मानें वे अभिशस्त कहलाते हैं ।) पूर्व की ओर या सूर्य की ओर मुँहकर भोजन करना चाहिये ॥ २२ ॥ दोनों हाथ व दोनों पैर धोकर और दो बार आचमन

---

१. पितामहादयो वृद्धाः पितृव्यादयो ज्येष्ठा इति विभागः । २. ग. °र्वं भवेद्भैक्षमु° । ३. इमे महापातकिन इत्येवं शिष्टैर्ये व्यवह्रियन्ते तेऽभिशस्ताउच्यन्ते । ४. ग. च ।

प्रक्षाल्य चरणौ हस्तौ द्विराचम्यान्नभुग्भवेत् । प्राणायेत्यादिभिर्मन्त्रैर्हुत्वा प्राणाहुतीर्द्विजः ॥ २३ ॥

वेदाभ्यासैकनिष्ठः स्यान्नान्यमन्त्ररतो भवेत् । एवमभ्यसतस्तस्य वैराग्यं[1] जायते यदि ॥ २४ ॥

प्रव्रजेत्परमे हंसे मोक्षकामनया द्विजः । नैष्ठिको वा गृही वाऽपि भवेत्कामी यथारुचि ॥ २५ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे ब्रह्मचर्याश्रमविधिकथनं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

ईश्वर उवाच—अथातः संप्रवक्ष्यामि गार्हस्थ्यं संग्रहेण ते । अधीत्य वेदान्विविधा[2]न्पूर्वोक्तेनैव वर्त्मना ॥ १ ॥

आचार्यानुज्ञया युक्तः स्नात्वा गार्हस्थ्यमा[3] विशेत् । अनुकूले कुले गोत्रप्रवरादिविवर्जिते ॥ २ ॥

सूत्रोक्तेनैव मार्गेण वरयेत्कुलजां स्त्रियम् । सर्वलक्षणसंपन्नां साध्वीमन्यां विवर्जयेत् ॥ ३ ॥

ऋक्षसंज्ञां नदीसंज्ञां वृक्षसंज्ञां च वर्जयेत् । तया धर्मं चरेन्नित्यं सहितः संयतेन्द्रियः ॥ ४ ॥

प्राणायेति । प्राणाय स्वाहाऽपानाय स्वाहेत्यादयो मन्त्राः ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहिताटीकायां ज्ञानयोगखण्डे ब्रह्मचर्याश्रमविधिकथनं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

ब्रह्मचर्यधर्मान्संग्रहेणोक्त्वा गृहस्थधर्मान्वक्तुं प्रतिजानीते—अथात इति । यतश्चरितब्रह्मचर्यस्यैव विवाहः । यथाऽऽहुः—'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम् ॥ अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्' इति ॥ [4]अतस्तदनन्तरं गृहस्थधर्मा उच्यन्ते ॥ १ ॥

स्नात्वा समावर्तनं कृत्वा । प्रवरादिविवर्जित इति । 'असमानार्षगोत्रजाम्' इति स्मृतेः ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

कर तब खाने बैठे । सर्वप्रथम 'प्राणाय स्वाहा' इत्यादि मंत्रों से पाँच प्राणाहुतियाँ समर्पित करनी चाहिये ॥ २३ ॥ ब्रह्मचारी को चाहिए कि केवल वेदाभ्यास में लगा रहे, वेदेतर मन्त्रों को सीखने या जप करने में तत्पर न हो । यों अभ्यास करते हुए यदि उसे इहलोक व परलोक से वैराग्य हो जाये तो मोक्ष की इच्छा से परमहंस संन्यास ग्रहण करना चाहिये । और यदि वैराग्य न हो, कामनायें हों तो यथारुचि नैष्ठिक ब्रह्मचारी या गृहस्थ बन जाये ॥ २५ ॥ (नैष्ठिक ब्रह्मचारी को उत्तम लोक प्राप्त होते हैं । अतः इहलौकिक कामना न हो तो विद्याध्ययनानन्तर नैष्ठिक ब्रह्मचारी बने । यदि ऐहिक भोग भी इष्ट हों तो गृहस्थ बने यह अर्थ है ।)

गृहस्थाश्रमविधि-निरूपण नामक चौथा अध्याय

शंकर भगवान् ने आगे बताया—अब मैं तुम्हें संक्षेप में गृहस्थाश्रम के विषय में बताता हूँ । पूर्वोक्त ढंग से विधिवत् नाना वेदों का अध्ययन मैं कर आचार्य की अनुमति से समावर्तन के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिये । पति-पत्नी के कुल आपस में अनुकूल होने चाहिये अर्थात् आचार विचार तथा मर्यादायें यथासंभव समान होनी चाहिये । पति-पत्नी के गोत्र प्रवर आदि विभिन्न होने चाहिये ॥ १—२ ॥ सत्कुलीन, श्रेष्ठ लक्षणों वाली तथा साधु-विचारों वाली कन्या से स्वपरंपरा में मान्य सूत्रग्रंथोक्त विधि पूर्वक विवाह करे । कुल, लक्षण व विचारों से जो दुष्ट हो उससे विवाह न करे ॥ ३॥ नक्षत्र, वृक्ष और नदी के नामों वाली कन्या से विवाह नहीं करना चाहिये । पत्नी सहित नित्य धर्म का आचरण करे और अपनी इंद्रियों को नियंत्रित रखे ॥ ४ ॥ मन्त्रपूर्वक केवल ऋतुकाल में ग्राम्यधर्म का पालन करे अन्य काल में कभी न करे । (रजोदर्शन

---

१. अनेनर्णश्रुतिस्मृत्यो गृहस्थविषयत्वमुक्तम् । अतएव 'अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः' (मनु. ६.३५) इत्यादेरपस्मृतित्वं निरधारि । संन्यासे पुन वैराग्यमेव मुख्यो हेतुस्तमन्तरा न संन्यसेत् । मोक्षकामनयेति ब्रह्मलोकफलकं संन्यासं दण्डतर्पणादिकर्म—सहितं व्यावर्तयति । सर्वकर्मत्यागपूर्वकं शमाद्यन्वितो वेदान्तश्रवणादितत्परो भवेदित्यर्थः । २. पूर्वं तु स्वशाखैवाध्येया ततो यथेष्टमधीयीत । स्वशाखामनधीत्य शाखान्तरं माध्यगीष्ट ।अत्र चाक्षरग्रहणं स्वाध्यायविधिना कार्यमर्थग्रहणन्तु मुख्यतः स्वधर्मानुष्ठानायावश्यकमित्युत्तरविधिप्रयुक्तं ततश्च स्वधर्मं कर्तुं यावतां वाक्यानामर्थबोधआवश्यकस्तावतामर्थं जानीयाद्, यस्त्वार्त्विज्यं चिकीर्षेत् स काममशेषां मीमांसामधीतामिति ज्ञेयम् । इतरत्र भाट्टमताभ्युपगमेऽपि पद्मपादाद्याचार्यैरिह विषये तन्त्रीकृतमिति स्थितेः । ३. ख. °माचरेत् । ४. क. ख. ग. घ. यतस्त° ।

ऋतुकालेऽङ्गनासेवां कुर्यात्प्राज्ञः समन्त्रकम् । देवाग्न्यतिथिभैक्ष्यार्थं पचेन्नैवाऽऽत्मकारणात् ॥ ५ ॥

आत्मार्थं यः पचेन्मोहान्नरकार्थं स जीवति । धर्मार्थं जीवनं येषां संतानार्थं च मैथुनम् ॥ ६ ॥

ते मुच्यन्ते हि संसारान्नान्ये नारकिणः सदा । याजनाध्यापनाभ्यां च विशुद्धेभ्यः प्रतिग्रहात् ॥ ७ ॥

यात्रार्थमर्जयेदर्थं यागार्थं वा[1] द्विजोत्तमः । निर्जने निर्भये देशे विण्मूत्रादि विसर्जयेत् ॥ ८ ॥

प्रक्षालयेद्गुदं शिश्नं पादद्वंद्वं करद्वयम् । मृज्जलाभ्यां यथाशक्ति गन्धलेपनिवृत्तये ॥ ९ ॥

यावन्मात्रं मनःशुद्धिस्तावच्छौचं विधीयते । पश्चादाचमनं कुर्याद्दन्तकाष्ठं च भक्षयेत् ॥ १० ॥

द्विराचम्य पुनः स्नात्वा कृत्यशेषं समाचरेत् । प्राणायामत्रयं कुर्यात्सावित्रीं च जपेद्बुधः ॥ ११ ॥

उपस्थानं[2] ततः कुर्यान्मध्याह्नेऽप्येवमाचरेत् । ब्रह्मयज्ञं द्विजः कुर्याद्वेदपारायणे रतः ॥ १२ ॥

अन्यानि यानि कर्माणि नित्यं तानि समाचरेत् । अग्निकार्यं द्विजः कुर्याद्बलिकर्मादिकं तथा ॥ १३ ॥

समन्त्रकमिति । 'अमोहमस्मि सा त्वम्' इत्यादयो मन्त्राः ॥ ५ ॥

आत्मार्थमिति । 'नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी' इति श्रुतेः । 'न पचेदन्नमात्मनः' इति स्मृतेः ॥ ६ ॥ ७ ॥

यात्रार्थं शरीरयात्रार्थम् ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

के अनन्तर प्रथम चार दिन, एकादशी, त्रयोदशी, पूर्णिमा व अमावास्या को छोड़ रजोदर्शन के बाद के सोलह दिन अवर्जित ऋतुकाल कहा गया है। दिन के समय भी कभी ग्राम्यधर्म का अनुष्ठान नहीं करना चाहिये।) गृहस्थ को चाहिये कि देवता, अग्नि, अतिथि व भिक्षु के उद्देश्य से भोजन पकाये, उससे बचे हुए को स्वयं खाये। उन्हें न देने की नियत से केवल अपने लिये भोजन नहीं पकाना चाहिये ॥ ५ ॥ जो मोहवश केवल अपने लिये भोजन पकाता है वह निश्चय ही नरक जाने की तैयारी कर रहा है। जिन गृहस्थों का जीवन धर्म करने के लिये है और जो मैथुन केवल संतानप्राप्ति के लिये करते हैं, भोगमात्र के लिये नहीं, वे तो संसारबंधन से छूट जाते हैं। अन्य लोग संसृतिचक्र से निकल नहीं पाते बल्कि नरकगामी ही होते हैं ॥ ६¹/₂ ॥ ब्राह्मण गृहस्थ को चाहिये कि जीवनयात्रा और यागानुष्ठान के लिये इन तीन उपायों से ही धनार्जन करे—याजन अर्थात् पौरोहित्यद्वारा, अध्यापन अर्थात् शिक्षाप्रदान के द्वारा और विशुद्ध लोगों से दान लेकर। (पशुमारणपूर्वक मांस बेचकर आजीविका चलाने वाला, तेली अर्थात् तेल निकालने व बेचने वाला, शराब बेचकर जीविका चलाने वाला, वेश्यावृत्ति करवाकर जीवनयापन करने वाला तथा राजा—इनका प्रतिग्रह यथासंभव कभी नहीं लेना चाहिये। अपने यजमानों से व शिष्यों से दान लेना प्रायः निरापद है। जो शास्त्रानुकूल आचरण वाले त्रैवर्णिक धर्मबुद्धि से दान करते हैं वे विशुद्ध दाता समझे जाते हैं। आपत्काल में ही अविशुद्धों से दान लेवे। जहाँ तक हो सके ब्राह्मण को दान नहीं लेना चाहिये। प्रतिग्रह से ब्रह्मतेज नष्ट होता है। द्रव्य, विधि आदि जाने बिना तो दान लेना महान् अनर्थ का हेतु है। स्वर्ण, भूमि, घोड़ा, गाय, अन्न, वस्त्र, तिल और घी—इन्हें वह ब्राह्मण यदि दानरूप से स्वीकारे जिसने वेदग्रहण नहीं किया है व जो ब्रह्मयज्ञादि नहीं करता है तो वह भस्मसात् हो जाता है (मनुस्मृ. ४.१८८)। अतः चाहे जिस व्यक्ति से चाहे जिस वस्तु का दान लेने से ब्राह्मण को डरना चाहिये। इतर वर्ण वालों को अपने लिये अनुमोदित वृत्तिधर्मों द्वारा जीवनयापन और धर्मानुष्ठान के लिये धनअर्जित करना चाहिये। सभी वर्ण वाले स्वकीय वृत्तिधर्म से जीवन चलना असंभव होने पर क्रमशः अवर वर्णों की अनिन्द्य वृत्तियों का आपद्धर्म के रूप में पालन कर सकते हैं किन्तु सुविधालोलुप होकर हीनवृत्ति का अनुपालन अनर्थफलक है।)

---

१. चेत्यर्थः । तदुक्तं पार्थसारथिना शास्त्रदीपिकायां (६.१.८) 'अतोऽद्रव्योऽपि द्रव्यमर्जयित्वा कुर्यादि'ति । क्रतूनां द्रव्यार्जनाक्षेपकत्वसामर्थ्यमतः शब्दार्थः । यागश्चेहावश्यदेयादिप्रयोजनानामुपलक्षणम् । अतस्तैत्तिरीयके 'अतिथयश्च, मानुषं च', (१.९) इत्याद्युक्तम् । तथा 'संविदा देयम्' (१.११) इति च । २. अर्घ्यदानादिनाऽऽराधनम् ।

नित्यश्राद्धं तथा दानमशक्तानां च रक्षणम् । दयां सर्वेषु भूतेषु कुर्याद्गार्हस्थ्यमाश्रितः ॥ १४ ॥
यतिसंरक्षणं कुर्यादन्नपानादिभिः सदा । यतिश्च ब्रह्मचारी च पक्वान्नस्वामिनावुभौ ॥ १५ ॥
तयोरन्नमदत्त्वा तु भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् । यतिहस्ते जलं दद्याद्भै[1]क्षं दद्यात्पुनर्जलम् ॥ १६ ॥
तद्भैक्षं मेरुणा तुल्यं तज्जलं सागरोपमम् । एकवारं गृही नित्यमश्नीयादुत्तमं हि तत् ॥ १७ ॥
द्विवारं वाऽक्षमोऽश्नीयाद्द्वात्रिंशद्ग्रास[2]मन्वहम् । कुक्कुटाण्डप्रमाणेन न हृष्टो न[3] विषादवान् ॥ १८ ॥
होमे जपे च भुक्तौ च गुरुवृद्धाद्युपासने । तथैवाऽऽचमने यज्ञोपवीती स्यान्न चान्यथा ॥ १९ ॥
वैणवीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम् । उद्धूलनं सकृत्कुर्यात्सर्ववेदोक्तवर्त्मना ॥ २० ॥
त्रैयम्बकेण मन्त्रेण सतारेण शिवेन च । त्रिपुण्ड्रं धारयेन्नित्यं गृहस्थाश्रममाश्रितः ॥ २१ ॥

दयां सर्वेषु भूतेष्विति । यतो गृहस्थाश्रमः सर्वेषामुपजीव्यः । श्रूयते हि गृहस्थाश्रममुद्दिश्य-"अयमात्मा सर्वेषां भूतानां लोकः । स यज्जुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकः । अथ यदनुब्रूते तेन ऋषीणाम् । अथ यत्पितृभ्यो निपृणाति यत्प्रजामिच्छते तेन पितॄणाम् । अथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणाम् । यदस्य गृहेषु श्वापदा वयांस्यापिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति तेन तेषां लोकः' इति ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥

न चान्यथेति । उपवीतरहितो न स्यादित्यर्थः ॥ १९ ॥ २० ॥

त्रैयम्बकेणेति । सतारेण शिवेन संप्रणवेन पञ्चाक्षरेण ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

निर्जन तथा निर्भय स्थान पर मल-मूत्र का विसर्ग करना चाहिये ॥ ८ ॥ मृत्तिका और जल द्वारा गुदा, शिश्न, दोनों हाथ और दोनों पैर यथासामर्थ्य धोने चाहिये जिससे गंधलेपादि साफ हो जायें । जितने शौचाचार से मन प्रसन्न हो जाये उतना शौच कर लेना चाहिये ॥ ९१/२ ॥ तदनन्तर आचमन कर दातुन करनी चाहिये ॥ १० ॥ उसके बाद पुनः दो बार आचमनकर स्नान करे तथा अन्य कार्य निर्वृत्त करे । तीन बार प्राणायाम कर गायत्रीमंत्र का जप करना चाहिये ॥ ११ ॥ तदनन्तर सूर्य को अर्घ्यप्रदान आदि उपस्थान करना चाहिये । मध्याह्न वेला में भी इसी तरह गायत्री जप आदि करना चाहिये । वेद के पारायण में रत रहते हुए द्विजन्मा को ब्रह्मयज्ञ भी नित्य कर लेना चाहिये ॥ १२ ॥ अन्य सब नित्य कर्मों को भी करे । अग्निपरिचर्या तथा वैश्वदेव बलि अवश्य करे ॥ १३ ॥ नित्य श्राद्ध का अनुष्ठान करे । प्रतिदिन यथाशक्ति दान दे और असमर्थों का स्वकीय योग्यतानुसार रक्षण करे । गृहस्थ को सब भूतों पर दया करनी चाहिये ॥ १४ ॥ अन्न जल आदि द्वारा यतियों की सेवा करे । यति और ब्रह्मचारी ये दोनों पक्वान्न के अधिकारी हैं । इन्हें अर्पित किये बिना भोजन करे तो दोष होता है जिसका प्रायश्चित्त है चांद्रायण व्रत करना ॥ १५१/२ ॥ यति के हाथ में जल देवे, तब भिक्षा देवे व पुनः जल देवे । वह भिक्षा मेरु के समान अधिक फल देती है और वह जल सागर के समान अधिक फलशाली होता है ॥ १६१/२ ॥ उत्तम तो है कि गृहस्थ दिन में एक बार ही भोजन करे । यदि एक बार खाकर स्वस्थ जीवन चलाने में असमर्थ हो तो दो बार भोजन कर सकता है । भोजन में कुल बत्तीस कौर खाने चाहिये । एक कौन उतना बड़ा हो जितना बड़ा मुर्गी का अण्डा होता है । (यदि इतना बड़ा कौर न खा पाये तो खण्डशः खाले किंतु कुल भोजन की मात्रा उतनी ही रखे जितनी बत्तीस अण्डों की मात्रा होती है । मात्रा से माप समझना चाहिये, वजन नहीं ।) भोजन करते समय न हर्षित होवे और न दुःखी ॥ १८ ॥ होम करते हुए, जप; भोजन; गुरु व वृद्धों की सेवा तथा आचमन करते हुए उपवीतरहित नहीं होना चाहिये ॥ १९ ॥ एक बाँस का डण्डा तथा जलभर कमण्डलु गृहस्थ को साथ रखना चाहिये ॥ १९१/२ ॥

पूर्वोक्त प्रकार से सदा भस्मोद्धूलन करना चाहिये ॥ २० ॥ त्र्यम्बक मंत्र और प्रणवोपेत पंचाक्षरमंत्र से गृहस्थ को त्रिपुण्ड्रधारण करना चाहिये ॥ २१ ॥ जिस ब्राह्मण ने सिर पर भस्मत्रिपुण्ड्र धारण कर लिया, मान लेना चाहिये कि उसने

१. ङ. °द्भैक्ष्यं द° । २. घ. ङ. °समात्रकम् । ३. ङ. न. प्रमाद° ।

तेनाधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम् । येन विप्रेण शिरसि त्रिपुण्ड्रं भस्मना धृतम् ॥ २२ ॥
त्रिपुण्ड्रं धारयेद्भक्त्या मनसाऽपि न लङ्घयेत् । श्रुत्या विधीयते यस्मात्तत्त्यागी पतितो भवेत् ॥ २३ ॥
रुद्राक्षं धारयेन्नित्यं रुद्राक्षाणामिति श्रुतिः[1] । लिङ्गे समर्चयेन्नित्यं देवदेवं महेश्वरम् ॥ २४ ॥
अग्नीनाधाय विधिवत्कुर्याद्यज्ञाननन्तरम् । यज्ञैः सर्वाणि पापानि विनश्यन्ति न संशयः ॥ २५ ॥
प्रक्षीणाशेषपापस्य शुद्धान्तःकरणस्य तु । देवदेवपरिज्ञाने वाञ्छा जायेत सुव्रत ॥ २६ ॥
स्वर्गकामो यदि स्वर्गं याति यज्ञाद्द्विजोत्तमः । पुत्रमुत्पादयेत्स्वस्यां पितृणामृणशान्तये ॥ २७ ॥
सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयात्सर्वभूतेषु सर्वदा । एवं समाचरन्विप्रो विरक्तश्चेद्गृहाश्रमात् ॥ २८ ॥
संन्यसेत्सर्वकर्माणि वेदान्ताभ्यासयत्नवान् । वेदान्तश्रवणाभावे पतितोऽयं भवेद्ध्रुवम् ॥ २९ ॥
विरक्तोऽपि मुमुक्षुश्चेद्धंसे वा संन्यसेद्गृही । बहूदके वा शक्तश्चेन्न्यसेद्विप्रः कुटीचके ॥ ३० ॥

रुद्राक्षाणामिति श्रुतिरिति । स्मृत्यनुमितश्रुतिरित्यर्थः ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥

निष्कामस्य जिज्ञासाजनका यज्ञादय इत्युक्तम् । सकामस्य स्वर्गादिकं जनयन्तीत्याह–**स्वर्गकाम** इति । यदि स्वर्गकामस्तर्हि यज्ञात्स्वर्गं यातीति 'स्वर्गकामो यजेत' 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इति श्रुतिद्वयादियं व्यवस्था ॥ २७ ॥

गृहाश्रमात्संन्यसेदिति च । 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् । गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा' इति ॥ २८ ॥ २९ ॥

विरक्तोऽपीति । मुमुक्षुश्चेत्परमहंसो भवेत् । [2]अमुमुक्षुरपि शक्तश्चेद्धंसो[3] बहूदको वा भवेत् । अशक्तश्चेत्कुटीचको वा भवेदित्यर्थः ॥ ३० ॥

वेद पढ़ लिया तथा सब कर्त्तव्य कर लिया ॥ २२ ॥ श्रुतिविहित होने से भक्तिपूर्वक त्रिपुण्ड्रधारण करना चाहिये क्योंकि ऐसा न करने से पतन होता है ॥ २३ ॥ रुद्राक्षधारण भी कर्तव्य है । यह भी श्रुतिविहित है । नित्य शिवलिंग में महादेव का पूजन करना चाहिये ॥ २४ ॥ तदनन्तर अग्नियों को उद्दीप्तकर विधिवद् यज्ञ करना चाहिये । यज्ञों से सारे पाप नष्ट हो जाते हैं इसमें कोई संशय नहीं ॥ २५ ॥ जिसके सब पाप क्षीण हो चुकते हैं अतएव मन निर्मल हो जाता है उसे ही महादेव को जानने की इच्छा होती है ॥ २६ ॥ यदि व्यक्ति स्वर्ग चाहता है तो यज्ञ से उसे चित्तशुद्धि की जगह स्वर्गरूप फल मिलता है ।

गृहस्थ को पितरों का ऋण चुकाने के लिये तर्पण, श्राद्ध आदि तो करना ही चाहिये साथ ही निज पत्नी में पुत्र भी उत्पन्न करना चाहिये ॥ २७ ॥ सभी लोगों से सत्य तथा प्रिय वचन बोलने चाहिये ।

यों आचरण करता ब्राह्मण यदि गार्हस्थ्य से विरक्त हो जाये तो उसे सर्वकर्मसंन्यास कर वेदान्तों के अभ्यास में यत्नशील हो जाना चाहिये अर्थात् संन्यासी बन जाना चाहिये । संन्यासी यदि वेदान्तश्रवण नहीं करता तो निश्चित ही पतित हो जाता है ॥ २९ ॥ गार्हस्थ्य से वैराग्यवान् यदि मुमुक्षु हो तब तो पूर्वोक्त परमहंस बने जिसमें शमादिसहित श्रवणादि ही उसके कर्तव्य हैं । यदि वैराग्य होने पर भी मुमुक्षा न हो तो हंस, बहूदक या कुटीचक संन्यास ग्रहण कर लेने चाहिये ॥ ३० ॥

---

१. भस्मजाबाले द्वितीयाध्याय आदावेव 'जाबालो महादेवं पप्रच्छ–किं नित्यं ब्राह्मणानां कर्तव्यं यदकरणे प्रत्यवैति ब्राह्मणः' इति । तत्र भगवानुवाच–'प्रागुदयान्निर्वर्त्य शौचादिकं ततः स्नायात्……भस्मना त्रिपुण्ड्रं श्वेतेनैव रुद्राक्षाञ्छ्वेतान् बिभृयादि'ति । २. मुमुक्षोरेव सर्वकर्मत्यागात्मकपरमहंससंन्यासः । अन्येषान्तु ब्रह्मलोकादिफलकः सकर्मसंन्यासो यस्य नामाश्रमसंन्यास इति । तत्रैव दण्डतर्पणादीनां कर्तव्यता । ये तु विदुष एव पारमहंस्यमिच्छन्ति ते वस्तुतो विज्ञानविद्वेषिण एव, विविदिषावस्थायामेव हित्वा कर्माणि श्रवणादौ यत्नस्य कार्यत्वाद्विदुषस्तु कर्मत्यागेऽपि प्रयोजनाभावात्प्रवृत्तिं या निवृत्तिं वा न कटाक्षेणेत्यादिन्यायाद्विविदिषोरेव विधेयं पारमहंस्यं विदुषस्तु तदर्थसिद्धमित्येव स्वीकार्यम् । ३. ङ. सो वा व° ।

अविरक्तो गृही चान्ते वानप्रस्थं समाश्रयेत् । अथवा यावदायुष्यं गार्हस्थ्यं सम्यगाचरेत् ॥ ३१ ॥

गृहस्थादाश्रमाः सर्वे समुत्पन्नाः सुरक्षिताः । तस्माद्गृहस्थ एव स्यादविरक्तो द्विजः सदा ॥ ३२ ॥

इति श्रीसूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे गृहस्थाश्रमविधिनिरूपणं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

ईश्वर उवाच–अथातः संप्रवक्ष्यामि वानप्रस्थाश्रमं [1]मुने । पुत्रे भार्यां विनिक्षिप्य गृहीत्वा वा समाहितः ॥ १ ॥

शुक्लपक्षे शुभे वारे शुभनक्षत्रसंयुते । सुमुहूर्ते वनं गच्छेद् गृहस्थश्चोत्तरायणे ॥ २ ॥

यमादिसहितः शुद्धस्तपः कुर्यात्समाहितः । शाकमूलफलाशी स्यात्तेनेशं पूजयेद्बुधः ॥ ३ ॥

अविरक्तो गृहीति । अतो[2] गार्हस्थ्याद्वानप्रस्थाश्रममाश्रयेदित्यर्थः । **यावदायुष्यं** वा सम्यग्गार्हस्थ्यमाचरेत् ॥ ३१ ॥

गार्हस्थ्यस्य प्राशस्त्ये हेतुः–**गृहस्थादाश्रमा** इति । यत आश्रमान्तराणां सर्वेषां स्वरूपलाभः स्वधर्मपरिपालनं च गृहस्थाश्रमनिबन्धनम् अतः प्रशस्त इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्डे गृहस्थाश्रमविधिनिरूपणं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

ब्रह्मचर्यादुत्तमं गार्हस्थ्यमभिधाय ततोऽप्युत्तमं वानप्रस्थाश्रमं च वक्तुं प्रतिजानीते–**अथात** इति । यतो गृहस्थादुत्तमो वनस्थः । यदाऽऽहुः–'ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ॥ चत्वार आश्रमाः प्रोक्ता यो यः पश्चात्स उत्तमः'इति ॥ **अतो** गृहस्थधर्माभिधानानन्तरं वानप्रस्थधर्माभिधानमित्यर्थः ॥ १ ॥ २ ॥

तेनेशमिति । तपःप्रभृतिकं हि वनस्थस्य स्वधर्मः स्वधर्मानुष्ठानमेवेश्वरस्य पूजा ॥ 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' इत्युक्तम् ॥ ३ ॥

(इनका वर्णन छठे अध्याय में है ।)

जो गृहस्थ वैराग्यवान् न हो उसे अंतकाल में वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश कर लेना चाहिये । (अन्य स्मृतियों के अनुसार आयु के दूसरे भाग तक गृहस्थ रहकर वानप्रस्थ बन जाना चाहिये । आयु से पूर्णायु अर्थात् सौ वर्ष समझे जाते हैं । अतः पचास वर्ष का होने पर वानप्रस्थी बने । अथवा जब त्वक्शैथिल्य (चमड़े पर झुर्रियाँ पड़ना), श्वेत बाल तथा पौत्र को देख ले तब वनी बने । ये दोनों समय 'अंतकाल' शब्द से कह दिये हैं ।) अथवा यावज्जीवन गृहस्थ भी बना रहे तो कोई निषेध नहीं । विधिवत् पंचयज्ञादि करते हुए जीवनभर गृहस्थ रहा जाना चाहिये ॥ ३१ ॥ सभी आश्रम गृहस्थ से पैदा होते हैं तथा सुरक्षित रहते हैं, अतः अविरक्त द्विज को सदा गृहस्थाश्रम में ही रहना चाहिये ॥ ३२ ॥

वानप्रस्थाश्रमविधि-निरूपण नामक पाँचवा अध्याय

ईश्वर ने पुनः कहा–हे मुनि अब मैं वानप्रस्थ आश्रम के विषय में बताता हूँ । अपनी पत्नी को पुत्र की देख-रेख में छोड़कर अथवा साथ लेकर एकाग्रतापूर्वक वन को जाये । उत्तरायण में शुक्लपक्ष, शुभ वार तथा शुभ नक्षत्र के समय शुभ मुहूर्त पर वन के लिये प्रस्थान करना चाहिये ॥ १–२ ॥ शुद्ध रहते हुए ध्यान से यज्ञादि सहित तपस्या करे । शाक, मूल तथा फल खाये । 'ईश्वर प्रसन्न होवे' इस दृष्टि से स्वधर्म का अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ३ ॥ यदि वन्य आहार से काम न

---

१. बृहन्नारदीये वानप्रस्थाश्रमग्रहणं कलिवर्ज्यत्वेनोक्तम् । २. अन्त इत्यत्र अतः पाठष्टीकाभिमतो भाति ।

ग्रामादाहृत्य चाऽश्नीयाद्ग्रासान्षोडश बुद्धिमान् । जटाश्च बिभृयान्नित्यं नखलोमानि नोत्सृजेत् ॥ ४ ॥

वेदाभ्यासं सदा कुर्याद्वाग्यतः सुसमाहितः । अग्निहोत्रं च जुहुयात्पञ्च यज्ञान्समाचरेत् ॥ ५ ॥

चीरवासा भवेत्कुर्यात्स्नानं त्रिषवणं बुधः । सर्वभूतानुकम्पी स्यात्प्रतिग्रहविवर्जितः ॥ ६ ॥

वर्जयेन्मधुमांसानि भौमानि वनजानि च । एकवारं समश्नीयाद्रात्रौ ध्यानपरो भवेत् ॥ ७ ॥

जितेन्द्रियो जितक्रोधो भवेदध्यात्मचिन्तकः । भूमौ शयीत सततं सावित्रीं च जपेद्बुधः ॥ ८ ॥

क्रोधपैशून्यनिद्रादि दूरतः परिवर्जयेत् । कृच्छ्रं चान्द्रायणं कुर्यान्मासि मासि वने स्थितः ॥ ९ ॥

ग्रीष्मे पञ्चतपाश्च स्याद्वर्षास्वभ्रावकाशगः । आर्द्रवासास्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयंस्तपः ॥ १० ॥

षोडशेति । यत आहुः—'अष्टौ ग्रासा मुनेः प्रोक्ताः षोडशारण्यवासिनः ॥ द्वात्रिंशत्तु गृहस्थानां यथेष्टं ब्रह्मचारिणाम्' इति ॥ ४ ॥

पञ्च यज्ञानिति । श्रूयते हि—'पञ्च वा एते महायज्ञाः । देवयज्ञः पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति । यदग्नौ जुहोत्यपि समिधं तद्देवयज्ञः संतिष्ठते । यत्पितृभ्यः स्वधा करोत्यप्यपस्तत्पितृयज्ञः संतिष्ठते । यद्भूतेभ्यो बलिं हरति तद्भूतयज्ञः संतिष्ठते । यद्ब्राह्मणेभ्योऽन्नं ददाति तन्मनुष्ययज्ञः संतिष्ठते । यत्स्वाध्यायमधीयीतैकामप्यृचं यजुः साम वा तद्ब्रह्मयज्ञः संतिष्ठते' इति ॥ ५ ॥ ६ ॥

भौमानीति । शशादीनि । **वनजानीति** । वनं जलम् । जलजानि कच्छपादीनि—'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या गोधाकच्छपशल्लकाः ॥ शशश्च नकुलश्च' इति गृहस्थस्याभ्यनुज्ञातान्यपि । तथा मधु माक्षिकं च वनस्थेन वर्जनीयमित्यर्थः ॥ ७ ॥ ८ ॥

कृच्छ्रं चान्द्रायणमिति । कृच्छ्रलक्षणानि मनुनोक्तानि—'त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम् । त्र्यहं परं तु नाश्नीयात्प्राजापत्यं चरन्द्विजः' इति ॥ एकभक्तादिषु ग्राससंख्याऽऽपस्तम्बेन—'सायं द्वाविंशतिर्ग्रासाः प्रातः षड्विंशतिः स्मृताः ॥ चतुर्विंशतिरायाच्याः परं निरशनं स्मृतम्' इति ॥ तत्प्रमाणमपि तेनैवोक्तम्—'कुक्कुटाण्डप्रमाणेन यथा चाऽऽस्यं विशेत्सुखम्' इति ॥ चान्द्रायणं पञ्चविधम् । पिपीलिकामध्यं यवमध्यमृषिचान्द्रायणं शिशुचान्द्रायणं यतिचान्द्रायणं चेति । पिपीलिकामध्यमाह वसिष्ठः—'मासस्य कृष्णपक्षादौ ग्रासानद्याच्चतुर्दश । ग्रासापचयभोजी सन्पक्षशेषं समापयेत् ॥ तथैव शुक्लपक्षादौ ग्रासं भुञ्जीत चापरम् ॥ ग्रासोपचयभोजी सन्पक्षशेषं समापयेत्' इति । यदाऽऽह यमः—'एकैकं ह्रासयेत्पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत् । एतत्पिपीलिकामध्यं चान्द्रायणमुदाहृतम् ॥ वर्धयेत्पिण्डमेकैकं शुक्ले कृष्णे च ह्रासयेत् । एतच्चान्द्रायणं नाम यवमध्यं प्रकीर्तितम् ॥ त्रींस्त्रीन्पिण्डान्समश्नीयान्नियतात्मा दृढव्रतः । हविष्यान्नस्य वै मासमृषिचान्द्रायणं स्मृतम् ॥ चतुरः प्रातरश्नीयाच्चतुरः सायमेव वा । पिण्डानेतद्धि बालानां शिशुचान्द्रायणं स्मृतम् ॥ पिण्डानष्टौ समश्नीयान्मासं मध्यंदिने रवौ । यतिचान्द्रायणं ह्येतत्सर्वकल्मषनाशनम्' इति ॥ ९ ॥

पञ्चतपा इति । पञ्च तपांसि तापकानि दिक्चतुष्टयेऽग्नय उपर्यादित्यश्चेति यस्य स पञ्चतपाः । **अभ्रावकाशग इति** । अभ्रदर्शनवानवकाशोऽभ्रावकाशो गृहबाह्यश्चत्वरादिकस्तत्र गत इत्यर्थः ॥ १० ॥

चले तो गाँव से लाकर भोजन करना चाहिये । कुल सोलह कौर भोजन करना चाहिये । जटा, नख तथा लोम को सदा धारण करे ॥ ४ ॥ अन्यथा प्रायः मौन रहते हुए सदा वेदाभ्यास करे । अग्निहोत्र और पंचयज्ञों का अनुष्ठान करे ॥ ५ ॥ वृक्ष की छाल के वस्त्र पहने तथा दिन में तीन बार स्नान करे । सब प्राणियों पर दया करे । प्रतिग्रह (दान) न ले ॥ ६ ॥ वानप्रस्थ को न शहद खाना चाहिये और न उन माँसों को जो गृहस्थ के लिये अभ्यनुज्ञात हैं । जलचरों को भी नहीं खाना चाहिये । दिनभर में एक समय ही भोजन करना चाहिये । रात को ध्यान में तत्पर होना कर्तव्य है ॥ ७ ॥ अपनी इंद्रियों पर एवं क्रोध पर नियंत्रण रखे तथा आत्मविचार में लगा रहे । ज़मीन पर सोना चाहिये और निरंतर गायत्री का जप करना चाहिये ॥ ८ ॥ क्रोध, पिशुनता, अतिनिद्रा आदि से सदा दूर रहे । वन में रहते हुए हर महीने कृच्छ्र चांद्रायण व्रत करना चाहिये ॥ ९ ॥ ग्रीष्म ऋतु में पंचाग्नि तपनी चाहिये । वर्षा काल में खुले आकाश में रहे अर्थात् छत-छप्पर से ढके स्थान में न रहे । हेमन्त ऋतु में अपने वस्त्रों को गीला रखे । तप को धीरे-धीरे बढाये ॥ १० ॥ तीन बार नहाकर पितरों व देवताओं को तर्पण देवे ।

उपस्पृश्य त्रिषवणं पितृदेवांश्च तर्पयेत् । एकपादेन तिष्ठेत वायुभक्षोऽब्दमध्यमे ॥ ११ ॥
पयः पिबेच्छुक्लपक्षे कृष्णपक्षे च गोमयम् । जीर्णपर्णाशिनो वा स्यात्कृच्छ्रैर्वा वर्तयेत्सदा ॥ १२ ॥
योगाभ्यासपरो भूत्वा ध्यायेत्पशुपतिं शिवम् । कृष्णाजिनी सोत्तरीयः शुक्लयज्ञोपवीतवान् ॥ १३ ॥
अथ[1] वाऽग्नीन्समारोप्य स्वात्मनि ध्यानतत्परः । अनग्निरनिकेतः स्यान्मुनिर्मोक्षपरो भवेत् ॥ १४ ॥
सदोपनिषदभ्यासपरो वा स्यात्समाहितः । त्रिपुण्ड्रोद्धूलनं कुर्याद्गृहस्थस्योक्तमन्त्रतः ॥ १५ ॥
यदा वैराग्यमुत्पन्नं तदैव प्रव्रजेद्वनी । बहूदके वा हंसे वा मुमुक्षुः परहंसके ॥ १६ ॥
सर्वं संग्रहरूपेण सम्यगुक्तं बृहस्पते । तस्मात्सर्वप्रयत्नेन श्रद्धया विद्धि सुव्रत ॥ १७ ॥

इति श्रीसूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे वानप्रस्थाश्रमविधिनिरूपणं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

उपस्पृश्य स्नात्वा । उपपूर्वः स्पृशिः स्नाने प्रयुज्यते त्रिषवणमुदकोपस्पर्शी चतुर्थकालपानभक्तः स्यादित्यादौ । **वायुभक्षः** पवनाहारः । तदशक्तौ पयःप्रभृति शक्त्यनुसारेण कुर्यादित्यर्थः । स्मर्यते हि–'मूलं फलं पय आपो वायुराकाश इति । उत्तरमुत्तरं ज्यायः' इति । **अब्दमध्यम** एकस्याब्दस्य संवत्सरस्य मध्ये सदा वायुमेव भक्षयन्नित्यर्थः ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

अधुना चतुर्थाश्रममाह–**अथवाऽग्नीनित्यादि** । स्मर्यते हि–'आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहाद्' इति । 'अनग्निरनिकेतः स्यादशर्माऽशरणो मुनिः' इत्यापस्तम्बोऽप्याह ॥ १४ ॥

गृहस्थस्येति । गृहस्थस्य य उक्तस्त्र्यम्बकमन्त्रः सप्रणवः पञ्चाक्षरश्च तेनेत्यर्थः ॥ १५ ॥

यदेति । एषा च प्रव्रज्या सत्येव वैराग्ये कार्या । **बहूदके** चेतिवचनात्प्राक्तनी कुटीचकविषया । कुटीचकबहूदकादिचातुर्विध्यं च वक्ष्यमाणतत्तद्धर्मानुष्ठानसामर्थ्यानुसारेण व्यवस्थया विकल्प्यते ॥ १६ ॥

संग्रहरूपेणेति । संन्यासभेदानामुद्देशमात्रमत्र वनस्थेनानुष्ठेयतया वनस्थधर्माध्याये कथितम् । संन्यासधर्मप्रपञ्चस्त्वनन्तराध्याये वक्ष्यते ॥ १७ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्डे वानप्रस्थाश्रमविधिनिरूपणं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

एक पैर से खड़ा रहे । वर्ष के मध्य में केवल पवनाहारी हो रहे । यदि यह न हो सके तो शुक्लपक्ष में दूधपीकर और कृष्णपक्ष में गोमय (गोबर) खाकर रहे । अथवा पुराने पत्ते खाकर रहे । अथवा सदा कृच्छ्र व्रत करते हुए रहे ॥ ११—१२ ॥ योगाभ्यास में तत्पर रहकर पशुपति का ध्यान करना चाहिये । काले मृगचर्म का उत्तरीय और शुक्ल यज्ञोपवीत रखे ॥ १३ ॥ (यदि ऐसा करते हुए वैराग्य न उत्पन्न हो तो इसी आश्रम में रहे ।

यदि वानप्रस्थधर्मों का अनुष्ठान करते हुए विरक्ति आ जाये तो) वैराग्योपजनि के अनन्तर अग्नियों को अपने में समारोपित कर आत्मविषयक ध्यान में तत्पर हो जाना चाहिये अर्थात् उत्तराध्यायप्रतिपाद्य संन्यासग्रहण करना चाहिये । इस प्रकार अग्निरहित और आवासरहित हो मनन करते हुए मोक्षार्थ साधना में तत्पर रहे ॥ १४ ॥ अथवा (यदि ध्यान में लगा रहना संभव न हो तो) एकाग्रतापूर्वक उपनिषदों का अभ्यास (श्रवण-मनन) करे । उसे उन्हीं मंत्रों से त्रिपुण्ड्र धारण करना चाहिये जिनसे गृहस्थ करते हैं ॥ १५ ॥ वैराग्य उत्पन्न होने पर कुटीचक, बहूदक या हंस संन्यास लेवे । यदि मुमुक्षु हो तो परमहंस संन्यास लेवे ॥ १६ ॥ हे बृहस्पति ! तीन आश्रमों के विषय में मैंने पूरी बातें बता दीं । श्रद्धा से इन्हें प्रयत्नपूर्वक समझ लेना चाहिये ॥ १७ ॥

---

१. अथशब्दोऽत्रानन्तर्यार्थः । वाशब्दश्च यावज्जीवं वानप्रस्थाश्रमविकल्पार्थः । वैराग्यं चेज्जायेत संन्यसेत्, न चेत्तत्स्याद् वनस्थ एव तिष्ठेदित्यर्थः ।

षष्ठोऽध्यायः

ईश्वर उवाच—अथातः संप्रवक्ष्यामि संन्यासं मुनिसत्तम । चतुर्विधास्तु विज्ञेया भिक्षवो वृत्तिभेदतः ॥ १ ॥

कुटीचको मुनिश्रेष्ठ तथैव च बहूदकः । हंसः परमहंसश्च तेषां वृत्तिं वदामि ते ॥ २ ॥

कुटीचकश्च संन्यस्य स्वे स्वे वेश्मनि नित्यशः । भिक्षामादाय भुञ्जीत स्वबन्धूनां गृहेऽथवा ॥ ३ ॥

शिखी यज्ञोपवीती स्यात्त्रिदण्डी सकमण्डलुः । सपवित्रश्च काषायी गायत्रीं च जपेत्सदा ॥ ४ ॥

सर्वाङ्गोद्धूलनं कुर्यात्त्रिपुण्ड्रं च त्रिसंधिषु । शिवलिङ्गार्चनं कुर्याच्छ्रद्धयैव दिने दिने ॥ ५ ॥

वनस्थप्रसङ्गेनोद्दिष्टमेव कुटीचकादिचतुष्टयं तद्धर्माभिधानाय पुनरनुवदति—अथात इति । अत उक्तमाश्रमत्रयं धर्मस्कन्धः सांसारिकफलविषय एव । श्रूयते हि—'त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति । प्रथमस्तप एव । द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी । तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ती'ति । अतस्ततो विरक्तस्यानन्तरमपुनरावृत्तिरूपब्रह्मप्राप्तये ज्ञानस्कन्धः संन्यास उच्यते । श्रूयते हि—'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इति । ब्रह्मणि संस्था सम्यङ्निष्ठा यस्य चतुर्थाश्रमिणः स ब्रह्मसंस्थः स एवामृतत्वमपवर्गं प्राप्नोति । आश्रमान्तराणामपि ब्रह्मसंस्था[1]त्वसंभवं [2]प्रापय्य परिहृतं हि तत्त्वविद्भिः—'लोककाम्याश्र[3]मी ब्रह्मनिष्ठामर्हति या न वा । यथावकाशं ब्रह्मैव ज्ञातुमर्ह[4]त्यवारणात् ॥ अनन्यचित्तता ब्रह्मनिष्ठाऽसौ कर्मिणे कथम् । कर्मत्यागी ततो ब्रह्मनिष्ठामर्हति नेतरः' इति । विवृतं चैतत्तैरेव त्रयो धर्मस्कन्धा इत्यत्राऽऽश्रमानधिकृत्य 'सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति' इति । आश्रमानुष्ठायिनां पुण्यलो[5]कमभिधाय 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इति मोक्षसाधनत्वेन ब्रह्मनिष्ठा प्रतिपाद्यते । सेयं ब्रह्मनिष्ठा पुण्यलोककामिन आश्रमिणोऽपि संभाव्यते । आश्रमकर्माण्यनुष्ठाय यथावकाशं ब्रह्मनिष्ठायाः कर्तुं सुकरत्वात् । न हि लोककामी ब्रह्म न जानीयादिति निषेधोऽस्ति[6], तस्मादस्ति सर्वस्याऽऽश्रमिणो ब्रह्मनिष्ठतेति प्राप्ते ब्रूमः—ब्रह्मनिष्ठा नाम सर्वव्यापारपरित्यागेनानन्यचित्ततया ब्रह्मणि समाप्तिः । नचासौ कर्मशूरे[7] संभवति कर्मानुष्ठानत्यागयोः परस्परविरोधात् । तस्मात्कर्मत्यागिन एव ब्रह्मनिष्ठेति । वृत्तिभेदत इति । आचारभेदतः ॥ १ ॥ २ ॥

तत्र कुटीचकस्य वृत्तिमाह—कुटीचकश्चेति ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

सन्न्यासविधिनिरूपण नामक छठा अध्याय

भगवान् ने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ ! अब मैं संन्यास के विषय में बताऊँगा । भिक्षु चार प्रकार के होते हैं । कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस—ये चार प्रकार के संन्यासी होते हैं । इनके धर्म संक्षेप से बताता हूँ ॥ १—२ ॥

कुटीचकसंन्यासी को रोज़ अपने घर से ही भिक्षा ले लेनी चाहिये । अथवा अपने बन्धुओं के घर से भिक्षा लेकर खा लेवे ॥ ३ ॥ शिखा, यज्ञोपवीत, त्रिदण्ड, कमण्डलु और पवित्र (कुश) का धारण करे तथा गैरिक वस्त्र पहने और सदा गायत्री जपता रहे ॥ ४ ॥ सारे शरीर में भस्मोद्धूलन करे तथा त्रिपुण्ड्र धारण करे । प्रतिदिन तीनों संध्याओं के समय श्रद्धापूर्वक शिवलिंग की पूजा करनी चाहिये ॥ ५ ॥

---

१. ङ. °स्थात्वं सं । २. घ. प्राप्य । ३. ङ. °श्रमो ब्र° । ४. ङ. °र्हस्यवा° । ५. ङ. °लोकानभि° । ६. ग. ङ. °स्ति स° । ७. असन्न्यासिनो ब्रह्मनिष्ठा चेदसौ सदा कर्म कुर्वतः कदाचित्तत्कुर्वतो वेति विकल्प्य नाद्यस्येत्याह—कर्मशूर इति । ज्ञानपूर्वकत्वान्निष्ठायाः सदा कर्तु र्ज्ञानासंभवान्नतरां निष्ठाप्रसंग इत्यर्थः । न द्वितीयस्येत्याह—कर्मानुष्ठानेति । कर्मच्छिद्रेषु ज्ञानस्य संभवेऽपि तद्दार्ढ्यलक्षणनिष्ठायास्तेष्वसंभवात् । नाहं कर्तेति निश्चयोऽचलो दार्ढ्यं । न हि नित्यादिकुर्वतोऽसौ स्यान्नित्यं करिष्ये करिष्य इति स्वकर्तृत्वाभ्यासं कुर्वत इति भावः ।

बहूदकश्च संन्यस्य बन्धुपुत्रादिवर्जितः । सप्तागारं चरेद्भैक्ष्यमेकान्नं परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥
गोवालरज्जुसंबद्धं त्रिदण्डं शिक्यमद्भुतम् । पात्रं जलपवित्रं च कौपीनं च कमण्डलुम् ॥ ७ ॥
आच्छादनं तथा कन्थां पादुकां छत्रमद्भुतम् । पवित्रमजिनं सूचीं पक्षिणीमक्षसूत्रकम् ॥ ८ ॥
योगपट्टं बहिर्वस्त्रं मृत्खनित्रीं कृपाणिकाम् । सर्वाङ्गोद्धूलनं तद्वत् त्रिपुण्ड्रं चैव धारयेत् ॥ ९ ॥
शिखी यज्ञोपवीती च देवताराधने रतः । स्वाध्यायी सर्वदा वाचमुत्सृजेत्स्थानतत्परः[1] ॥ १० ॥
संध्याकालेषु सावित्रीं जपन्कर्म समाचरेत् । हंसः कमण्डलुं शिक्यं भिक्षापात्रं तथैव च ॥ ११ ॥
कन्थां कौपीनमाच्छाद्यमङ्गवस्त्रं बहिःपटम् । एकं तु वैणवं दण्डं धारयेन्नित्यमादरात् ॥ १२ ॥
त्रिपुण्ड्रोद्धूलनं कुर्याच्छिवलिङ्गं समर्चयेत् । अष्टग्रासं सकृन्नित्यमश्नीयात्सशिखं भवेत् ॥ १३ ॥
संध्याकालेषु सावित्रीजपमध्यात्मचिन्तनम् । तीर्थसेवां तथा कृच्छ्रं तथा चान्द्रायणादिकम् ॥ १४ ॥
कुर्वन्ग्रामैकरात्रेण न्यायेनैव समाचरेत् । परहंसस्त्रिदण्डं च रज्जुं गोवालनिर्मितम् ॥ १५ ॥
शिक्यं जलपवित्रं च पवित्रं च कमण्डलुम् । पक्षिणीमजिनं सूचीं मृत्खनित्रीं कृपाणिकाम् ॥ १६ ॥

बहूदकस्य वृत्तिमाह–**बहूदकश्चेति** ॥ ६ ॥

जलपवित्रं जलशोधनवस्त्रम् ॥ ७ ॥ ८ ॥

मृत्खनित्रीमिति । मृत्खन्यते यया स्नानाद्यर्थं तां कृपाणिकां कृपाणाकारतीक्ष्णलोहघटितां यष्टिम् ॥ ९ ॥

स्वाध्यायीति । स्वाध्याय एवोत्सृज्यमानो वाचमित्यापस्तम्बः ॥ १० ॥

हंसस्य वृत्तिमाह–**हंसः कमण्डलुमिति** ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥

बहूदक को चाहिये कि बंधु, पुत्रादि के घरों को छोड़ अन्य किन्हीं सात घरों से भिक्षा लेकर खाये । रोज़ एक ही जगह से भिक्षा न लेवे ॥ ६ ॥ गोवालरज्जु से बँधा त्रिदण्ड, झोला, बर्तन, पानी छानने का कपड़ा, कौपीन, कमण्डलु, बिछाने का वस्त्र, गुदड़ी, पादुका, छाता, पवित्र मृगादि-चर्म, सुई, पक्षिणी (जप करते हुए हाथ को सहारा देने वाली लकड़ी), रुद्राक्षमाला, योगपट्ट (अलफी), बाहिरी वस्त्र, स्नानादि के लिये मिट्टी खोदने वाली खुरपी–इन सबको साथ रखना चाहिये । सारे देह में भस्मोद्धूलन करे और त्रिपुण्ड्र लगाये ॥ ७–९ ॥ शिखा-यज्ञोपवीत रखे रहे व देवताराधन में तत्पर हो । सर्वदा स्वाध्याय करे (वेदाभ्यास करे) । अन्य काल में मौन रहे और परमस्थान मोक्ष का इच्छुक बने । संध्याओं के समय गायत्रीजप करते हुए कृत्यसंपादन करे ॥ १०$^1/_2$ ॥

हंस संन्यासी को कमण्डलु, झोला, भिक्षापात्र, गुदड़ी, कौपीन, बिछाने का वस्त्र, कटिवस्त्र, उत्तरीय, तथा बाँस का एक दण्ड धारण करना चाहिये ॥ ११–१२ ॥ त्रिपुण्ड का उद्धूलन करे व शिवलिंग की अर्चना करे । दिन में एक बार खाये और वह भी केवल आठ कौर । हंस शिखा सहित होता है ॥ १३ ॥ प्रातः आदि संध्याओं के समय गायत्री का जप और आत्मचिन्तन करे । तीर्थों में भ्रमण करे । कृच्छ्र, चान्द्रायणादि व्रत रखे तथा गाँव में एक रात से अधिक न रुके ॥ १४$^1/_2$ ॥

परमहंस इन सबका त्याग करे–त्रिदण्ड, गोवालरज्जु, झोला, पानी छानने का कपड़ा, पवित्र (कुश), कमण्डलु, पक्षिणी, मृग आदि के चर्म, सुई, खुरपी, शिखा, यज्ञोपवीत तथा (संध्यादि) नित्यकर्म । इनका ग्रहण कर सकता है–कौपीन, बिछाने

१. °जेद्ध्यान° इति बालमनोरमापाठः ।

शिखां यज्ञोपवीतं च नित्यकर्म परित्यजेत्[1] । कौपीनाच्छादनं वस्त्रं कन्थां शीतनिवारिकाम् ॥ १७ ॥

योगपट्टं बहिर्वस्त्रं पादुकां छत्रमद्भुतम् । अक्षमालां च गृह्णीयाद्वैणवं दण्डमव्रणम् ॥ १८ ॥

अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैः कुर्यादुद्धूलनं मुदा । ओमोमिति च त्रिः प्रोच्य परहंसस्त्रिपुण्ड्रकम् ॥ १९ ॥

मृत्पात्रं कांस्यपात्रं वा दारुपात्रं च वैणवम् । पाणिपात्रं च गृह्णीयादाचम्यैव तथोदरम् ॥ २० ॥

बहूदकानां हंसानां पाणिपात्रं तथोदरम् । कांस्यपात्रं न विध्युक्तं मृत्पात्रमिति हि श्रुतिः ॥ २१ ॥

माधूकरमथैकान्नं परहंसः समाचरेत् । नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ॥ २२ ॥

तस्माद्योगानुगुण्येन भुञ्जीत परहंसकः । अभिशस्तं समुत्सृज्य सार्ववर्णिकमाचरेत् ॥ २३ ॥

उत्तरोत्तरलाभे तु पूर्वं पूर्वं परित्यजेत् । गुरुशुश्रूषया नित्यमात्मज्ञानं समभ्यसेत् ॥ २४ ॥

परमहंसस्याऽऽह–पर[2]**हंसस्त्रिदण्डमिति** ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥

ओमोमिति । अजपासहितेन प्रणवेन त्रिरुक्तेन त्रिपुण्ड्रं कुर्यात् ॥ १९ ॥

हेयोपादेयविभागविवक्षया प्रथमं साधारण्येन सं[3]भवत्पात्रजातमुद्दिशति–**मृत्पात्रमिति** । एतच्चालाबुपात्रस्याप्युपलक्षणम् । 'मृत्पात्रमलाबुपात्रं दारुपात्रं वा' इत्यारुणिश्रुतेः । उद्दिष्टमध्य उपादेयमाह–**दारुपात्रमिति** । एतच्च कांस्यव्यति[4]रिक्तस्योक्तस्योपलक्षणम् । उपादेयमन्यदपि समुच्चिनोति–**तथोदरमिति** ॥ २० ॥

एतच्च न केवलं परमहंसानामेवेत्याह–**बहूदकानामिति** । पात्रान्तरमपि समुच्चिनोति–**पाणिपात्रमिति** । यथोदरं तथा पाणिपात्रं चेत्यर्थः तथा चाऽऽरुणिश्रुतिः–'पाणिपात्रमुदरपात्रं च' इति । उपादेयमभिधाय हेयमाह–**कांस्यपात्रं** नेति । **मृत्पात्रमिति हि श्रुतिरिति** यथोदीरितारुणिश्रुतिः ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥

का वस्त्र, पहनने का वस्त्र, शीतनिवारक गुदड़ी, योगपट्ट (अलफी), ओढ़ने का वस्त्र, पादुका, छाता, रुद्राक्ष की माला और बाँस का छेदादि-रहित दण्ड ॥ १५–१८ ॥ 'अग्निरिति' आदि मंत्रों का उच्चारण कर भस्मोद्धूलन तथा तीन बार ॐ बोलकर त्रिपुण्ड्र धारण करना चाहिये ॥ १९ ॥ मिट्टी, काँसा, लकड़ी, या बाँस का बर्तन आचमन पूर्वक ग्रहण करना चाहिये । अथवा करपात्र ही रहे या उदरपात्र ही रहे । (हाथ से अतिरिक्त पात्र न रखने वाला करपात्र है । जो हाथ से भी बर्तन का काम न ले, केवल जो पेट में समा जाये उतना ही ग्रहण कर ले वह उदरपात्र है । अथवा करपात्र और उदरपात्र का समुच्चय है अर्थात् मृदादिपात्र न रख केवल हाथ और पेट को ही पात्र बनाये–खाने के लिये हाथ रूप और रखने के लिये पेटरूप बर्तन ।) ॥ २० ॥ बहूदकों व हंसों के लिये भी पाणि और उदर पात्र रूप से विकल्पित हैं । उन्हें काँसे का पात्र नहीं रखना चाहिये । हाथ व पेट से अतिरिक्त पात्र रखना हो तो उन्हें मिट्टी का पात्र रखना चाहिये, यही श्रुतिसंमत है ॥ २१ ॥ परमहंस चाहे माधूकरी वृत्ति से भिक्षा ले चाहे किसी एक घर से भिक्षा ले लेवे । न अधिक खाये और न सर्वथा भूखा रहे । अधिक खाने व न खाने से साधना में प्रतिरोध होता है । अतः साधना के चलते रहने के लिए जितना अनुकूल हो उतना आहार परमहंस के लिये विहित है । अभिशस्तों को छोड़कर सभी वर्णों से भिक्षा ली जा सकती है । ब्राह्मणादि से भिक्षा प्राप्त हो सके तो क्षत्रियादि से भिक्षा नहीं लेनी चाहिये । इसी क्रम से अन्य वर्णों के विषय में समझना चाहिये । सदा गुरु की सेवा करते हुए आत्मज्ञान का अभ्यास करे ॥ २४ ॥ स्नान, सफाई और आत्मध्यान का अनुष्ठान करे । सत्य व झूठ सभी व्यवहार छोड़े । काम, क्रोध,

---

१. इहान्यत्र च सर्वत्र शिखोपवीतयोस्त्यागएव शास्त्रविहितो, न कथंचिदपि पुनर्ग्रहणम्, एवमपि केचित्परमहंसब्रुवः शिखोपवीते पुनरादाय दण्डे स्थापयन्ति, स तेषामाचारश्चिन्त्यमूल इति सुधीभि र्विभावनीयम् । २. क. ख. घ. °रमहं° । ३. ङ. °भवात्पा° । ४. ग. °तिक्रमस्यो° ।

स्नानं शौचमभिध्यानं सत्यानृतवि[1]वर्जनम् । कामक्रोधपरित्यागं हर्षरोषविवर्जनम् ॥ २५ ॥

लोभमोहपरित्यागं दम्भदर्पादिवर्जनम् । चातुर्मास्यं च सर्वेषां वदन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ २६ ॥

कुटीचकाश्च हंसाश्च तथैव च बहूदकाः । सावित्रीमात्रसंपन्ना भवेयुर्मोक्षकारणात् ॥ २७ ॥

प्रणवाद्यास्त्रयो वेदाः प्रणवे पर्यवस्थिताः । तस्मात्प्रणवमेवैकं परहंसः सदा जपेत् ॥ २८ ॥

संध्याकालेषु शुद्धात्मा प्रणवेन समाहितः । षट्प्राणायामकं कुर्याज्जपेदष्टोत्तरं शतम्[2] ॥ २९ ॥

विविक्तदेशमाश्रित्य सुखासीनः समाहितः । यथाशक्ति समाधिस्थो भवेत्संन्यासिनां वरः ॥ ३० ॥

क्रमाद्वाऽक्रमतो विद्वानुत्तमां वृत्तिमाश्रयेत् । उत्तमां वृत्तिमापन्नो न नीचां वृत्तिमाश्रयेत् ॥ ३१ ॥

सत्यानृतविवर्जनमिति । असत्यवत्सत्यमपि व्यवहारं शक्यं विवर्जयेत् । चित्तैकाग्र्यविरोधादित्यर्थः । श्रूयते हि–'तमेवैकं जा[3]नथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ' इति । स्मर्यते च–'त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज । उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि[4] तं त्यज' । इति ॥ २५ ॥

चातुर्मास्यमिति । वर्षास्वेकत्र यासं, चत्वारो मासाश्चातुर्मास्यम्[5] । तद्धितार्थे द्विगुः । 'चतुर्वर्णादिभ्यः स्वार्थे' इति ष्यञ् ॥ २६ ॥

सर्वेषां चतुर्विधानां यतीनां परमहंस[6]व्यतिरिक्तस्य प्रधानं जप्यमाह–**कुटीचका** इति । मोक्षं प्रयोजनमुद्दिश्य सावित्र्यैव तत्त्वमनुसंदध्युरित्यर्थः ॥ २७ ॥

परमहंसस्य प्रणवैकनिष्ठतां विवक्षुः प्रणवस्योत्कृष्टतामाह–**प्रणवाद्या** इति । ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह 'ब्रह्मोपाप्नवानीति' 'ब्रह्मैवोपाप्नोति' इति श्रुतेः । **प्रणवे पर्यवस्थिता** इति । प्रणवस्य वेदत्रयसारत्वात्तत्प्रतिनिधित्वम् । तथात्वं च श्रूयते छान्दोग्योपनिषदि बह्वृचब्राह्मणे च । लोकदेववेदव्याहृत्यक्षरत्रयसारत्वं प्रणवस्य । तैत्तिरीयोपनिषदि च ब्रह्मयज्ञप्रकरणे 'ॐमिति प्रपद्यत एतद्वै यजुस्त्रयीं विद्यां प्रति' इति ॥ २८ ॥

षडिति । षण्णां प्राणायामानां समाहारः षट्प्राणायामम् । '[7]पात्रादिभ्यः प्रतिषेधः' इति न ङीप् । स्वार्थे कप्रत्ययः ॥ २९ ॥ ॥ ३० ॥

क्रमादिति । 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद् गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्' इति जाबा[8]लश्रुतिः । **अक्रमतो वेति** । 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा' इति तत्रैव ॥ ३१ ॥

हर्ष, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प आदि का परित्याग करना चाहिये ॥ २५½ ॥

सभी प्रकार के संन्यासियों के लिये वर्षा ऋतु में एक स्थान पर रहना रूप चातुर्मास्य व्रत बताया गया है ॥ २६ ॥ कुटीचक, हंस और बहूदक को चाहिये कि मोक्ष के उद्देश्य से केवल गायत्री का जप करें ॥ २७ ॥

तीनों वेद प्रणव से प्रारंभ होते हैं और उसीमें समाप्त होते हैं । अतः परमहंस को केवल प्रणव का ही जप करना चाहिये ॥ २८ ॥ संध्याओं के समय एकाग्रचित हो प्रणव से छह प्राणायाम कर एक सौ आठ बार प्रणव का जप करना चाहिये ॥ २९ ॥ एकान्त स्थान में रहकर, आराम से बैठकर, इंद्रियादि को उपरतकर यथासामर्थ्य समाधि में स्थित रहना परमहंस के लिये श्रेष्ठ है ॥ ३० ॥

जानकार को चाहिये कि ब्रह्मचर्य के बाद क्रम से या एक अथवा दो को लाँघकर अगले आश्रम का ग्रहण करे । किन्तु कभी अगले आश्रम में पहुँच कर पिछले आश्रम में न जाये ॥ ३१ ॥ जो व्यक्ति उत्तर आश्रम ग्रहणकर फिर पूर्व आश्रम

१. ङ. °वर्जितम् । २. प्रणवस्येति शेषः । ३. ङ. जानीथ । ४. ग. °सि. तत्त्यज" । ५. अत्र च मासपदं पक्षपरमिति सम्प्रदायः । ६. घ. °हंसातिरि° । ७. क. ख. ग. ङ. मन्त्रादिभ्यः । ८. ग. °बालिश्रु° ।

उत्तमां वृत्तिमाश्रित्य नीचां वृत्तिं समाश्रितः । आरूढपतितो ज्ञेयः सर्व[1] धर्मबहिष्कृतः ॥ ३२ ॥
प्रव्रजन्तं द्विजं दृष्ट्वा स्थानाच्चलति भास्करः । एष मे मण्डलं भित्त्वा ब्रह्मलोकं गमिष्यति ॥ ३३ ॥
रूपं[2] तु द्विविधं प्रोक्तं चरं चाऽचरमेव च । चरं संन्यासिनां रूपमचरं मृन्मयादिकम् ॥ ३४ ॥
यस्याऽऽश्रमे यतिर्नित्यं वर्तते मुनिसत्तम । न तस्य दुर्लभं किंचित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ ३५ ॥
दुर्वृत्तो वा सुवृत्तो वा मूर्खो वा पण्डितोऽपि वा । वेषमात्रेण संन्यासी पूज्यः सर्वेश्वरो यथा ॥ ३६ ॥
ब्रह्मचर्याश्रमस्थानां ब्रह्मा देवः प्रकीर्तितः । गृहस्थानां च सर्वे स्युर्यतीनां तु[3] महेश्वरः ॥ ३७ ॥
वानप्रस्थाश्रमस्थानामादित्यो देवता मता । तस्मात्सर्वेषु कालेषु पूज्यः संन्यासिनां हरः ॥ ३८ ॥
मृते न दहनं कार्यं परहंसस्य सर्वदा । कर्तव्यं खननं[4] तस्य नाशौचं नोदकक्रिया ॥ ३९ ॥
अश्वत्थस्थापनं कार्यं तद्देशेऽध्वर्युणा मुने । अश्वत्थे स्थापिते तेन स्थापितो हि महेश्वरः ॥ ४० ॥
दर्शनात्स्पर्शनात्तस्य सर्वं नश्यति पातकम् । अन्येषामपि भिक्षूणां खननं पूर्वमाचरेत् ॥ ४१ ॥
पश्चाद्गृही यथाशास्त्रं कुर्याद्दहनमुत्तमम् । अश्वमेधफलं तस्य स्नानमात्राद्विशुद्धता ॥ ४२ ॥
सर्वमुक्तं समासेन तव शिष्यस्य धीमतः । तस्मादेतद्विजानीहि वेदान्तार्थप्रकाशनम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीसूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे संन्यासविधिनिरूपणं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

अश्वत्थे स्थापित इति । तेनाध्वर्युणा । तत्राश्वत्थस्य स्थापनमात्रेणापि शिवलिङ्गस्थापनेन यत्फलं तल्लभ्यत इत्यर्थः । तस्य प्रकृतस्य तस्मिन्स्थाने स्थापितस्याश्वत्थस्य महेश्वरस्य वा[5] दर्शनस्पर्शनाभ्यां सर्वपातकनाश इत्यर्थः ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

इति श्री सूति संहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्डे संन्यासविधिनिरूपणं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥

ग्रहण करता है उसे आरूढपतित कहते हैं और वह सभी धर्मों से बहिष्कृत है ॥ ३२ ॥

प्रव्रज्या लेते हुए ब्राह्मण को देखकर सूर्य भी यह सोचकर विचलित हो जाता है कि यह मेरे मण्डल का भेदन कर ब्रह्मलोक चला जायेगा ॥ ३३ ॥ नारायण के चर और अचर दो रूप समझने चाहिये । संन्यासी चररूप है तथा मृन्मयादि विग्रह अचररूप हैं ॥ ३४ ॥ जिस स्थान पर सदा संन्यासी रहता है वहाँ कोई वस्तु दुर्लभ नहीं ॥ ३५ ॥ दुश्चरित्र हो चाहे सच्चरित्र, मूर्ख हो या पण्डित, संन्यासी के वेष में जो हो वह सर्वेश्वर की तरह पूजनीय ही होता है ॥ ३६ ॥ ब्रह्मचर्य आश्रमों वालों के देवता हैं ब्रह्मा । गृहस्थों के सभी देवता हैं । संन्यासियों के देवता महेश्वर हैं ॥ ३७ ॥ वानप्रस्थियों के देवता आदित्य हैं । अतः संन्यासियों को सब समय भगवान् हर की आराधना करनी चाहिये ॥ ३८ ॥ मरने पर परमहंस का शरीर जलाना नहीं चाहिये । ज़मीन में गाड़ देना चहिये । परमहंस के मरने से न कोई अशौच होता है और न तर्पण देना पड़ता है ॥ ३९ ॥ जहाँ परमहंस को गाड़ा हो वहाँ पीपल का पेड़ लगा देना चाहिये । अश्वत्थ की स्थापना से महादेव ही स्थापित हो जाते हैं ॥ ४० ॥ उसके दर्शन और स्पर्श से सारे पाप नष्ट हो जाते हैं । परमहंस से अन्य संन्यासियों को भी मर चुकने पर पहले गाड़ना चाहिये । बाद में (उनके पुत्रादि) गृहस्थ को चाहिये कि उनका दाह करे । दाहक को अश्वमेध करने का फल मिलता है तथा स्नान करने से ही शुद्धि हो जाती है (मृतक अशौच नहीं लगता) ॥ ४१–४२ ॥ मेरे पास शिष्यभाव से आये तुम्हें मैंने संन्यासियों के विषय में भी सब बता दिया । अतः मेरे इस उपदेश को वेदान्त-प्रतिपाद्य का स्पष्टीकरण समझना । ('अतः' अर्थात् क्योंकि तुम शिष्य हो और तुम्हारे कल्याण के लिये यह उपदेश है इसलिये । वेदान्त प्रतिपाद्य अद्वैतात्मबोध के आरादुपकारक धर्मों का उपदेश भी परंपरा से बोधफलक होने से उसके ही साधन-भाग का स्पष्टीकरण है) ।

१. ख. °र्वकर्म° । २. नारायणस्येति शेषः । ३. ख. च । ४. आधुनिकशिष्टाचारस्तु जलप्रवाह इति ज्ञेयम् । ५. ङ. च. ।

सप्तमोऽध्यायः

ईश्वर उवाच–अथातः संप्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तं समासतः । दोषाणामपनुत्त्यर्थं सर्वभूतानुकम्पया ॥ १ ॥
ब्रह्महा मद्यपः स्तेनस्तथैव गुरुतल्पगः । एते वेदविदां श्रेष्ठा महापातकिनः स्मृताः ॥ २ ॥
एभिः सह वसेद्यस्तु संवत्सरमसावपि । ब्रह्महा निर्जनेऽरण्ये कुटीं कृत्वा वसेन्नरः ॥ ३ ॥
द्वादशाब्दानि संतप्तः सर्वदा विजितेन्द्रियः । भिक्षामाहृत्य भुञ्जीत स्वदोषं ख्याप[1] यन्नृणाम् ॥ ४ ॥
शाकमूलफलाशी वा कृत्वा शवशिरोध्वजम् । संपूर्णे द्वादशे वर्षे ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥ ५ ॥
अकामकृतदोषस्य प्रायश्चित्तमिदं मुने । कामतश्चेन्मुनिश्रेष्ठ प्राणान्तिकमुदीरितम् ॥ ६ ॥
अथवा मुनिशार्दूल पापशुद्ध्यर्थमात्मनः । ग्रामादनलमाहृत्य प्रविशेत्परिता[2] पतः ॥ ७ ॥
पश्चादनशनो भूत्वा धर्मयुद्धेऽथ वाऽनले । अप्सु वा मुनिशार्दूल महाप्रस्थानकेऽपि वा ॥ ८ ॥

नित्यधर्माभिधानानन्तरं नैमित्तिकधर्माभिधानायाध्यायान्तरमार[3]भ्यते–अथात इति । यत उक्तस्य विधिनिषेधात्मकस्य नित्यस्य धर्मस्य प्रमादादिना व्यतिक्रमे तन्निमित्तप्रायश्चित्तापेक्षाऽतो नित्यानन्तरं तदुच्यत इत्यर्थः ॥ १ ॥

अपनोदनीयान्प्रधानदोषानुक्रामति–ब्रह्महेति । तथाच च्छान्दोग्योपनिषदि 'स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिब ँश्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाऽऽचरंस्तैः' इति ॥ २ ॥

वसेदिति वचनात्सहवासादिनैव संवत्सरात्पातित्यम्[4] । याजनाध्यापन[5]यौनसंबन्धैस्तु सद्यः पातित्यम् । यदाह याज्ञवल्क्यः– 'संवत्सरेण पतति पतितेन सहाऽऽचरन् । याजनाध्यापनाद्यौ[6]नात्र तु पानाशनादितः' ॥ इति ॥ [7]उक्तनिमित्ताना[8]मुद्देशक्रमेण प्रायश्चित्तान्याह–ब्रह्महा निर्जन इत्यादि ॥ ३ ॥ भुञ्जीतेति भुञ्जीयात् ॥ ४ ॥

प्रायश्चित्तविधि-निरूपण नामक सातवाँ अध्याय

शंकर भगवान् ने आगे कहा–क्योंकि नित्यादि धर्मों में प्रमादादि से ग़लती संभव है इसलिये अब मैं दोष हटाने वाले प्रायश्चित्तों को संक्षेप से बताता हूँ ॥ १ ॥

ब्राह्मण का वध करने वाला, सुरा पीने वाला, चोरी करने वाला तथा गुरुपत्नी से समागम करने वाला–ये सब वेदज्ञों द्वारा महापापी कहे गये हैं। (सुरा पीने वाला ब्राह्मण विशेषतः समझना चाहिये। इसी तरह सोने की चोरी करने वाला समझना चाहिये।) ॥ २ ॥ इन महापापियों के साथ जो व्यक्ति एक साल रह जाये वह भी महापापी ही समझा जाना चाहिये। ब्रह्महत्यारे के लिये प्रायश्चित्त यह है कि वह निर्जन जंगल में कुटिया बनाकर बारह साल तक सन्ताप करते हुए रहे। उसे उस दौरान जितेन्द्रिय रहना चाहिये और अपने पाप को प्रकट करते हुए भिक्षा लेकर जीवन चलाना चाहिये। अथवा शाक, मूल व फल खाकर ही रह जाये। उसे अपने साथ एक छड़ी रखनी चाहिये जिसके एक सिरे में मानव मुण्ड जड़ा हो। बारह वर्ष पूरे होने पर ब्रह्महत्या का दोष निवृत्त हो जाता है ॥ ३–५ ॥ बिन चाहे (दुर्घटनादि से) हुई ब्रह्महत्या का यह प्रायश्चित्त है। यदि जानबूझकर ब्राह्मण का वध किया हो तब तो विधिवत् आत्महत्या को प्रायश्चित्त बताया गया है। अथवा गाँव से अग्नि लाकर सखेद उसमें प्रवेश करे व तदनंतर (बच जाये तो) अनशन कर या धर्मयुद्ध में या अग्नि में ही या जल में या महाप्रस्थान में शरीर छोड़े। (मरने के उद्देश्य से हिमालय की ओर जाना महाप्रस्थान कहा जाता है। यह कलिवर्ज्यों में गिना गया है।) अथवा ब्राह्मण की या गाय की रक्षा के लिये प्राणत्याग करे ॥ ६–८½ ॥

---

१. घ. ङ. °पयेन्नृ° । २. ङ. °तापितः । ३. ङ. °रभते° । ४. ग. °म् । यज° । ५. घ. ङ. °नयोनिसं° । ६. ख. °नादन्नपानाशनासनात्" इ° । ७. घ. उक्तानां नि° । ८. ग. °नामनुद्दे° ।

ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा सम्यक्प्राणान्परित्यजेत् । सुरापानादिदोषोऽपि नश्य[1]त्येतेन सुव्रत ॥ ९ ॥
अग्निवर्णां सुरां तप्तां प्राणविच्छेदनक्षमाम् । पीत्वा नष्टशरीरस्तु सुरापानात्प्रमुच्यते ॥ १० ॥
गोमूत्रं वा घृतं तोयं गोशकृद्रसमेव वा । अतितप्तं पिबेत्तेन मृतो मुच्येत दोषतः ॥ ११ ॥
सुवर्णस्तेयकृत्साक्षाद्राजानमभिगम्य तु । स्वकर्म ख्यापयन्ब्रूयान्मां भवाननुशास्त्विति ॥ १२ ॥
आयसं मुसलं तीक्ष्णं गृहीत्वा स्वयमेव तु । हन्यात्सकृत्प्रयोगेण राजा तं पुरुषाधमम् ॥ १३ ॥
मुच्यते स्तेयदोषेण नास्ति राज्ञोऽपि पातकम् ।[2] अवगूहेत्स्त्रियं तप्तामयसा निर्मितां नरः ॥ १४ ॥
स्वयं वा शिश्नवृषणावुत्पाट्याऽऽधाय चाञ्जलौ । दक्षिणां दिशमागच्छेद्यावत्प्राणविमोचनम् ॥ १५ ॥
अनेन विधिना युक्तो मुच्यते गुरुतल्पगः । तप्तकृच्छ्रं चरेत्तप्तः संवत्सरमतन्द्रितः ॥ १६ ॥
महापातकिनां नृणां संसर्गात्स विमुच्यते । मातरं मातृसदृशीं भागिनेयीं तथैव च ॥ १७ ॥
मातृष्वसारमारुह्य कुर्यात्कृच्छ्रातिकृच्छ्रकौ । चान्द्रायणं च कुर्वीत तत्पापविनिवृत्तये ॥ १८ ॥

शवशिरोध्वजमिति । स्मर्यते हि–'शिरःकपाली ध्वजवान्भिक्षाशी क्रर्म चोदयन्' इति ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

अवगूहेदिति । आश्लिषेत् ॥ १४ ॥ १५ ॥

तप्तकृच्छ्रमिति । तप्तकृच्छ्रलक्षणमुक्तं यमेन–'त्र्यहमुष्णं पिबेदम्भस्त्र्यहमुष्णं पयः पिबेत् । त्र्यहमुष्णं पिबेत्सर्पिर्वायुभक्षः परं त्र्यहम् ॥ तप्तकृच्छ्रं विजानीयाच्छीते शीतमुदाहृतम्' इति । अम्भःप्रभृतीनां परिमाणमुक्तं पराशरेण–'षट्पलं तु पिबेदम्भस्त्रिपलं तु पयः पिबेत् । पलमेकं पिबेत्सर्पिस्तप्तकृच्छ्रं विधीयते' इति ॥ १६ ॥ १७ ॥

कृच्छ्रातिकृच्छ्रकाविति । द्विरावृत्तं कृच्छ्रातिकृच्छ्रकं कुर्यात् । तल्लक्षणमुक्तं याज्ञवल्क्येन–'कृच्छ्रातिकृच्छ्रः पयसा दिवसानेकविंशतिम्' इति । एकभक्तनक्तायाचितदिवसेषु यो भोजनकालस्तस्मिन्नेव काले केवलमुदकेन वा वर्तनं कृच्छ्रातिकृच्छ्रो भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

इसीसे सुरापान आदि पाप भी धुल सकते हैं। अथवा सुरा को इतना गरमकर कि उसे पीने से व्यक्ति मर जाये, उसे पीकर शरीर त्यागने वाला सुरापान के दोष से मुक्त हो जाता है ॥ ९–१० ॥ अथवा अत्यंत गरम किया गोमूत्र या घी या पानी या गोबर का रस पीकर मरने से सुरापान के दोष से मुक्त हुआ जा सकता है ॥ ११ ॥

स्वर्ण के चोर को स्वयं राजा के पास जाकर अपना अपराध स्वीकार करना चाहिये तथा राजा का कर्तव्य है वह स्वयं लोहे के तीक्ष्ण मूसल से चोर का वध कर दे। इससे वह स्वर्णस्तेय के दोष से छूट जाता है और राजा को भी कोई पाप नहीं होता ॥ १२–१३१/२ ॥

गुरुस्त्रीदूषक के लिये प्रायश्चित्त है कि लोहे से बनी स्त्रीप्रतिमा को अत्यधिक तपाकर उसका आलिंगन करे (और इस प्रकार जलकर देह छोड़े)। अथवा स्वयं अपना लिंग और अण्डकोष काटकर अंजलि में रखकर प्राण छूटने तक दक्षिण दिशा में चलता जाये। इस प्रकार गुरुतल्पगामी दोषमुक्त होता है ॥ १४–१५१/२ ॥

महापापियों के संसर्ग से दोष वाले व्यक्ति को प्रायश्चित्त रूप से एक वर्ष तक तप्तकृच्छ्र व्रत का पालन करना चाहिये ॥ १६१/२ ॥

माता, माता के समान स्त्रियों, भानजी तथा मासी के साथ समागम करने का प्रायश्चित्त है कि कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र और चान्द्रायण व्रत करे ॥ १७–१८ ॥

---

१. घ. °श्यते ते° । २. यदि परं सदोषं मुंचति तदा राजैव दोषभाग्भवति, यथोक्तम् 'अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि अनेना अभिशंसति । स्तेनः प्रमुक्तो राजनि याचन्ननृतसंगरे ॥' इति ।

स्वसारं मुनिशार्दूल गत्वा दुहितरं तु वा । कृच्छ्रं सांतपनं कुर्याद्दोषशुद्ध्यर्थमात्मनः ॥ १९ ॥
भ्रातृभार्याभिगमने चान्द्रायणचतुष्टयम् । चरेत्पापविशुद्ध्यर्थं संतप्तो ब्राह्मणोत्तमः ॥ २० ॥
पैतृष्वसे[1]यीगमने मातुलदुहितां स्त्रियम् । चान्द्रायणं चरेदेकं कामतोऽकामतोऽपि वा ॥ २१ ॥
अवशिष्टासु सर्वासु द्विजस्त्रीषु महामुने । गत्वा कृच्छ्रं चरेत्तप्तमेकं तद्दोषशान्तये ॥ २२ ॥
क्षत्रियाणां च वैश्यानां स्त्रीषु गत्वा द्विजश्चरेत् । कृच्छ्रमन्यासु बहुशो गत्वा कृच्छ्रं चरेद्[2] द्विजः ॥ २३ ॥
ब्रह्मचारी स्त्रियं गत्वा कामतो मुनिसत्तम । संवत्सरं चरेद्भैक्ष्यं वसित्वा गर्दभाजिनम् ॥ २४ ॥
स्वपापकीर्तनं [3]कुर्वन्स्नात्वा त्रिषवणं पुनः । तस्मात्पापात्प्रमुच्येत षण्मासात्कामवर्जितः ॥ २५ ॥
अग्निकार्यपरित्यागे रेतोत्सर्गे समाहितः । स्नात्वा प्रणवसंयुक्ता व्याहृतीश्च तथैव च ॥ २६ ॥
सावित्रीं सशिरां मौनी जपेदयुतमादरात् । यतीनामिन्द्रियोत्सर्गे स्नात्वा शुद्धः समाहितः ॥ २७ ॥
प्रणवं परमात्मानं जपेदयुतमादरात् । द्विजस्त्रीगमने भिक्षुरवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥ २८ ॥
अन्यासु बुद्धिपूर्वं चेत्तप्तकृच्छ्रं समाचरेत् । हत्वा वैश्यं च राजानं ब्रह्महत्याव्रतं चरेत् ॥ २९ ॥

कृच्छ्रं सांतपनमिति । तल्लक्षणमाह याज्ञवल्क्यः–'गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् । एकरात्रं चोपवसेत्कृच्छ्रं सांतपनं भवेत्' इति ॥ १९ ॥

॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

बहन या पुत्री से समागम का प्रायश्चित्त है सांतपन कृच्छ्र ॥ १९ ॥

भाभी से समागम का प्रायश्चित्त है चार बार चान्द्रायण व्रत करना । ब्राह्मण ऐसा करने से पापमुक्त हो जाता है ॥ २० ॥

भुआ या मामा की लड़की से चाहकर या अनचाहे समागम हो जाये तो प्रायश्चित्त रूप से चान्द्रायण करना चाहिये ॥ २१ ॥ (भानजीगमन का पूर्व में भी प्रायश्चित्त कहा है । अतः वह चाहकर किये समागम का और इसे अनचाहे हुए समागम का प्रायश्चित्त समझना चाहिये ।)

इनसे भिन्न किसी स्वपत्नीतर ब्राह्मण स्त्री से (ब्राह्मण का) समागम हो जाये तो उस दोष की निवृत्ति के लिये प्रायश्चित्त है तप्त कृच्छ्र ॥ २२ ॥ ब्राह्मण ने यदि क्षत्रिय या वैश्य स्त्रियों से समागम किया हो तो कृच्छ्र प्रायश्चित्त है । अन्य स्त्रियों से तीन बार समागन करने पर कृच्छ्र प्रायश्चित्त है ॥ २३ ॥

ब्रह्मचारी यदि किसी स्त्री से समागम कर ले तो एक साल तक गधे की खाल ओढ़कर अपना पाप बताते हुए भिक्षा लेकर रहे व रोज़ तीन बार नहाये । अगर अनचाहे समागम किया हो तो इस प्रकार छह महीने तक करना चाहिये ॥ २४–२५ ॥ यदि अग्निकार्य छूट जाये या रेतउत्सर्ग हो जाये तो स्नान कर प्रणव तथा व्याहृतियों सहित सशिरा गायत्री का मौन हो दस हज़ार बार जप करना चाहिये ॥ २६½ ॥ संन्यासी का यदि शुक्रत्याग हो जाये तो स्नान से शुद्धि होती है । स्नान के बाद परमात्मवाचक प्रणव का दस हज़ार जप कर लेना चाहिये ॥ २७½ ॥ ब्राह्मण स्त्री से समागम कर ले तो संन्यासी प्रायश्चित्त रूप में अवकीर्णीव्रत का पालन करे । (मनुस्मृति में (११.११८–१२३) इस व्रत का वर्णन है) ॥ २८ ॥ संन्यासी ने ब्राह्मणेतर स्त्रियों से समागम किया हो तो तप्तकृच्छ्र करना चाहिये ॥ २८½ ॥

ब्राह्मण ने यदि क्षत्रियवध किया हो तो छह महीने तक वही व्रत करना चाहिये जो ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्त रूप से बताया

---

१. क. ग. °सेयाग° । २. घ. चरेद्बुधः । ३. ग. कुर्यात्स्नात्वा ।

क्रमान्मासत्रयं पूर्वं[1] षाण्मासिकमनन्तरम् । ब्राह्मणस्तु विमुच्येत शूद्रं हत्वाऽर्धमासतः ॥ ३० ॥
विहिताकरणे तद्वत्प्रतिषिद्धातिसेवने । वेदविप्लावने चैव गुरुद्रोहेऽन्यकर्मणि ॥ ३१ ॥
तप्तकृच्छ्रं चरेत्तेन मुच्यते सर्वदोषतः । अथ वा सर्वपापानां विशुद्ध्यर्थं समाहितः ॥ ३२॥
कुर्वञ्शुश्रूषणं नित्यं वेदान्तज्ञानभाषिणाम् । श्रद्धाविनयसंयुक्तः शान्तिदान्त्यादिसंयुतः ॥ ३३ ॥
यावज्ज्ञानोदयं तावद्वेदान्तार्थं नि[2]रूपयेत् । नास्ति ज्ञानात्परं किंचित्पापकान्तारदाहकम् ॥ ३४ ॥
मासमात्राद्विनश्यन्ति क्षुद्रपापानि सुव्रत । षण्मासश्रवणात्सर्वं नश्यत्येवोपपातकम् ॥ ३५ ॥
महापातकसंघाश्च नित्यं वेदान्तसेवनात् । नश्यन्ति वत्सरात्सर्वे सत्यमुक्तं बृहस्पते ॥ ३६ ॥
यः श्रद्धया युतो नित्यं वेदान्तज्ञानमभ्यसेत् । तस्य संसारविच्छित्तिः श्रवणादिति हि श्रुतिः ॥ ३७ ॥
एवमभ्यसतस्तस्य यदि विघ्नोऽभिजायते । सर्वलोकान्क्रमाद्भुक्त्वा भूमौ विप्रोऽभिजायते[3] ॥ ३८ ॥
सर्वलक्षणसंपन्नः शान्तः सत्यपरायणः । पुनश्च पूर्वभावेन विद्वांसं पर्युपासते ॥ ३९ ॥

॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

नास्ति ज्ञानादिति । उक्तं गीतासु–'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा' ॥ इति ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

यः श्रद्धयेति । श्रवणाच्छब्द[4]शक्तितात्पर्यावधारणन्यायानुसंधानमुखेन वेदान्तज्ञानमभ्यसेत् । **तस्य संसारविच्छित्तिरि**त्यस्मिन्नर्थे श्रुतिरस्तीत्यर्थः । सा चेयम्–'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः । ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे' इति ॥ ३७ ॥

एवमभ्यसत इति । अर्जुनं प्रति भगवतोक्तम्–'प्राप्य पुण्यकृताँल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः । शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते' इति ॥ ३८ ॥

पुनश्चेति । 'पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः' इति । पर्युपासते । पर्युपास्ते शपो लुगभावश्छान्दसः ॥ ३९ ॥

गया है। ऐसे ही वैश्यवध के लिये तीन महीने तक और शूद्रवध के लिये पन्द्रह दिन तक ही व्रत रखने से प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ २९–३० ॥

विहित कर्म न करने का, प्रतिषिद्ध कर्म कर लेने का, वेदविरोध करने का, गुरुद्रोह करने का तथा ऐसे अन्य कर्मों का प्रायश्चित्त है तप्तकृच्छ्र। अथवा सभी पापों से छूटने के लिये श्रद्धा, विनय, शम, दम आदि से युक्त हो वेदान्तोपदेशक की प्रतिदिन सेवा करे और जब तक ब्रह्मात्मसाक्षात्कार न हो जाये तब तक वेदान्त के अर्थ का श्रवण मनन निदिध्यासन करता रहे। ज्ञान से अधिक शक्तिशाली कुछ नहीं है जो पापों को निवृत्त कर सके ॥ ३१–३४ ॥ एक महीने के वेदांत-श्रवण से क्षुद्रपाप निवृत्त हो जाते हैं। छह महीने वेदान्तश्रवण करने से उपपातक नष्ट हो जाते हैं। एक वर्ष तक नित्य वेदान्त का श्रवणादि करने से महापातक नष्ट हो जाते हैं। (ब्रह्महत्यादि पाँच महापाप हैं। गोवध आदि उपपातक हैं। (द्र. मनु ११.५४–६६)। अस्पृश्यस्पर्शादि क्षुद्र पाप समझने चाहिये।) ॥ ३५–३६ ॥

जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक नित्य वेदान्तज्ञान का श्रवणादिरूप अभ्यास करता है उसे उस श्रवण के प्रताप से संसार से मोक्ष मिल जाता है यह श्रुति की घोषणा है ॥ ३७ ॥ यदि यों अभ्यास करते हुए उसके ज्ञानलाभ में कोई विघ्न आ जाये तो मरकर वह उत्तम लोकों को भोगकर पृथ्वी पर ब्राह्मणकुल में जन्म पाता है तथा उत्तम लक्षणों वाला हुआ शांत और सत्यनिष्ठ होकर

१. क. ख. ग. °र्वं षण्मा° । २. ङ. निवेदयेत् । ३. आरब्धसाधनस्य जन्मत्रयादूर्ध्वं संसारो न तिष्ठतीति गीताविवरणेषु साम्प्रदायिकानामुक्तिः । ४. क. ग. ङ. °ब्दता° ।

तत्संपर्कात्स्वमात्मानमपरोक्षीकृतो मुनिः । स्वप्नादिव विमुच्येत स्वसंसारमहोदधेः ॥ ४० ॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन स्वमुक्त्यर्थं बृहस्पते । सर्वदा सर्वमुत्सृज्य वेदान्तश्रवणं कुरु ॥ ४१ ॥

इति श्रीसूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे प्रायश्चित्तविधिनिरूपणं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

ईश्वर उवाच–अथातः संप्रवक्ष्यामि दानधर्मफलं मुने । सर्वेषामेव दानानां विद्यादानं परं स्मृतम् ॥ १ ॥

[1]विद्यया प्राणिनां मुक्तिस्तस्मा[2]त्तद्दानमुत्तमम् । भूमिदानं च गोदानमर्थदानं तथैव च ॥ २ ॥

कन्यादानं च मुख्यं स्यादन्नदानं तथैवच । धनधान्यसमृद्धां यो भूमिं दद्याद्विजाय सः ॥ ३ ॥

इह लोके सुखी भूत्वा प्रेत्य चाऽऽनन्त्यमश्नुते । अरत्निमात्रां [3]या भूमिं दद्याद्ब्रह्मविदे नरः ॥ ४ ॥

सर्वपापविनिर्मुक्तः संसारमतिवर्तते । विनीतायोपसन्नाय विप्राय श्रद्धया युतः ॥ ५ ॥

यो दद्याद्वैदिकीं विद्यां न स भूयोऽभिजायते । यतये श्रद्धया नित्यमन्नं दद्याद्यथाबलम् ॥ ६ ॥

अपरोक्षीकृत इति । संपदादित्वाद्भावे क्विप् । आत्मानं प्रति यदपरोक्षीकरणं तस्मादित्यर्थः ॥ ४० ॥ ४१ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्डे प्रायश्चित्तविधिनिरूपणं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

उक्तप्रायश्चित्तैः[4] परिहृतप्रतिबन्धकपापजालस्य पुरुषस्य यैर्यैर्दानैर्धर्मैश्च यानि यानि फलानि प्राप्यन्ते तानि तानि वक्तुं प्रतिजानीते–**अथात** इति । यतः प्रतिबन्धकापगमे सत्येव साधनं स्वकार्ये समर्थमतः प्रायश्चित्तानन्तरमित्यर्थः ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ ॥ ४ ॥

विनीतायो[5]**पसन्नायेति** । श्रूयते हि–'तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय [6]शमान्विताय । येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्' इति ॥ **विप्रायेति** त्रैवर्णिकोपलक्षणम् । विद्याग्रहणाधिकारविभागो हि गतखण्डसप्तमाध्याये

पुनः वेदान्ताभ्यास में ही तत्पर होता है एवं वेदान्त के संपर्क से निज आत्मतत्त्व का अपरोक्ष साक्षात्कार कर संसारसागर से वैसे ही पार हो जाता है जेसे स्वप्न में जल में डूबता व्यक्ति जग जाने के कारण डूबने से बच जाता है ॥ ३८–४० ॥ अतः हे बृहस्पति ! अपनी मुक्ति के लिये अन्य सब कुछ छोड़कर पूरे प्रयत्न से हर समय वेदान्तश्रवण करो ॥ ४१ ॥

दानधर्म के फल का कथन नामक आठवाँ अध्याय

(क्योंकि प्रतिबन्धक हट जाने पर ही साधन अपने फल को उत्पन्नकर पाता है इसलिये प्रतिबंधकीभूत पापों के निवर्तक प्रायश्चित्तों को बताकर) भगवान् ने आगे कहा–हे मुनि ! अब मैं दान व धर्म के फलों को बताऊँगा । सभी दानों में विद्यादान सर्वश्रेष्ठ है ॥ १ ॥ क्योंकि विद्या से प्राणी मोक्ष पाते हैं इसलिये उसके दान की श्रेष्ठता है । अन्य दानों में मुख्य हैं भूमिदान, गोदान, धनदान, कन्यादान तथा अर्थदान ॥ २१/२ ॥ जो व्यक्ति धनधान्य से भरपूर भूमि ब्राह्मण को दान करता है वह इस लोक में सुख पाकर परलोक में भी आनन्त्य प्राप्त करता है । जो व्यक्ति किसी वेदज्ञ ब्राह्मण को हाथभर ज़मीन भी दान कर देता है वह सब पापों से छूटकर संसार से पार हो जाता है ॥ ३–४१/२ ॥

विनययुक्त तथा जिज्ञासापूर्वक निकट आये ब्राह्मण को जो सादर वैदिक विद्या प्रदान करता है उसे पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता ॥ ५१/२ ॥ जो व्यक्ति संन्यासी को रोज़ यथाशक्ति श्रद्धापूर्वक अन्न देता है वह ब्रह्मलोक पाता है और पृथ्वी पर पुनः

---

१. आन्वीक्षिक्यादिभेदभिन्नाश्चतस्रो विद्याः, विद्याश्चतुर्दशेत्यादि पुराणोक्ते नव पंच विद्याः, उपवेदसहिता अष्टादशविद्या इति विद्यापदस्यानिर्धारितार्थकत्वे पराविद्यैवेह विवक्षिता नेतरा अमोक्षफलकत्वात्तासामित्याह–विद्ययेति । साधनतयाऽपरविद्यापीह बोध्या तस्याः परविद्याद्वारा मोक्षहेतुत्वात् । २. ङ. °स्माद्दानमनुत्तमम् । ३. 'मध्यांगुलिकूर्परयोर्मध्ये प्रामाणिकः करः । बद्धमुष्टिकरो रत्निररत्निः सकनिष्ठिकः ॥' इति हलायुधे । ४. ख. °त्तैः प्र° । ५. ग. ङ. °पसंपन्ना° । ६. क. दमान्विताय । घ. समन्विताय ।

ब्रह्मवर्चसकामस्तु ब्रह्माणं पूजयेन्नरः । आरोग्यकाम आदित्यं बलकामः समीरणम् ॥ ३३ ॥

कीर्तिकामोऽनलं तद्वन्मेधाकामः सरस्वतीम् । ज्ञानकामो महादेवं सिद्धिकामो विनायकम् ॥ ३४ ॥

भोगकामस्तु शशिनं मोक्षकामस्तु शंकरम् । वैराग्यकामो विद्वांसं पुष्टिकामः शचीपतिम् ॥ ३५ ॥

व्रतान्याचरतः श्रद्धाभक्तिभ्यां[1] संयतः शुचिः । क्षीयन्ते पापकर्माणि क्षीयन्तेऽस्येति[2] हि श्रुतिः ॥ ३६ ॥

ज्योतिष्टोमादिकं कर्म यः कुर्याद्विधिपूर्वकम् । स देवत्वमवाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ॥ ३७ ॥

यः श्रद्धया युतो नित्यं शतरुद्रियमभ्यसेत् । अग्निदाहात्सुरापानादकृत्याचरणात्तथा ॥ ३८ ॥

मुच्यते ब्रह्महत्याया इति कैवल्यशाखिनः । शतशाखागतं साक्षाच्छतरुद्रिय[3]मुत्तमम् ॥ ३९ ॥

तस्मात्तज्जपमात्रेण सर्वपापात्प्रमुच्यते । चमकं च जपेद्विद्वान्सर्वपापप्रशान्तये ॥ ४० ॥

सहस्रशीर्षासूक्तं च शिवसंकल्पमेव च । जपेत्पञ्चाक्षरं चैव सतारं तारणक्षमम् ॥ ४१ ॥

त्रिःसप्तकुलमुद्धृत्य शिवलोके महीयते । तत्र नानाविधान्भोगान्भुक्त्वा कर्मपरिक्षयात् ॥ ४२ ॥

तिथिभेदेन देवताभेदाः प्रागुक्ताः । कामनाभेदेन तानाह—**ब्रह्मवर्चसकाम** इत्यादिना ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

क्षीयन्तेऽस्येति हि श्रुतिरिति । कठवल्लीषु हि श्रूयते—'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' इति ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

कैवल्यशाखिन इति । श्रूयते हि कैवल्योपनिषदि—'यः शतरुद्रियमधीते सोऽग्निपूतो भवति, सुरापानात्पूतो भवति, ब्रह्महत्यायाः[4] पूतो भवति, कृत्याकृत्यात्पूतो भवति' इति । साक्षात्प्रत्यक्षभूता याः शतसंख्याका अध्वर्युशाखास्तासु सर्वासु गतमित्यर्थः । शतं रुद्रा देवता अस्येत्यर्थे 'शतरुद्राद्घश्च' इति घः । शतं सहस्रमित्यपरिमितपर्यायाः 'सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा अधिभूम्याम्' इति हि श्रूयते ॥ ३९ ॥

चमकं चेति । वसोर्धाराम् 'अग्नाविष्णू सजोषसे' इत्यादिकाम् ॥ ४० ॥

शिवसंकल्पम् । 'येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्' इत्यादिकम् ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

ब्रह्मतेज की कामना हो तो ब्रह्मा की पूजा करे । आरोग्य की इच्छा से सूर्य की और बलप्राप्ति के लिये वायु की पूजा करनी चाहिये ॥ ३३ ॥ कीर्ति चाहने वाला अग्नि की, मेधा चाहने वाला सरस्वती की, ज्ञान चाहने वाला महादेव की, सिद्धियाँ चाहने वाला गणेश की, भोग चाहने वाला चंद्र की, मोक्ष चाहने वाला शंकर की, वैराग्य चाहने वाला आत्मज्ञ की और पुष्टि चाहने वाला इंद्र की पूजा करे ॥ ३४–३५ ॥

श्रद्धा-भक्ति से व्रतों का संयम और शुद्धता पूर्वक अनुष्ठान करने से पाप क्षीण होते हैं यह श्रौत सिद्धांत है ॥ ३६ ॥ विधि के अनुसार ज्योतिष्टोमादि करने से देवरूपता मिलती है यह निश्चित है ॥ ३७ ॥ जो श्रद्धा से नित्य शतरुद्रिय का पाठ करता है वह अग्निदाह, सुरापान, अकृत्य के आचरण और ब्रह्महत्या से छूट जाता है ऐसा कैवल्योपनिषत् में बताया है । यजुर्वेद की सौ शाखायें हैं उन सभी में उपलब्ध रुद्राध्याय अत्युत्तम है । अतः उसके जप से ही सारे पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ ३८–३९½ ॥ सब पापों की शांति के लिये चमकाध्याय का पाठी भी करना चाहिये ॥ ४० ॥ पुरुषसूक्त, शिवसंकल्पसूक्त तथा प्रणवसहित पंचाक्षर मंत्र के जप से इक्कीस पीढ़ियों का उद्धारकर शिवलोक में प्रतिष्ठित होता है । वहाँ नाना भोगों को भोगता है । कर्मक्षीण होने पर पृथ्वी पर जन्म होता है । पुनः पुण्य या पाप करता है और फिर फल पाने के लिये लोकांतर को चल देता है । इस प्रकार जन्म-मृत्यु का प्रवाह शिवात्मतत्त्वज्ञान के बिना चलता ही रहता है ॥ ४१–४३ ॥

---

१. अश्रद्धया कृतं नेह फलति नवामुत्रेति भागवतं मतम् । अत्र भक्तेर्विशेषउच्यते । भक्तिः प्रेमा । तं विना श्रद्धासत्त्वेपि रुच्या न क्रियत इति नोत्तमं फलं जायत इत्युभयोर्ग्रहणम् । २. घ. °ति वै श्रु° । ३. क. ख. °यमद्भुतम् । ४. ख. ग. °त्यात्पूतो ।

भूलोके जायते पुण्यं पापं वा कुरुते पुनः । यावज्ज्ञानोदयं[1] तावज्जायते म्रियतेऽपि च ॥ ४३ ॥
असुखे सुखमारोप्य विषयेऽज्ञानतो नरः । करोति सकलं कर्म तत्फलं चावशोऽश्नुते ॥ ४४ ॥
अहो मायावृतो लोकः स्वात्मानन्दमहोदधिम् । विहाय विवशः क्षुद्रे रमते किं वदामि तम् ॥ ४५ ॥
तस्मान्मायामयं भोगमसारमखिलं नरः । विहाय विमलं नित्यमात्मानन्दं समाश्रयेत् ॥ ४६ ॥
सर्वसंग्रहरूपेण सस्नेहं सम्यगीरितम् । तस्मात्त्वं सकलं त्यक्त्वा स्वात्मानन्दे कुरु श्रमम् ॥ ४७ ॥
इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे दानधर्मफलकथनं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

ईश्वर उवाच–अथातः संप्रवक्ष्यामि पापकर्मफलं मुने । खरोष्ट्रसूकराजाविगजाश्वमृगपक्षिणाम् ॥ १ ॥
च[3]ण्डालपुल्कसत्वं[4] च प्राप्नोति ब्रह्महा क्रमात् । दस्यूनां विड्भुजां योनिं पक्षिणां च तथैव च ॥ २ ॥
क्रिमिकीटपतङ्गानां सुरापः प्राप्नुयाद्द्विजः । राक्षसानां पिशाचानां चोरो याति सहस्रशः ॥ ३ ॥
क्रव्याददंष्ट्रिणां योनिं तृणादीनां तथैव च । क्रूरकर्मरतानां च प्राप्नोति गुरुतल्पगः ॥ ४ ॥
ब्राह्मणस्य धनं क्षेत्रमपहृत्य नराधमः । ब्रह्मराक्षसतां याति शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ५ ॥

यावज्ज्ञानोदयमिति । ज्ञानमुदेति यस्मिन् दिने तज्ज्ञानोदयं तद्यावदायाति तावदित्यर्थः ॥ ४३ ॥ अज्ञानत इत्यारोपे हेतुः ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्डे दानधर्मफलकथनं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

स्वर्गापवर्गसाधने विहिते धर्मज्ञाने उपादानायाभि[5]धाय, हानाय निषिद्धं कर्माभिधातुं प्रतिजानीते–अथात इति । यतो हि विहितकारिणामपि निषिद्धापरित्यागे नरकः, अतो विहिताभिधानानन्तरं हानाय निषिद्धमुच्यत इत्यर्थः । बहुतरनरकोपभोगानन्तरं शेषेण खरोष्ट्रादिजन्मप्राप्तिः ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

जो विषय सुखात्मक नहीं है उन्हें सुख या सुख का कारण मानकर ही मनुष्य रागादि के परवश हुआ सब कर्म करता है। सुखहीन को सुख इसीलिये मानता है कि वह अपनी वास्तविकता को; चिदानन्दघनता को जानता नहीं ॥ ४४ ॥ अहो ! कितने कष्ट की बात है। माया से मोहित लोग आनन्दसागररूप स्वयं को छोड़कर क्षुद्र स्त्री आदि विषयों में रमण करते हैं। ऐसे मूर्खों को क्या कहूँ ? ॥ ४५ ॥ इसलिये मायामय असार भोगों को छोड़कर निर्मल सनातन आनंदरूप शिवात्मा का भजन करना चाहिये ॥ ४६ ॥ स्नेहपूर्वक सारी बात तुम्हें बता दी हैं अतः तुम सब छोड़कर स्वात्मानन्द प्राप्ति के लिये यत्न करो ॥ ४७ ॥

पापकर्मों के फलों का निरूपण नामक नवा अध्याय

(विहितानुष्ठान करने पर भी यदि पापाचार करा जाये तो नरक निश्चित है इसलिये कल्याणेच्छु को दुःखफलक पापों से बचना चाहिये। इस अभिप्राय से छोड़ने योग्य कुछ पापों का परिचय कराने के लिये) श्रीभगवान् ने कहा–हे मुनि ! अब मैं पाप कर्मों का फल बताऊँगा (जिस कष्टफल से डरकर उसके साधनभूत पाप से दूर रहा जाये)।

ब्रह्महत्यारा (बहुतेरे नरक भोगने के बाद) क्रमशः गधा, ऊँट, सुअर, बकरी, भेड़, हाथी, घोड़ा, हरिण तथा पक्षियों की योनि से होकर चाण्डाल और अन्त में पुल्कस शरीर प्राप्त करता है ॥ १½ ॥ सुरापान करने वाला ब्राह्मण इन योनियों को पाता है–दस्यु (सर्वकर्मबहिष्कृत मनुष्य), गाँव के सुअर, पक्षी, क्रिमि, कीट, तथा पतंगा ॥ २½ ॥ स्वर्ण का चोर हज़ारों बार राक्षसों व पिशाचों की योनि प्राप्त करता है ॥ ३ ॥ गुरुपत्नी से समागम करने वाला मांसभक्षी जानवरों की व तृणभक्षी जानवरों की योनियों से होकर क्रूरकर्मा जातियों में जन्म लेता है ॥ ४ ॥ जो नराधम किसी ब्राह्मण के धन या क्षेत्र (खेत या स्त्री) को चुराता है वह अनेक बार ब्रह्मराक्षस बनता है ॥ ५ ॥ धान्य-चोर चूहा बनता है और जल-चोर मेंढक। काँसा-चोर

१. क. ख. ग. घ. ङ. °दयस्ताव° । २. एतदशुच्यादौ शुचित्वद्यारोपस्योपलक्षणम् । शोभनाशोभनाध्यासौ प्रवर्तकनिवर्तकौ अनात्मधीस्तयोर्मूलं तस्मात्सा पातकं परं, हानिश्च तस्या विद्यायाः सा पापविनिवर्तिनी महीकरोति तामेवं कृपया शंकरो गुरुरिति ध्येयम् । ३. चाण्डा° । ४. अनयोः स्वरूपं पूर्वं (१.१२.२५–२६) न्यरूपि । ५. °भिधाना° ।

धान्यचोरो भवेदाखुर्जलं हृत्वा प्लवो भवेत् । कांस्यं हृत्वा भवेद्धंसः श्वा रसं नकुलो घृतम् ॥ ६ ॥
पयः काको भवेन्मांसं हृत्वा गृध्रो भवेत्तथा । चक्रवाकस्तु लवणं बकस्तैलापहारतः ॥ ७ ॥
कौशेयं तित्तिरिः[1] क्षौमं हृत्वा दर्दुरसंज्ञकः । पत्रशाखापहारेण बर्हिणः स्युर्नराधमाः ॥ ८ ॥
श्वा[2]ऽन्नं हृत्वा भवेत्पुष्पं मर्कटः स्यात्तथैव च । यानाप[3]हरणादुष्ट्रः पशुं हृत्वा भवेद्गजः[4] ॥ ९ ॥
शवभक्षणतो राजा वैश्यः पूयाशनो भवेत् । श्येनाशनो भवेच्छूद्रो जलूको रक्तपो भवेत् ॥ १० ॥
नैतावताऽलं विप्रेन्द्र पापकर्मफलोदयम् । नरके वर्तनं चास्ति महाघोरेऽतिदारुणे ॥ ११ ॥
हस्तद्वंद्वं दृढं बद्ध्वा ततः शृङ्खलया तथा । क्षिप्यते दीप्तवह्नौ च ब्रह्महाऽऽचन्द्रतारकम् ॥ १२ ॥
अतितप्तायसैर्दण्डैः पीड्यते यमकिंकरैः । प्राणिहिंसापरो गाढं कल्पकोटिशतं मुने ॥ १३ ॥
तप्ततैलकटाहेषु बद्ध्वा हस्तौ पदद्वयम् । क्षिप्यते यमदूतेन तैलचौरो महामुने ॥ १४ ॥
तप्त[5]ताम्रकटाहेषु क्षिप्य मिथ्याभिशंसिनम् । जिह्वामुत्पाटयन्त्याशु बहुशो यमकिंकराः ॥ १५ ॥

प्लव इति । प्लवो मण्डूकः । पचाद्यच् ॥ ६ ॥ ७ ॥

दर्दुरो भेकः ॥ ८ ॥ ९ ॥

शवभक्षणतो राजेति । यो हि राजा न्यायेन प्रजाः परिपालयति स ब्राह्मणादनन्तरं प्रशस्यते । स्मर्यते हि–'श्रेयान्प्रतिग्रहो राज्ञो माऽन्येषां ब्राह्मणादृते' इति । यस्त्वन्यायकारी क्रूरो राजा स[6] उच्यते 'शवभक्षणतो राजे'ति । स हि सूनिचक्रिध्वजिवेश्याभ्योऽपि निकृष्टः स्मर्यते–'प्रतिग्रहे सूनिचक्रिध्वजिवेश्यानराधिपाः ॥ दुष्टा दशगुणं प्रोक्ताः पूर्वादिते यथाक्रमम्' इति । तथा–'दशसूनिसमश्चक्री दशचक्रिसमो ध्वजी ॥ दशध्वजिसमा वेश्या दशवेश्यासमो नृपः' इति । एवं वैश्यशूद्रयोरपि निकृष्टयोरिहाभिधानम् । न्यायवर्ती तु 'शूद्रः साधुः स्त्रियः साधुरि'त्यादिदर्शनं विद्यते । वैश्योऽपि न्यायवर्ती तुलाधारस्तीर्थसेविनो जाजलिब्राह्मणादुत्कृष्टः स्मर्यते । तस्य हि जाजलिं प्रत्येतद्वाक्यम्–'जाजले तीर्थमात्मैव मा स्म देशातिथिर्भव' इति ॥ १० ॥

पापकर्मणः फलमुदेति यस्मिन्वर्तने तदित्यर्थः । अधिकरण एरच् । **तद्वर्तनमेतावता नालमित्यन्वयः** ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ ॥ १४ ॥

मिथ्याभिशंसिनमिति । अविद्यमानं दोषमारोपयन्तम् ॥ १५ ॥

हंस, पारा-चोर कुत्ता और घी-चोर नेवला बनता है ॥ ६ ॥ दूध-चोर कौआ, मांस-चोर गीध, नमक-चोर चकवा तथा तेल-चोर बगुला बनता है ॥ ७ ॥ रेशम-चोर तीतर, ऊन-चोर मेंढक एवं पत्ते वाले साग चुराने वाला मोर बनता है ॥ ८ ॥ अन्न-चोर कुत्ता; फूल-चोर बन्दर, वाहन-चोर ऊँट और पशुचोर हाथी बनता है ॥ ९ ॥ शवभक्षण करने वाला राजा बनता है, पीप खाने वाला वैश्य बनता है । बाज खाने वाला शूद्र बनता है और रक्त पीने वाला जोंक बनता है । (यहाँ अन्यायकारी राजा तथा नीच कर्मा वैश्य एवं स्वकर्तव्य न करने वाला शूद्र समझना चाहिये अथवा उद्देश्य-विधेय उलटकर श्लोकार्थ समझना चाहिये ।) ॥ १० ॥

इन योनियों की प्राप्ति से ही पाप का फल पूरा नहीं भोग लिया जाता, महाघोर नरकों में भी जाना पड़ता है ॥ ११ ॥ ब्रह्महत्यारे के दोनों हाथ साँकल से बाँधकर उसे आग में बहुत लम्बे समय तक जलाया जाता है । (नरक में मिला शरीर उतने भीषण कष्टों को भोगने लायक होता है अतः भोगकाल पूरा होने के पहले मृत्यु भी नहीं होती ।) ॥ १२ ॥ जो व्यक्ति प्राणियों की हिंसा में तत्पर रहता है उसे नरक में यमकर्मचारी अत्यंत तपे लोहे के डण्डों से लंबे समय तक पीटा करते हैं ॥ १३ ॥ तेल-चोर के हाथ-पैर बाँधकर उसे तपे तेल के कड़ाह में छोड़ देते हैं ॥ १४ ॥ जो व्यक्ति किसी पर झूठा आरोप लगाता है उसकी तुरंत जीभ उखाड़कर स्वयं उसे तपे ताम्बे के कड़ाह में डाल दिया जाता है ॥ १५ ॥ जो व्यक्ति सुरापान में रत रहता

---

१. घ. तैत्तिरिः । २. घ. श्वा वै ह° । ३. क. °पहार° । ४. क. भवेदजः । ५. क. ख. °प्ततैलक° । ६. यद्वा स्वाभाव्येनासात्त्विकतया राजादयो दुष्कृतफलभूताएव । राजर्षीणां पुण्यत्वं तु प्रशंसार्थं । 'शवभक्षणक' इति मूलटीकयोर्वाल. पाठः ।

तप्तताम्रजलं तीक्ष्णैः पिबेत्युक्त्वाऽऽयसायुधैः । छिद्यते यमदूतैस्तु सुरापानरतो नरः ॥ १६ ॥
छित्त्वा छित्त्वा पुनर्दग्ध्वा पिण्डीकृत्य पुनस्तथा । क्षिप्यते पूयपूर्णेऽस्मिन्कटाहे गुरुतल्पगः ॥ १७ ॥
मातरं पितरं ज्येष्ठं गुरुमध्यात्मवेदिनम् । महादेवं तथा वेदं विष्णुं ब्राह्मणमेव च ॥ १८ ॥
आदित्यं चन्द्रमग्निं च वायुं निदन्ति ये नराः । कल्पकोटिशतं दिव्यं पच्यन्ते नरकालये ॥ १९ ॥
यतिहस्ते जलं चान्नं न दत्तं यैर्नराधमैः । इक्षुवत्संप्रपीड्यन्ते मुद्गरैर्मुनिसत्तमाः[1] ॥ २० ॥
पादे चाऽऽस्ये तथा पार्श्वे नाभौ शिश्ने गुदेऽक्षिणि । निखन्यन्ते महातप्तैः शङ्कुभिश्चार्थहारिणः ॥ २१ ॥
अयसा निर्मितां कान्तां सुतप्तां झर्झरीकृताम् । गाढमालिङ्ग्यते मर्त्यः परदारपरिग्रहात् ॥ २२ ॥
दुश्चारिण्यः स्त्रियश्चापि सुतप्तं पुरुषं तथा । श्रौतस्मार्त्तविहीना ये निषिद्धाचरणे रताः ॥ २३ ॥
पच्यन्ते नरके तीव्रे कल्पकोटिशतं सदा । ये शिवायतनारामवापीकूपमठादिकम् ॥ २४ ॥
उपद्रवन्ति पापिष्ठा [2]नृपास्तत्र रमन्ति च । व्यायामोद्वर्तनाभ्यङ्गस्नानपानान्नभोजनम् ॥ २५ ॥
क्रीडनं मैथुनं द्यूतमाचरन्ति मदोद्धताः । ते च तद्विविधैर्घोरैरिक्षुयन्त्रादिपीडनैः ॥ २६ ॥
निरयाग्निषु पच्यन्ते यावच्चन्द्रदिवाकरौ । वेदमार्गरताचार्यनिन्दां शृण्वन्ति ये नराः ॥ २७ ॥
द्रुतताम्रादिभिस्तेषां कर्ण आपूर्यतेऽनघ ॥ २८ ॥

आचरन्ति प्रकृते देवालयादौ ॥ २६ ॥

निरया नरका एवाग्नयस्तेषु ॥ २७ ॥ २८ ॥

है उसे तपा पिघला ताम्बा पीने को कहा जाता है और लोहे के आयुधों से छेद दिया जाता है ॥ १६ ॥ गुरुपत्नी-समागमी को मारपीट और जलाकर पीप से भरे कड़ाह में डाल देते हैं ॥ १७ ॥ जो लोग माता, पिता, अपने से बड़े, गुरु, अध्यात्मवेत्ता, महादेव, वेद, विष्णु, ब्राह्मण, सूर्य, चंद्र, अग्नि या वायु की निन्दा करते हैं वे दिव्य करोड़ों कल्पों तक नरक में कष्ट पाते हैं ॥ १८–१९ ॥ जिन्होंने कभी संन्यासी को अन्न-जल नहीं भेंट किया उन्हें मुद्गरों से गन्ने की तरह पेरा जाता है ॥ २० ॥ जो दूसरों का धन चुरा लेते या अन्याय से उस पर अपना अधिकार जमा लेते हैं उन्हें तपे हुए शंकुओं से पैरों में, मुँह में, बगलों में, नाभि में, शिश्न में, गुदा में और आँखों में गोदा जाता है ॥ २१ ॥ जो व्यक्ति दूसरे की पत्नी से विवाह कर लेता है उसे वेश्या के आकार की तपे लोहे से बनी स्त्री का आलिंगन कराया जाता है ॥ २२ ॥ इसी प्रकार दुराचारिणी स्त्रियों को तपे लोहे के पुरुष का आलिंगन कराया जाता है । जो अधिकारी श्रौत-स्मार्त धर्म का पालन न कर निषिद्ध आचरण करते हैं उन्हें सैकड़ों कल्पों तक तीव्र नरक में दुःख भोगना पड़ता है ॥ २३½ ॥

जो लोग शिव-मंदिर में, मंदिर-संबंधी बगीचे, बावड़ी, कूए, मठ आदि में उपद्रव मचाते हैं तथा जो राजा लोग वहाँ रमण, व्यायाम, उबटन लगाना, तेल लगाना, स्नान, भोजन, पान गोष्ठी, खेलकूद, मैथुन, जुआ आदि करते हैं उन्हें नरक में गन्ने की तरह पेरा जाता है और जब तक सूर्य चंद्र हैं तब तक नरकाग्नियों में पकाया जाता है ॥ २४–२६½ ॥ (मंदिर को क्रीडाभूमि नहीं बनाना चाहिये । 'पिकनिक' आदि की दृष्टि से मंदिर-प्रांगण में भोजनादि का निषेध है । तीर्थदृष्ट्या जाकर श्रद्धा से देवता को अर्पितकर प्रसादरूप से शान्तिपूर्वक वहाँ भोजन करने का निषेध नहीं । ऐसे ही क्रीडादि करते हुए स्नान का निषेध है, नियमित स्नान का नहीं । उबटन, तेल आदि तो तीर्थस्नान में कहीं नहीं लगाया जाता अतः मंदिर के जलाशयों में भी उनका निषेध है । मंदिर के आहते में चलते फिरते भी अत्यंत संयम बरतना चाहिये । हाथ में हाथ डालकर तथा अन्य

१. क. ख. म. °त्तम ॥ २० ॥ वा° । २. इतरेषामप्युपलक्षणम् । उपद्रवेण चान्येषां देवापराधानां गणनम् ।

घोराख्ये नरके केचित्पच्यन्ते पापकर्मतः । सुघोराख्ये तथा केचिदतिघोरे च केचन ॥
महाघोराभिधे केचिद्‌घोररूपे च केचन ॥ २९ ॥
करालाख्ये तथा केचित्तथा केचिद्भयानके । कालरात्रौ महापापास्तथा केचिद्भयोत्कटे ॥ ३० ॥
केचिच्चण्डाभिधे केचिन्महाचण्डाभिधे सदा । चण्डकोलाहले केचित्प्रचण्डायां च[1] केचन ॥ ३१ ॥
तथा पद्माभिधायां च पद्मावत्यां च केचन । तथा केचन भीमायां केचिद्भीषणसंज्ञिते ॥ ३२ ॥
कराले तु तथा केचिद्विकराले च केचन । वज्रे त्रिकोणसंज्ञे च पद्मकोणे च केचन ॥ ३३ ॥
सुदीर्घे वर्तुलाख्ये च सप्तभौमे च केचन । अष्टभौमे च दीप्ते च रौरवे चैव केचन ॥ ३४ ॥
केचिदन्येषु पापिष्ठाः पच्यन्ते विवशा भृशम् । अहो कष्टं महाप्राज्ञ पापकर्मफलोदयम् ॥ ३५ ॥
एवं पापफलं ज्ञात्वा[2] मुने ज्ञानरतो भव । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते मुने ॥ ३६ ॥
अहो ज्ञानं परित्यज्य मायया परिमोहिताः[3] । नरकेषु हि पच्यन्ते स्वप्नकल्पेषु दुःखिताः ॥ ३७ ॥
एवं पापफलं भुक्त्वा[4] महादेवप्रसादतः । पश्चाद्भूमौ विजायन्ते मानुष्ये कर्मसाम्यतः ॥ ३८ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे पापकर्मफलनिरूपणं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

घोरसुघोरादयो नरकविशेषाः ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

पापकर्मणां फलमुदेति यस्मिन्नरकजाते तत्पापकर्मफलोदयम् ॥ ३५ ॥

इह जन्मनि जन्मान्तरेषु च कृतस्य पापराशेरु[5]पशमोपायस्य दुर्ज्ञानत्वात्प्रातिस्विकप्रायश्चित्तकरणासंभवात्सकलपापनि[6]र्हरणस्य सुकरमेकमुपायमाह—**एवं पापेति** ॥ 'परोक्षमात्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् ॥ बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत् ॥ अपरोक्षात्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् ॥ संसारकारणाज्ञानतमसश्चण्डभास्करः' ॥ इति वक्ष्यति ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

मानुष्ये मनुष्यलोके । **कर्मसाम्यतः** पुण्यपापकर्मणोरुभयोरपि युगपत्परिपाके । 'समाभ्यां पुण्यपापाभ्यां मानुष्यं प्राप्नुयान्नरः' इत्यग्रे वक्ष्यति ॥ ३८ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्डे पापकर्मफलनिरूपणं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

असभ्य या अश्लील प्रकारों से चलना, भद्दे ढंग से एवं चिल्लाकर बातचीत करना, कूड़ा फैलाना, किसी प्रकार का नुकसान पहुँचाना, स्थान के नियमों का उल्लंघन करना आदि सभी देवापराध हैं जिनसे प्रत्येक को बचना चाहिये) ।

जो व्यक्ति वेदमार्ग पर चलने वालों की एवं आचार्य की निंदा (प्रतीकार किये बिना) सुनते हैं उनके कान पिघले ताम्बे आदि से भर दिये जाते हैं ॥ २७–२८ ॥

कुछ नरकों के ये नाम हैं—घोर, सुघोर, अतिघोर, महाघोर, घोररूप, कराल, भयानक, कालरात्रि, भयोत्कट, चण्ड, महाचण्ड, चण्डकोलाहल, प्रचण्डा, पद्मा, पद्मावती, भीमा, भीषण, कराल, विकराल, वज्र, त्रिकोण, पद्मकोण, सुदीर्घ, वर्तुल, सप्तभौम, अष्टभौम, दीप्त, रौरव ॥ २९–३४ ॥ पापिष्ठ लोग इनमें तथा अन्य नरकों में कष्ट पाते रहते हैं । पाप कर्मों का फल जहाँ भोगा जाता है वे नरक अत्यंत कष्टमय हैं ॥ ३५ ॥

हे मुनि ! पापों के फलों को इस प्रकार दुःखात्मक जानकर इनसे बचते हुए ज्ञानप्राप्ति में लगो । ज्ञानरूप आग ही सब कर्मों को जलाती है ॥ ३६ ॥ अहो खेद है ! माया से मुग्ध हुए लोग ज्ञान को छोड़ देते हैं अतएव पापकर मिथ्याभूत नरकों में दुःखी होते रहते हैं ॥ ३७ ॥ नरकों में यों पापकर्मों का फल भोगकर शिवकृपा से जब उनके पाप व पुण्य लगभग समान होते हैं तब पृथ्वी पर मनुष्य होकर पैदा होते हैं ॥ ३८ ॥

---

१. क. ग. तु । २. जीवता संयमिनाऽपि मनसा वा वाचा वा कर्मणा वा कदाचिदिच्छया कदाचिदनिच्छया किंचित्पापं कार्यमेव भवति सर्वारम्भाणां दोषावृतत्वस्मरणात्क्षणमपि चाकुर्वन्न कश्चन तिष्ठतीत्युक्तिः । ततश्च दुःखं फलेदेवेति निश्चयात्ततो भीतो दुःखपरिवर्जनाय ज्ञानाय यतेतेत्यर्थः । ३. आत्माज्ञानमेव महत्तमं पापं ततएव सर्वं दुखमित्यर्थः । ४. परमार्थतः पुण्यस्यापि पापत्वात्स्वर्गादेरपि नरकत्वाच्चेह पापफलमित्यनेनैव पुण्यफलान्यप्युक्तानि ज्ञेयानि । ५. क. °रुपा° । ६. ङ. °निबर्हणं° ।

दशमोऽध्यायः

ईश्वर उवाच–अथातः संप्रवक्ष्यामि देहोत्पत्तिं महामुने । शृणु वैराग्यसिद्ध्य[1]र्थमात्मशुद्ध्यर्थमेव च ॥ १ ॥
पुण्यैर्देवत्वमाप्नोति पापैः स्थावरतामियात् । समा[2]भ्यां पुण्यपापाभ्यां मानुष्यं प्राप्नुयान्नरः ॥ २ ॥
तत्राऽऽहुत्या रविर्नित्यं वर्धते मुनिसत्तम । सूर्याद्वृष्टिर्विजायेत वृष्टेरोषधयः क्रमात् ॥ ३ ॥
ओषधीभ्योऽन्नमन्नं च नित्यं भुङ्क्ते च मानवः । पञ्चभूतात्मकं भुक्तं किट्टसारात्मना द्विधा ॥ ४ ॥
पुनर्द्विधा भवेत्सारः स्थूलसूक्ष्मविभेदतः । किट्ट[3]मूत्रपुरीषास्थिमेदस्नाय्वात्मना भवेत् ॥ ५ ॥

एवमुत्तमाधिकारिणां वेदान्तवाक्यश्रवणम[4]धमाधिकारिणां च कर्माणि ज्ञानसाधनमभिधाय, कर्मभिः प्रक्षीणप्रतिबन्धकदुरितानामपि रजसा विक्षिप्तचेतसां सहसा मनस ऐकाग्र्यासंभवात्तदर्थं नाडीशुद्धिपुरःसरमष्टाङ्गयोगं वक्तुं प्रथमं पिण्डोत्पत्तिमाह–**अथात** इति । यत उक्तपापकर्मफलज्ञानवद्देहोत्पत्तिज्ञानमपि वैराग्योपयोगि, अतस्तदनन्तरमित्यर्थः । देहोत्पत्तिक्रमकथने हि गर्भक्लेशवर्णनाद्वैराग्यं जायते । अत एव योगसाधनप्रवृत्तिद्वारा ब्रह्मज्ञानमपि सिध्यतीत्यर्थः ॥ १ ॥

पुण्यैर्देवत्वमिति । 'पुण्येन पुण्यं लोकं जयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्' इति श्रुतेः ॥ २ ॥

तत्राऽऽहुत्येति । यदाहुः–'अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः' इति ॥ ३ ॥

पञ्चभूतात्मकं भुक्तमिति । श्रूयते हि–'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते । तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं, यो[5]ऽणिष्ठस्तन्मनः । आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते । तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति, यो मध्यमस्तल्लोहितं, योऽणिष्ठः स प्राणः । तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते । तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति, यो मध्यमः स मज्जा, योऽणिष्ठः स वागिति' । अत्र च भुक्तानां स्थूलादीनामन्नादीनां मनआदिकं प्रत्युपचयमात्रहेतुत्वम् । उपादानत्वं[6] तु सूक्ष्मभूतानामेवेति गतखण्ड एकादशाध्याये 'हिरण्यगर्भं वक्ष्यामि' इत्य[7]त्रोक्तम् ॥ ४ ॥ ५ ॥

पिण्ड की उत्पत्ति का कथन नामक दसवाँ अध्याय

(नाडीशोधनपूर्वक अष्टांगयोगरूप समाधानद्वारक ज्ञानसाधन बताने के उद्देश्य से भूमिका रचते हुए) भगवान् शंकर बोले– हे महामुनि ! अब मैं शरीर की उत्पत्ति के विषय में बताता हूँ । शरीर से वैराग्य के लिये और शरीर से आत्मा के विवेक के लिये इसे सुनो ॥ १ ॥

अत्यधिक पुण्य हों तो जीव देवयोनि पाता है तथा अत्यधिक पाप हों तो वृक्षादि योनि पाता है । पुण्य व पाप जब लगभग बराबर हों तब मानव देह मिलता है ॥ २ ॥

शरीरप्राप्ति के क्रम के विषय में यह समझना चाहिये–नित्य समर्प्यमाण आहुतियों से सूर्य पुष्ट होता है । सूर्य से वृष्टि और वृष्टि से व्रीहि आदि ओषधियाँ उपजती हैं ॥ ३ ॥ ओषधियों को कूटपीसकर उनसे खाने योग्य अन्न निष्पन्न होता है तथा मानव रोज़ अन्न खाता है । खाया हुआ पांचभौतिक अन्न दो हिस्सों वाला हो जाता है–मल और सार ॥ ४ ॥ सारभाग पुनः दो तरह होता है–स्थूल और सूक्ष्म । मलात्मक मूत्र और विष्ठा तथा हड्डी, मेदा और स्नायुरूप से अन्न ही परिणत होता है ॥ ५ ॥ पुरीष और मूत्र को वायु (अपान) यथाक्रम शरीर से निकाल देता है । सारभाग के स्थूल हिस्से से क्रमशः धातुओं

---

१. देहादात्मनो विवेकार्थमित्यर्थः । जन्यादिमच्छरीरं यस्यासावात्मा मम शरीरमिति दर्शनादभेदे च संबंधासंभवाद्भेदाभेदस्याप्रामाणिकत्वात्सम्बन्धस्य चौपचारिकत्वे मानाभावदकृताभ्यागमादिप्रसंगाच्चेत्यादयो युक्तयोप्यनुसन्धेयाः । २. समप्रायस्त्वमिह विवक्षितमन्यथा समेषां सुखदुःखतौल्यप्रसंगात् । ३. किट्टमिति सामान्यतो मलमुक्त्वा तद्विशेषयोरुक्ति मूत्रपुरीषेति । तदाहु वैद्यकविदः 'आहारस्य रसः सारः सारहीनो मलद्रवः । शिराभिस्तज्जलं नीतं वस्तिं मूत्रत्वमाप्नुयात् । शेषं किट्टञ्च यत्तस्य तत्पुरीषं निगद्यते ॥' (भावप्रकाश आदौ) इति ॥ ४. घ. °मननाधि° । ५. घ. यो निकृष्टस्त° । ६. ग. °नभूतत्वं° । ७. घ. °त्यत्रैवोक्त° ।

पुरीषमूत्रे विसृजेदनिलः क्रमशो मुने । सारयोः स्थूलभागस्य पञ्चभूतांशकैः क्रमात् ॥ ६ ॥
वर्धन्ते धातवः सर्वे तेषां मध्ये महामुने । आकाशाद्धातवः सर्वे वर्धन्ते वायुना बलम् ॥ ७ ॥
अग्निना वर्धते मज्जा लोहितं वर्धते जलात् । भुवा मांसस्य वृद्धिः स्यादित्थं धातुविवर्धनम् ॥ ८ ॥
अवशिष्टो रसांशश्च द्विधा सत्त्वगुणेन च । राजसेन गुणेनापि भवेत्[1] सत्त्वं[2] तपोधन ॥ ९ ॥
तयोः सत्त्वप्रधानस्य भूमिभागान्महामुने । घ्राणेन्द्रियस्यापानस्य वर्धकश्च सदा भवेत् ॥ १० ॥
उपस्थस्यापि विप्रेन्द्रा जिह्वायाश्च जलांशकः । अग्निर्वाक्चक्षुषोश्चर्महस्तयोरनिलस्तथा ॥ ११ ॥
आकाशो वर्धकः पादश्रोत्रयोर्मुनिसत्तम । सर्वांशो वर्धकश्चान्तःकरणप्राणसंज्ञयोः ॥ १२ ॥
विशेषेण महीभागो वर्धको मनसो भवेत् । तोयं प्राणस्य वह्न्यंशो वदनस्य विशेषतः ॥ १३ ॥
वाय्वंशः पाणिमूलस्य पादमूलस्य चाम्बरम् । तथा रजोगुणग्रस्तो रसांशः कालकर्मतः ॥ १४ ॥

क्रमादिति । समनन्तरवक्ष्यमाणा[3]वकाशदानादिक्रमेणेत्यर्थः ॥ ६ ॥

तमेव क्रममाह—**आकाशाद्धातव** इति । अवकाशदानद्वाराऽऽकाशस्य वृद्धिहेतुता । व्यूहनद्वारा वायोः । पाकद्वाराऽग्नेः । क्लेदनद्वारा जलस्य । घनीभावद्वारा भुव इति द्रष्टव्यम् ॥ ७ ॥ ८ ॥

अवशिष्टः सारयोः सूक्ष्मः । **द्विधेति** सत्त्वरजोभेदेन ॥ ९ ॥

तत्र सात्त्विकस्य सारस्य पञ्चभूतात्मकस्य यः पृथिव्यंशः स प्राणापानयोर्वर्धकः । एवमबाद्यंशा अपि चत्वारश्चतुर्णां ज्ञानकर्मेन्द्रिययुग्माणामित्यर्थः ॥ १० ॥ ११ ॥

सर्वांशो वर्धक इति पृथिव्याद्यंशपञ्चकं सात्त्विकं मनः प्राणवाय्वोरुपष्टम्भकम् । विशेषेण तु पृथिव्यबंशौ मनःप्राणयोः पाञ्चभौतिकयोरप्यन्नप्राणयोर्विशेषेणोपचयहेतुत्वादेव "अन्नमयं हि सौम्य मनः । आपोमयः प्राणः" इत श्रुतिरिति गतखण्डे कथितम् । ननु ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं मनश्च प्रत्येव शक्तिद्वारा सत्त्वस्य हेतुत्वम्, कर्मेन्द्रियपञ्चकं प्राणं च प्रति तु शक्तिद्वारा रजस इति प्रागुक्तम्, इह तु मनःप्राणौ ज्ञानकर्मेन्द्रियदशकं च प्रति सत्त्वस्य कारणता कथमुच्यत इति ? सत्यम् । सूक्ष्मभूतगतयोः सत्त्वरजसोर्मनःप्राणौ ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि च प्रति विभागेनोपादानत्वं तत्रोक्तम् । इह तु स्थूलभूतसारतरांशगतस्य सत्त्वस्याविभागेनोपष्टम्भकत्वमुच्यत इत को विरोधः ॥ १२ ॥

ननु तेजोवाय्वाकाशानां मनःप्राणावपि प्रति कारणत्वे 'तेजोमयी वागि'त्यादिवागादिमात्रकारणत्वव्यवहारः कथमित्याशङ्क्य तदपि विशेषाभिप्रायमित्याह—**वह्न्यंशो वदनस्येत्यादि** ॥ १३ ॥

सात्त्विकरसभागस्येन्द्रियमनःप्राणोपष्टम्भकतामभिधाय राजसरसभागस्य रक्तादिक्रमेण धातूत्पादकतामाह—**तथा रजोगुणग्रस्त** इति ॥ १४ ॥

की वृद्धि होती है । आकाश जगह देकर सब धातुओं को बढ़ाता है । वायु से बल बढ़ता है ॥ ६–७ ॥ अग्नि से मज्जा, जलसे खून और पृथ्वी से मांस की वृद्धि होती है ॥ ८ ॥ अन्न का सूक्ष्मभाग भी दो प्रकार का होता है—सात्त्विक और राजस ॥ ९ ॥ सात्त्विक सारभाग का पार्थिवांश घ्राणेन्द्रिय और अपानवायु का वर्धक होता है । सात्त्विक सारभाग का जलीयांश उपस्थ और जिह्वा का बलवर्धक होता है । उसी का अग्निअंश वाणी और चक्षु का उपोद्बलक होता है । त्वगिन्द्रिय और हाथ का वर्धक वायु-अंश होता है । आकाश पैर और श्रोत्रेन्द्रिय को पुष्ट करने वाला होता है। सात्त्विक सारभाग के पाँचो महाभूतों के अंश अंतःकरण और प्राण के पोषक होते हैं ॥ १०-१२ ॥ फिर भी विशेषकर पृथ्वी-अंश मन का और जलांश प्राण का वर्धक होता है । इसी तरह तेज-अंश वागिन्द्रिय का विशेष पोषक है ॥ १३ ॥ सात्त्विक सारभाग की तरह राजस सारभाग समयानुसार रक्त बनता है । रक्त ही कालक्रम से मांस बनता है । मांस से मेदा, उससे स्नायु तथा उससे अस्थि बनती है । अस्थि से मज्जा

---

१. ख. ग. °त्सत्वं त° । २. सत्त्वं स्थिरं, स्यादितिशेषः । पाठान्तरं तु 'सत्यमि'ति । भगवानेव तथा प्रतिजानीते । ३. °णाका°।

भवेद्रक्तं महाप्राज्ञ रक्तं मांसं भवेत्पुनः । मांसान्मेदस्ततः स्नायुस्तस्मादस्थि समुद्गतम् ॥ १५ ॥

ततो मज्जोद्भवस्तस्माद्बलं पश्चात्समुद्गतम् । बलाच्छोणितसंयुक्तात्प्रजा कालविपाकतः ॥ १६ ॥

ऋतुकाले यदा शुक्रं निर्दोषं योनिसंगतम् । कदाचिन्मारुतेनैव स्त्रीरक्तेनैकतामियात् ॥ १७ ॥

शुक्राशोणितसंयुक्तं कललं बुद्बुदं तथा । पिण्ड[1] भवेद्दृढं तद्वच्छिरः पश्चात्पदद्वयम् ॥ १८ ॥

तथाऽङ्गुल्यः कटी कुक्षिस्तद्वत्पृष्ठास्थिसंधयः । चक्षुषी नासिका श्रोत्रे पश्चाज्जीवप्रकाशनम्[2] ॥ १९ ॥

अङ्गप्रत्यङ्गसंपूर्णं भवेत्तु [3]क्रमशो मुने । एकाहात्सप्तरात्रेण तथा पञ्चदशेन च ॥ २० ॥

एकद्वित्रिक्रमेणैव मासानां तद्विवर्धते । इत्थं परिणतो गर्भः पूर्वकर्मवशान्मुने ॥ २१॥

महद्दुःखमवाप्नोति रौरवे नरके यथा[4] । तां पीडां च विजानाति तदा जातिस्मरो[5] भवेत् ॥ २२ ॥

इन्द्रियाणां सर्गादावेवोत्पन्नत्वात्तानि प्रत्युपष्टम्भकत्वमात्रमत्रोक्तम् । धातूनां तु प्रतिशरीरमिदानीमेवोत्पत्तेस्तान्प्रत्युत्पादकत्वमिति विभागः । 'त्वगसृङ्मांसमेदोस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः' इति त्वगादयः शुक्रान्ताः सप्त धातवः कथ्यन्ते । तत्राऽऽद्याः षट्कोशत्वेनोच्यन्ते । मज्जास्थिस्नायवः शुक्राद्,रक्तात्त्वङ्मांसशोणितानीति षाट्कौशिकं नाम देहो भवति । इह त्वन्नरसादेव पच्यमानात्किट्टसारात्मना त्वग्रसयोरुत्पत्तिरिति किट्टभूतां त्वचमनादृत्य रस एव रक्तं भवतीती तदारभ्य मेदसश्चरमावस्था स्नायुपदेन पृथग्धात्वात्मना कोशात्मना च स्वीकृत्य कोशगतषट्संख्या धातुगतसप्तसंख्या चेति द्रष्टव्यम् ॥ १५ ॥

बलमिति । शुक्रम् । **बलाच्छोणितसंयुक्ताद्** इति मातृबीजसहितात् पितृबीजात् **कालविपाकत** इति । स कललादिपरिणामक्रमेण ॥ १६ ॥

तदाह–**ऋतुकाल** इत्यादिना । **निर्दोषमिति** । धातुषु नित्यं स्थितानामपि वातपित्तश्लेष्मणां प्रतिकूलत्वे सत्येव दोषत्वम् । अनुकूलत्वे तु गुणत्वमेव यदुक्तम्–'कालेन जन्तुर्भवति दोषास्त्वनुगुणा यदि' इति । **मारुतेनेति** । तदुक्तमागमे– 'स्वस्थानतश्च्युताच्छुक्राद्बिन्दुमादाय मारुतः । गर्भाशयं प्रापयति यदा तुल्यं तदा परः ॥ आर्तवात्मसमं बीजमादायास्याश्च मूलतः ॥ यदा गर्भाशयं नेष्यत्यथ संमिश्रयेन्मरुत्' इति ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

उक्तकललादिपरिणामस्य कालपरिमाणमाह–**एकाहात्सप्तरात्रेणे**त्यादि । तदुक्तं गर्भोपनिषदि–"एकरात्रोषितं कललं भवति, सप्तरात्रोषितं बुद्बुदं भवति, अर्धमासाभ्यन्तरेण पिण्डो भवति, मासाभ्यन्तरेण कठिनो भवति, मासद्वयेन शिरः कुरुते, मासत्रयेण पादप्रदेशो भवति, अथ चतुर्थे मासेऽङ्गुलिजठरकटिप्रदेशो भवति, पञ्चमे मासे पृष्ठवंशो भवति; षण्मासे नासाक्षिश्रोत्राणि भवन्ति, सप्तमे मासे जीवेन संयुक्तो भवति, अष्टमे मासे सर्वसंपूर्णो भवति" ॥ २० ॥ २१ ॥

जातिस्मर इति । कारणकर्मपरिज्ञानेन दुःखाभिवृद्धये तान्येव कर्माणि पूर्वजन्मान्तराण्यपि स्मारयन्तीत्यर्थः । श्रूयते हि तत्रैव– "नवमे मासि सर्वलक्षणसंपूर्णो भवति, पूर्वजातीः स्मरति, कृताकृतं च कर्म भवति, शुभाशुभं च कर्म विन्दति" इति ॥ २२ ॥

और उससे अंत में शुक्र बनता है ॥ १४–१५१/२ ॥ (पूर्व में धातुओं की वृद्धि बतायीथी, यहाँ उत्पत्ति कम बताया है अतः अपुनरुक्ति है ।)

शोणित-सम्बद्ध शुक्र से यथाकाल प्रजा उत्पन्न होती है । ॥ १६ ॥ ऋतुकाल में जब दोषरहति शुक्र योनि में जाकर वायु-प्रेरित हो स्त्रीशोणित से मिल जाता है तब शुक्र-शोणित के उस संयुक्त रूप से कलल और बुद्बुद क्रम से पिण्ड बनता है । पहले गर्भस्थ का सिर बनता है फिर दोनो पैर बनते हैं । ऐसे ही अंगुलियाँ, कमर पीठ की हड्डियाँ और जोड़ बनते हैं । आँखे, नाक और कान बनने के बाद गर्भस्थ देह में जीव सबोध होता है ॥ १७-१९ ॥ क्रम से ही यह अंग प्रत्यंगों की सम्पूर्णता होती है । एक दिन में कलल, सात दिन में बुद्बुद; पन्द्रह दिन में पिण्ड तथा पहले दूसरे तीसरे आदि महीनों में बढ़ोत्तरी होती जाती है । इस प्रकार पूरा बढ़ा गर्भ पूर्व कर्मों के कारण रौरव नरक की तरह दुःख पाता है । सबोध होने से वह उस पीडा का अनुभव करता है । उस समय वह जीव अपने पूर्व जन्मों को स्मरण करता है ॥ २०-२२ ॥

---

१. क. ख. °ण्डं दृढं भवेत्तद्व° । २. प्रवेशस्त्वन्नेन सहैवेति पंचाग्निप्रसंगे स्पष्टम् । ३. क. ख. ग. घ. °वेत्तत्क्रम° । ४. ग. ङ. तथा । ५. वैराग्यविधेरर्थवादतयापि जातिस्मरवचांसि नेतुं शक्यानीति ज्ञेयम् ।

नानायोनिसहस्राणि पुरा प्राप्तानि वै मया । आहारा विविधा भुक्ताः पीताश्च विविधाः स्तनाः ॥ २३ ॥
अहो दुःखोदधौ मग्नो न पश्यामि प्रतिक्रियाम् । यदि योन्याः प्रमुञ्चामि तं प्रपद्ये महेश्वरम् ॥ २४ ॥
अध्येष्यामि सदा वेदान्साङ्गाञ्छुश्रूषया गुरोः । नित्यं नैमित्तिकं कर्म श्रद्धयैव करोम्यहम् ॥ २५ ॥
कृतदारः पुनर्यज्ञान्करोम्यात्मविशुद्धये । यज्ञैर्दग्धमलो भूत्वा ज्ञात्वा संसारहेयताम् ॥ २६ ॥
वैराग्यातिशयेनैव मोक्षकामनया पुनः । निरस्य सर्वकर्माणि शान्तो भूत्वा जितेन्द्रियः ॥ २७ ॥
विरजानलजं भस्म गृहीत्वा चाग्निहोत्रजम् । अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैः षड्भिराथर्वणैः क्रमात् ॥ २८ ॥
विमृज्याङ्गानि मूर्धादिचरणान्तानि सादरम् । समुद्धूल्य सदाऽऽचार्यं प्रणिपत्याऽऽत्मविद्यया ॥ २९ ॥
संसारसागरं घोरं लङ्घयाम्यहमात्मनः । इत्थं गर्भगतः स्मृत्वा योनियन्त्रप्रपीडनात् ॥ ३० ॥
जायते वायुना याति विस्मृतिं वैष्णवेन[१] च । अज्ञाने सति रागाद्या धर्माधर्मौ च तद्वशात् ॥ ३१ ॥
धर्माधर्मवशात्पुंसां शरीरमुपजायते । ज्ञानेनैव निवृत्तिः स्यादज्ञानस्य न कर्मणा ॥ ३२ ॥
यद्यात्मा मलिनः कर्ता भोक्ता च स्यात्स्वभावतः । नास्ति तस्य विनिर्मोक्षः संसाराज्जन्मकोटिभिः ॥ ३३ ॥

गर्भोपनिषदर्थं संगृह्णाति—**नानायोनी**त्यादि । इत्थं हि श्रूयते—"नानायोनिसहस्राणि [२]दृष्टाश्चैव ततो मया । आहारा विविधा भुक्ताः पीताश्च विविधाः स्तनाः ॥ जातश्चैव मृतश्चैव जन्म चैव पुनः पुनः । अहो दुःखोदधौ मग्नो न पश्यामि प्रतिक्रियाम् । यदि योन्याः प्रमुञ्चामि सांख्यं योगं समाश्रये । अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायिनम् । यदि योन्याः प्रमुञ्चामि तं प्रपद्ये महेश्वरम्" इत्यादि ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

इत्थं गर्भगत इत । तदाह सैवोपनिषत्—'योनिद्वारेण संप्राप्ते यन्त्रेणाऽऽपीड्यमानो महता दुःखेन जात[३]मात्रस्तु वैष्णवेन वायुना संस्पृशति तदा न स्मरति' इति ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

यद्यात्मा मलिन इति । मलिनसत्त्वप्रधानमायोपाधिकत्वमात्मनो मालिन्यं तन्निबन्धनश्च भोग इत प्रागुक्तं, तद्यदि स्वाभाविकं स्यात्तदा न मुक्तिरित्यर्थः[४] ॥ ३३ ॥

वह यों सोचता है—'मैंने अब तक नानाविध हज़ारों योनियाँ प्राप्त की हैं । भिन्न-भिन्न आहार खाये हैं । सब प्रकारों के पेय चखे हैं । न जाने कितनी माताओं का स्तनपान किया है । अहो कष्ट है ! इतना भोगकर भी मैं रहा सदा दुःखसागर में ही डूबता । इससे उबरने का उपाय मैंने कभी अनुष्ठित नहीं किया । यदि इस गर्भ से निकलूँगा तो अवश्य महादेव की शरण लूँगा । श्रीगुरु से अंगों सहित वेदों का पावन अध्ययन करूँगा । परम श्रद्धापूर्वक नित्य व नैमित्तिक कर्म निर्वर्तित करूँगा । सत्पत्नी का ग्रहण कर पुनः चित्तशुद्धि के उद्देश्य से विविध यज्ञों को संपादित करूँगा । अत्यधिक वैराग्य से प्रेरित हुआ मोक्ष की इच्छा से सर्वकर्मसंन्यास कर जितेन्द्रिय होकर शांत वृत्ति से रहूँगा । विरजाहोम की या अग्निहोत्र की भस्म लेकर 'अग्निरिति' आदि अथर्ववेदीय छह मंत्रों से उसे सिर से पैर तक यथाविधि लगाऊँगा । यों समुद्धूलन कर उत्तम आचार्य के पास जाकर सेवादिपूर्वक शिवात्मविद्या का ग्रहण करूँगा और उससे इस घोर संसारसागर से तर जाऊँगा ।' ॥ २३—२९ $^{1}/_{2}$ ॥

योनि की यंत्रणा से पीडित होता हुआ जीव इस प्रकार का विचार करता है । किन्तु जब उत्पन्न होता है तो वैष्णवी मायात्मक वायु के स्पर्शमात्र से यह सब भूल जाता है । मूलतः अज्ञानी तो वह होता ही है । जब इस यंत्रणा व अपनी प्रतिज्ञा को विस्मृत कर देता है तब साधनाप्रवृत्ति न होकर स्वाभाविक राग-द्वेष और तत्प्रेरित धर्मा-ऽधर्म करता रहता है । धर्माधर्म से निश्चित ही उसे पुनः शरीर मिलना है और यों यह चक्र चलता रहता है । इसकी निवृत्ति तो एकमात्र ज्ञान से है, कर्म से नहीं । ३०—३२ ॥

यदि आत्मा स्वभाव से—स्वरूप से—अशुद्ध अर्थात् कर्ता-भोक्ता होता तो करोड़ों जन्मों में भी उसका मोक्ष संभव नहीं

१. ब्राह्मी माया जन्महेतु वैष्णवी स्थितिहेतुः शाम्भवी च मोक्षहेतुरित्युपेयते । वैष्णवी मायैवेह वैष्णवो वायुः । मायायाः कार्यविशेष एवैवमुक्तो वोध्यः । न च गर्भस्थस्यैवंविधविचारोऽप्रामाणिकः, शास्त्रस्यैव तत्र मानत्वात् । किंच ज्ञानाय यतेतेत्यत्रैव तात्पर्यात्सर्वमनाकुलम् ।
२. ध. दृष्ट्वा चैव । ३. घ. °तस्तु ॥ ४. स्वभावापरिवर्तनीयत्वात् ।

आत्माऽयं केवलः स्व[१]च्छः शान्तः सूक्ष्मः सनातनः । अस्ति[२] सर्वान्तरः साक्षी चिन्मात्रसुखविग्रहः ॥ ३४ ॥
अयं स भगवानीशः स्वयंज्योतिः सनातनः । अस्माद्धि जायते विश्वमत्रैव प्रविलीयते ॥ ३५ ॥
अयं ब्रह्मा शिवो विष्णुरयमिन्द्रः प्रजापतिः । अयं वायुरयं चाग्निरयं सर्वाश्च देवताः ॥ ३६ ॥
य एवंभूतमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरेणाऽऽत्मापहारिणा ॥ ३७ ॥
ब्राह्मण्यं प्राप्य लोकेऽस्मिन्नमूकोऽबधिरो भवेत् । नापक्रामति संसारात्स खलु ब्रह्महा भवेत् ॥ ३८ ॥
आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः । किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनु संज्वरेत् ॥ ३९ ॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्टे ह्यात्मनि सुव्रत ॥ ४० ॥
यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । ज्ञात्वाऽऽत्मानं परानन्दं न बिभेति कुतश्चन ॥ ४१ ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन श्रद्धया गुरुभक्तितः[४] । उत्सृज्य प्राकृतं भावं शिवोऽहमिति भावयेत् ॥ ४२ ॥
एतद्धि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणानां विशेषतः । प्राप्यैतत्कृत कृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा ॥ ४३ ॥

कथं तर्हि विनिर्मोक्षः ? तत्राऽऽह–**आत्माऽयं केवल** इति । अनेन शोधितत्वंपदार्थो दर्शितः ॥ ३४ ॥

तस्य तत्पदार्थतादात्म्यरूपं महावा[५]क्यार्थमाह–**अयं स भगवानिति** ॥ ३५ ॥

अयं ब्रह्मेति । श्रूयते हि 'स ब्रह्म(ह्मा) स शिवः स हरिः स इन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्' इति ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

ब्राह्मण्यं प्राप्येति । **अमूकः** शास्त्राण्यध्येतुं शक्तः । **अबधिरः** श्रोतुं क्षमः । इत्थं ज्ञानसामग्रीसद्भावेऽपि, आलस्यादिना सच्चिदानन्दैकरसमात्मानमजानानः पुनः पुनः संसारे पातयति यः स ब्रह्मघातक इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

अविदुषः संसारप्राप्त्याऽऽत्मघातकतामुक्त्वा विदुषस्तद्विरह[६]तामाह–**आत्मानं चेदिति** ॥ ३९ ॥

ज्ञानिनस्तापहेतुशरीरेन्द्रियादिसंबन्धविरहे कारणमाह–**भिद्यत** इति ॥ ४० ॥

कुतश्चनेति विहिताकरणादविहितकरणाद्वेत्यर्थः । श्रूयते हि 'एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम्' इति ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

क्योंकि स्वभाव परिवर्तनीय नहीं होता है । (स्वरूप तो दूर की बात है, यदि किसी भी वास्तविक कारण से बंधन होता तो भी मोक्ष की आशा नहीं । कारण यह कि उस कारण को हम समाप्त कर नहीं सकते क्योंकि हर वास्तविक वस्तु व्यक्त या अव्यक्त रूप से अवश्य रहती है । उसका ध्वंस भी केवल उसका सूक्ष्म रूप से, प्रविलीन रूप से रहना ही है । अतः कारण वास्तव होने पर सनातन होता और इसीलिये मोक्ष नाम की स्थिति नृशृङ्ग जैसी असत् होती । किन्तु शास्त्र उसे शाश्वत सत्य कहता है । मोक्षसत्यत्व की अन्यथा अनुपपत्ति से बन्धन का मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है ।) ॥ ३३ ॥ यह आत्मा अद्वितीय निर्मल शान्त अविषय नित्य प्रत्यक् द्रष्टृस्वभाव ज्ञानात्मक सुखरूप है ॥ ३४ ॥ यही वह भगवान् ईश्वर है जो स्वप्रकाश नित्य है । इस आत्मा से ही संसार उत्पन्न होता है और इसी में लीन होता है ॥ ३५ ॥ आत्मा ही ब्रह्मा, शिव, विष्णु, इंद्र, प्रजापति, वायु, अग्नि तथा सारे देवता है ॥ ३६ ॥ ऐसे तात्त्विक आत्मा को जो अन्य प्रकार का बद्ध, परिच्छिन्न आदि समझता है, उसने आत्मा के वास्तविकत्त्व को चुराने की कोशिश द्वारा सभी पाप कर लिये हैं ॥ ३७ ॥ संसार में ब्राह्मणजन्म पाकर न गूंगा होना चाहिये न बहरा अर्थात् शास्त्राध्ययन और वेदान्त श्रावण अवश्य करना चाहिये । जो ज्ञानसामग्री के रहते भी संसारसमुद्र को लाँघ नहीं जाता वह निश्चित ही ब्रह्महत्यारा है ॥ ३८ ॥ यदि 'यह आत्मा मैं ही हूँ' इस प्रकार पुरुष आत्मा को जान ले तो वह क्योंकर कामनाओं के परवश हुआ शरीर को स्वस्वरूप समझे ? ॥ ३९ ॥ आत्मयाथात्म्य का दर्शन हो जाने पर हृदय की गाँठ खुल जाती है–आत्मा-अनात्मा का आध्यासिक सम्बंध बाधित हो जाता है । सारे संशय निवृत्त हो जाते हैं । आत्मज्ञाता के कर्म क्षीण हो जाते हैं– संचित नष्ट हो जाते हैं, आगामी उससे सम्बद्ध नहीं होते और प्रारब्ध बाधितानुवृत्तिपूर्वक खेल खेल में भोग लिए जाते हैं ॥ ४० ॥ मन और वाणी जिसे विषय नहीं कर सकते उस परम आनन्दरूप आत्मा को जानकर विद्वान् को किसी भी हेतु से कोई भय नहीं होता क्योंकि भयहेतु नामक द्वितीय कुछ रहता ही नहीं ॥ ४१ ॥ इसलिये गुरुसेवापूर्वक पूर्णप्रयत्न से आज्ञानिक आत्मभावनाओं को छोड़ 'मैं शिव हूँ' ऐसा निश्चय करना चाहिये ॥ ४२ ॥ यह निश्चय प्राप्त होना ही जन्म की सफलता है । खासकर ब्राह्मणों के लिए तो यही एकमात्र लक्ष्य है । इसे पाकर ब्राह्मण कृतकृत्य हो जाता है । कृतकृत्यता पाने का और कोई साधन किसी के लिये नहीं है ॥ ४३ ॥ हे बृहस्पति ! मैंने सब उपनिषदों का सार तुम्हें बता

१. व. स्वस्थः । २. ख. ङ. °स्माद्विजा° । ३. आत्मस्तेयाख्यपरपापस्य ब्रह्मघातस्य प्रायश्चित्तमाह-आत्मानमिति । ४. गुरोः सेवया ततो विद्या ग्राह्येत्यर्थः । यद्वा महत्या भक्त्येत्यर्थः । सैव गुर्वी भक्ति र्यामाह भगवान् भक्त्या मामभिजानातीति । ५. ख. ग. °वाक्यना° । ६. ङ. °हत्वमा° ।

सर्ववेदान्तसर्वस्वं मया प्रोक्तं बृहस्पते । श्रद्धयैव विजानीहि श्रद्धा सर्वत्र कारणम् ॥ ४४ ॥

सूत उवाच—इति श्रुत्वा मुनिश्रेष्ठा गिरां नाथः समाहितः । स्तोतुमारभते भक्त्या देवदेवं त्रियम्बकम् ॥ ४५ ॥

बृहस्पतिरुवाच—नमः शिवाय सोमाय सपुत्राय त्रिशूलिने । प्रधानपुरुषेशाय[1] सृष्टिस्थित्यन्तहेतवे ॥ ४६ ॥

सर्वज्ञाय वरेण्याय शंकरायाऽऽर्तिहारिणे । नमो वेदांतवेद्याय चिन्मात्राय महात्मने ॥ ४७ ॥

देवदेवाय देवाय नमो विश्वेश्वराय च । ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम् ॥ ४८ ॥

ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं विश्वरूपं नमाम्यहम् । विश्वं विश्वाधिकं रुद्रं विश्वमूर्तिं वृषध्वजम् ॥ ४९ ॥

नमामि सत्यविज्ञानं हृदयाकाशमध्यगम् । चन्द्रः सूर्यस्तथेन्द्रश्च वह्निश्च यमसंज्ञितः ॥ ५० ॥

निर्ऋतिर्वरुणो वायुर्धनदो रुद्रसंज्ञितः । [2]स्थूला मूर्तिर्महेशस्य तया व्याप्तमिदं जगत् ॥ ५१ ॥

यस्य प्रसादलेशेन देवा देवत्वमागताः । तं नमामि महेशानं सर्वज्ञमपराजितम् ॥ ५२ ॥

नमो दिग्वाससे तुभ्य[3]मम्बिकापतयेनमः । उमायाः[4] पतये तुभ्यमीशानाय नमो नमः ॥ ५३ ॥

श्रद्धयैवेति । श्रद्धा हि समाधिलाभद्वारा पुरुषार्थसाधनमु[5]क्ता पातञ्जले 'श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्' इति ॥ ४४ ॥ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

दिया । (शिवैकसत्यत्व, शिवेतर-मिथ्यात्व और प्रत्यक्-शिवैक्य—यही श्रुत्यन्तसार है ।) श्रद्धा से ही इसे जानो । सभी दुर्लभ वस्तुओं की प्राप्ति में श्रद्धा ही कारण होती है ॥ ४४ ॥

सूत जी बोले—हे उत्तम मुनियों ! भगवान् के इस प्रकार के उपदेश को सुनकर बृहस्पति ने भक्ति से एकाग्र हो उनकी स्तुति करना प्रारंभ किया—॥ ४५ ॥

बृहस्पति ने कहा—पुत्रों सहित शिव को प्रणाम है । त्रिशूलधारी को प्रणाम है । माया, जीव और ईश्वर तीनों रूपों में व्यक्त होने वाले तथा संसार की सृष्टि, स्थिति व समाप्ति के कारण परमशिव को प्रणाम है ॥ ४६ ॥ सर्वज्ञ, चुनने योग्य, कल्याणकारी, दुःखनिवारक, उपनिषद्गम्य, चिन्मात्रस्वरूप कृपालु शंकर को नमस्कार है ॥ ४७ ॥ सब देवताओं के शासक, प्रपंच-क्रीडा के अद्वितीय खिलाड़ी, सबके मालिक को नमस्कार है । जो शाश्वत नियमरूप और नियमों का पालन करना रूप हैं, सर्वश्रेष्ट व्यापक तथा पूर्ण हैं, जो अविद्यालांछित प्रतीत होते हैं, कभी कुछ पैदा न करने वाले, अलौकिक ज्ञान वाले सर्वरूप उन महेश्वर को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ४८[1]/[2] ॥ चंद्र, सूर्य, इंद्र, वह्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, कुबेर, रुद्र आदि महेश की स्थूल मूर्तियाँ हैं जिन्होंने संसार को व्याप्त कर रखा है ॥ ५०—५१ ॥ जिसकी कृपा के अंशमात्र से देवताओं ने

१. तथा च श्वेताश्वतारोपनिषदि 'प्रधानक्षेत्रज्ञपति र्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः' (६-१६) इति । २. ग. घ. ङ. स्थूलमू° । ३. ङ. °भ्यमीशानाय नमो न° । ४. अम्बिकेति निग्रहशक्तिरुक्ता । उमेति त्वनुग्रहशक्तिरुच्यते । ५. घ. °भुक्तं पा° ।

नमो नमो नमस्तुभ्यं पुनर्भूयो नमो नमः । ॐकारान्ताय सूक्ष्माय मायातीताय ते नमः ॥ ५४ ॥

नमो नमः कारणकारणाय[1] ते नमो नमो मङ्गलमङ्गलात्मने[2] ।

नमो नमो वेदविदां मनीषिणामुपासनीयाय नमो नमो नमः ॥ ५५ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे पिण्डोत्पत्तिकथनं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

ईश्वर उवाच—अथातः संप्रवक्ष्यामि नाडीचक्रमनुत्तमम् । श्रद्धया गुरभक्त्या च विद्धि वाचस्पतेऽधुना ॥ १ ॥

शरीरं तावदेव स्यात्षण्णवत्यङ्गुलात्मकम् । मनुष्याणां मुनिश्रेष्ट स्वाङ्गुलीभिरिति श्रुतिः ॥ २ ॥

देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम् । त्रिकोणं मनुजानां तु सत्यमुक्तं बृहस्पते ॥ ३ ॥

गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलादधः । देहमध्यं विजानीहि मनुष्याणां बृहस्पते ॥ ४ ॥

कन्दस्थानं मुनिश्रेष्ठ मूलाधारान्नवाङ्गुलम् । चतुरङ्गुलमायामविस्तारं मुनिसत्तम ॥ ५ ॥

कुक्कुटाण्डवदाकारं भूषितं च त्वगादिभिः । तन्मध्यं नाभिरित्युक्तं मुने वेदान्तवेदिभिः ॥ ६ ॥

ॐकारान्तायेति । ॐकारस्य ह्यन्तो नादस्तत्प्रतिपाद्यतया निष्कलः शिवोऽपि तथोच्यते ॥ ५४ ॥ ५५ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्डे पिण्डोत्पत्तिकथनं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

यतः शरीरसंस्थानज्ञानाधीनं नाडीज्ञानं तदधीनं च तच्छोधनविज्ञानमतः शरीरोत्पत्तिकथनानन्तरं नाडीचक्राभिधानं प्रतिजानीते—**अथात** इति ॥ १ ॥

षण्णवत्यङ्गुलेति । अत्राङ्गुलीशब्देन शरीरायामस्य षण्णवतितमांशोऽभिधीयते ॥ २ ॥

तादृशानामंशानामप्यष्टचत्वारिंशत्तममधस्तादुपरिष्टाच्च परित्यज्य[3] मध्ये मूलाधारस्तमाह—**देहमध्य** इति । **शिखिस्थान**मग्निस्थानम् । तदाहुरागमिकाः— "षण्णवत्यङ्गुलोत्सेधो देहः स्वाङ्गुलिमानतः । पाय्वन्तद्व्यङ्गुलादूर्ध्वं लिङ्गाच्च द्व्यङ्गुलादधः । मध्यमेकाङ्गुलं यच्च देहमध्यं प्रचक्षते" इति ॥ ३ ॥ ४ ॥

कन्दस्थानमित्यादि । तदुक्तमन्यत्र—"नवाङ्गुलोर्ध्वतस्तस्मादस्ति कन्दोऽण्डसंनिभः । चतुरङ्गुलविस्तार उत्सेधेनापि तत्समः । त्वगस्थिभूषितः कन्दस्तन्मध्यं नाभिरुच्यते" इति ॥ ५ ॥ ६ ॥

अपने पद पाये हैं उन कभी न हारने वाले सर्वज्ञ महान् ईशान को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ५२ ॥ दिगम्बर, अम्बिकापति, उमापति ईशान आपको बारंबार प्रणाम है ॥ ५३ ॥ आपको अनेकों बार प्रणाम है । प्रणवनाद के साक्षीरूप से स्फुट समझे जा सकने वाले दुर्लक्ष्य तथा माया से अतीत आपको नमस्कार है ॥ ५४ ॥ कारणों के भी कारण और मंगलों के भी मंगल आपको प्रणाम है । वेदवेत्ता मनीषियों के उपास्य आपको भूयोभूयो नमस्कार है ॥ ५५ ॥

नाडीचक्र-निरूपण नामक ग्यारहवा अध्याय

शङ्कर जी ने आगे कहा—हे वाचस्पति (बृहस्पति) ! अब मैं साधना में अत्यधिक उपयोगी नाडीचक्र के विषय में बताता हूँ इसे श्रद्धा व गुरुसेवापूर्वक समझना चाहिये ॥ १ ॥

मनुष्यों का शरीर अपनी-अपनी अंगुली के हिसाब से छयानब्वे अंगलु लम्बा होता है ॥ २ ॥ देह के ठीक मध्य में तपे सोने के रंग का अग्निस्थान है जो त्रिकोणाकार है ॥ ३ ॥ गुदासे दो अंगुल ऊपर व शिश्नसे दो अंगुल नीचे (रीढ़ की हड्डी

१. परिणामिनोप्यधिष्ठानायेत्यर्थः । २. मंगलानां मांगल्यहेतवे । अशिवस्य स्वरूपतएवामंगलत्वात् । ३. ध. °ज्य मू° ।

कन्दमध्ये स्थिता नाडी सुषुम्नेति प्रकीर्तिता । तिष्ठन्ति परितस्तस्या नाडयो मुनिसत्तम ॥ ७ ॥
[१]द्विसप्ततिसहस्राणि तासां मुख्याश्चतुर्दश । सुषुम्ना पिङ्गला तद्वदिडा चैव सरस्वती ॥ ८ ॥
पूषा च वारुणी चैव हस्तिजिह्वा यशस्विनी । अलम्बुषा कुहूश्चैव विश्वोदारा [२]पयस्विनी ॥ ९ ॥
शङ्खिनी चैव गान्धारी इति मुख्याश्चतुर्दश । तासां मुख्यतमास्तिस्रस्तिसृष्वेका वरा मुने ॥ १० ॥
ब्रह्मनाडीति सा प्रोक्ता मुने वेदान्तवेदिभिः । पृष्ठमध्ये स्थितेना[३]स्थ्ना वीणादण्डेन सुव्रत ॥ ११ ॥
सह मस्तकपर्यन्तं सुषुम्ना सुप्रतिष्ठिता । नाभिकन्दादधः स्थानं कुण्डल्या द्व्यङ्गुलं मुने ॥ १२ ॥
अष्टप्रकृतिरूपा सा कुण्डली मुनिसत्तम । यथावद्वायुचेष्टां च जलान्नादीनि नित्यशः ॥ १३ ॥
परितः कन्दपार्श्वेषु निरुध्यैव सदा स्थिता । स्वमुखेन सदाऽऽवेष्ट्य ब्रह्मरन्ध्रमुखं मुने ॥ १४ ॥

पवनस्य सुषुम्नाप्रवेशलक्षणं योगमग्रे विवक्षुः सुषम्नाया नाड्यन्तरेभ्यः प्राधान्यमाह—**कन्दमध्य** इति ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

ब्रह्मनाडीति ब्रह्मलोकप्राप्तिद्वारत्वात् । तथा[४]चाऽऽथर्वणोपनिषदि—"शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्व[५]ङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति" इति । अमृतत्वं ह्यत्र ब्रह्मलोकप्राप्तिर्मता । "आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते" इत्याहुः । उक्तानां नाडीनां संस्थानमभिधित्सुः प्रथमं सुषुम्नामाह—**पृष्ठमध्य** इति ॥ ११ ॥

पवनो हि मूलाधारादुत्थित इडापिङ्गलाभ्यां बहिरस्तमेति । तदुक्तम्—"देहेऽपि मूलाधारेऽस्मिन्समुद्यति समीरणः । नाडीभ्यामस्तमभ्येति घ्राणतो द्विषडङ्गुले" इति । तत्र मूलाधारादुत्थितस्य वायोः स्वसंमुखावस्थितमध्यवर्तिसुषुम्नाद्वारपरित्यागेन पार्श्वस्थितयोरिडापिङ्गलयोः संचारे कारणं सुषुम्नाद्वारस्य कुण्डल्या स्वफणाग्रेणापिधानमभिधातुं कुण्डल्याः स्थानं स्वरूपं व्यापारं च क्रमेणाऽऽह—**नाभिकन्दा**दिति ॥ १२ ॥

अष्टप्रकृतीति । "मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त" इत्युक्ता अष्टौ प्रकृतयः । तत्र मूलप्रकृत्यात्मिका कुण्डली तस्याः सुषुम्नावेष्टनानि महदादिसप्तप्रकृतिविकृत्यात्मकानीत्यष्टप्रकृतिरूपता । सा ह्यष्टधा कुण्डलीकृता तिष्ठति । यदाहुः— "कुण्डली परितस्तस्मादष्टधा कुण्डलीकृता । अष्टप्रकृतिरूपा सा सुप्तसर्पसमाकृतिः" इति । एवं स्वरूपमुक्त्वा व्यापारमाह— **यथावदि**ति ॥ १३ ॥

मूलाधारादुत्थितस्य पवनस्य साक्षात्स्वसंमुखसुषुम्नाद्वारसंचारादियथावद्वायुचेष्टतामियं निरुणद्धि । कोष्ठगतस्य ह्यशितपीतादेर्मूलाधारस्थज्वलनव्यवधायकत्वेन त्वरया पाकप्रतिबन्धो जलान्नादीनां निरोधः । **स्वमुखेने**ति । मुखेन सुषुम्नामूलरन्ध्रं पिधायाष्टधाकुण्डलीभावेन स्वग्री[६]वां परिवेष्ट्य शेषकायं वंशास्थिसंबन्धमुपरि नीत्वा पुच्छेन ब्रह्मरन्ध्रं पिदधातीत्यर्थः । तदुक्तम्— "कन्दनाभेरधोरन्ध्रे निधाय स्वफणां दृढम् । संनिरुध्य मरुन्मार्गं पुच्छेन स्वमुखं तथा ॥ ब्रह्मरन्ध्रं च संवेष्ट्य पृष्ठास्थ्ना सह सुस्थिता" इति ॥ १४ ॥

की सीध में) वह मूलाधार नाम से प्रसिद्ध स्थान है ॥ ४ ॥ उससे नौ अंगुल ऊपर कन्दस्थान है जो चार अंगुल आयाम वाला और मुर्गी के अण्डे के आकार का है । वह त्वचा आदि से युक्त है और उसके मध्य को नाभि कहा जाता है ॥ ५–६ ॥ कन्द के बीच में सुषुम्ना नामक नाडी स्थित है । उसके चारों ओर नाडियां हैं । कुल मिलाकर बहत्तर हज़ार नाडियाँ हैं । उनमें चौदह मुख्य हैं जिनके नाम हैं—सुषुम्ना, पिंगला, इडा, सरस्वती, पूषा, वारुणी, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू, विश्वोदारा, पयस्विनी, शंखिनी और गान्धारी । इनमें भी प्रमुख हैं तीन (इडा, पिंगला, सुषुम्ना) और उनमें भी एक (सुषुम्ना) ही सर्वप्रमुख है ॥ ७-१० ॥ उसे वेदान्तज्ञ ब्रह्मनाडी कहते हैं । पीठ में वीणादण्ड की तरह स्थित हड्डी के (हड्डीशृंखला के) साथ सुषुम्ना मस्तक तक गयी है । नाभिकन्द से नीचे कुण्डली का स्थान है जिसका दो अंगुल आयाम है ॥ ११–१२ ॥ कुण्डली अष्टप्रकृतिरूप है । (कुण्डली मूलप्रकृतिरूप व उसके सात वेष्टन महदादिरूप हैं ।) वह अपने मुख से सुषुम्ना के मूलच्छिद्र को और पूँछ से ब्रह्मरन्ध्र के छिद्र को बन्द किये रहती है । अतः सुषुम्ना में वायुचेष्टा न होने देकर कन्द के अगल-बगल ही वायुचेष्टा को

---

१. सार्धलक्षत्रयं नाडीनामितरत्र वर्णितमुपेक्ष्य संहत्य नाडीसंख्यामाह—द्विसप्ततीति । २. घ. °श्वोदरा । ३. ङ. °नान्यवी° । ४. घ. °था छान्देग्योप° । ५. घ. °ष्वमन्या । ६. ङ. °ग्रीवायां प° ।

सुषुम्नाया इडा सव्ये दक्षिणे पिङ्गला स्मृता । सरस्वती कुहूश्चैव सुषुम्नापार्श्वयोः स्थिते ॥ १५ ॥
गान्धारी हस्तिजिह्वा च इडायाः पूर्वपार्श्वयोः । पूषा यशस्विनी चैव पिङ्गलापृष्ठपूर्वयोः ॥ १६ ॥
कुह्वाश्च हस्तिजिह्वाया मध्ये विश्वोदरी स्थिता । यशस्विन्याः कुहोर्मध्ये वारुणी सुप्रतिष्ठिता ॥ १७ ॥
पूषायाश्च सरस्वत्या मध्ये प्रोक्ता पयस्विनी [१] । गान्धारायाः सरस्वत्या मध्ये प्रोक्ता च शङ्खिनी ॥ १८ ॥
अलम्बुषा स्थिता पायुपर्यन्तं कन्दमध्यतः । पूर्वभागे सुषुम्नाया मेढ्रान्तं संस्थिता कुहूः ॥ १९ ॥
अधश्चोर्ध्वं स्थिता नाडी वारुणी सर्वगामिनी । पिङ्गलासंज्ञिता नाडी याम्यनासान्तमिष्यते ॥ २० ॥
इडा चोत्तरनासान्तं स्थिता वाचस्पते तथा । यशस्विनी च याम्यस्य पादाङ्गुष्ठान्तमिष्यते ॥ २१ ॥
पूषा याम्याक्षिपर्यन्तं पिङ्गलायास्तु पृष्ठतः । पयस्विनी तथा याम्यकर्णान्तं प्रोच्यते बुधैः ॥ २२ ॥
सरस्वती तथा चोर्ध्वमा जिह्वायाः स्थिता मुने । हस्तिजिह्वा तथा सव्यपादाङ्गुष्ठान्तमिष्यते ॥ २३ ॥
शङ्खिनी नाम या नाडी सव्यकर्णान्तमुच्यते । गान्धारी सव्यनेत्रान्ता प्रोक्ता वेदान्तवेदिभिः ॥ २४ ॥
विश्वोदराभिधा नाडी तुण्डमध्ये व्यवस्थिता । प्राणोऽपानस्तथा व्यानः समानोदान एव च ॥ २५ ॥
नागः कूर्मश्च [२] कृकरो देवदत्तो धनंजयः । एते नाडीषु सर्वासु चरन्ति दश वायवः ॥ २६ ॥
तेषु प्राणादयः पञ्च मुख्याः पञ्च च [३] सुव्रत । प्राणसंज्ञस्तथाऽपानः पूज्यः प्राणस्तयोर्मुने ॥ २७ ॥

उद्घाटनीयद्वारायाः सुषुम्नायाः संस्थानमभिधाय निरोद्धव्यद्वारयोरिडापिङ्गलयोराह—**सुषुम्नाया** इति । सरस्वतीत्यादिनाडीस्थानसंनिवेशाभिधानस्य प्रयोजनं प्रमादात्तत्र प्रविष्टस्य पवनस्य प्रवेशमार्गेणैवापकृष्य सुषुम्नायोजनमिति । **सरस्वतीति** । सुषुम्नायाः पुरतः सरस्वती । तदुक्तम्—'सुषुम्नापूर्वभागस्था जिह्वान्तस्था सरस्वती । पृष्ठतश्च कुहूः' इति ॥ १५–१८ ॥

पूर्वभागे सुषुम्नाया इति । पृष्ठत उत्पन्नाऽपि सुषुम्नायाः पूर्वभागं समागत्य मेढ्रान्तं गतेत्यर्थः ॥ १९–२० ॥

याम्यस्य पादेति । याम्यस्य पादस्य योऽङ्गुष्ठस्तत्पर्यन्तमित्यर्थः ॥ २१–२५ ॥

दश वायव इति । तत्राऽऽद्या नव देहस्थितिहेतवः । दशमो धनंजयस्तु लौकिकः । यदाहुः—'धनंजयाख्यो देहेऽस्मिन्कुर्याद्बहुविधान्रवान् । स तु लौकिकवायुत्वान्मृतं च न विमुञ्चति' इति ॥ २६–२७ ॥

अवसर देना इसका काम है। ऐसे ही जठरस्थ अन्न-जल मूलाधारस्थ अग्नि के जलते रहने में व्यवधान न करें, इसलिये उनके पाचन को नियंत्रित रखना भी इसका कार्य है ॥ १३–१४ ॥ सुषुम्ना की बायीं ओर इडा और दाहिनी ओर पिंगला नाडियाँ हैं। ऐसे ही सुषुम्ना के आगे-पीछे सरस्वती व कुहू नाडियाँ हैं ॥ १५ ॥ इडा के सामने की ओर अगल-बगल गान्धारी और हस्तिजिह्वा नाडियाँ हैं। पिंगला के पीछे व आगे पूषा और यशस्विनी हैं ॥ १६ ॥ कुहू और हस्तिजिह्वा के बीच विश्वोदरी है। यशस्विनी और कुहू के बीच वारुणी स्थित है ॥ १७ ॥ पूषा और सरस्वती के बीच पयस्विनी है। गान्धारी और सरस्वती के मध्य शंखिनी है। [इस प्रकार सुषुम्ना को केन्द्र मान कर उसके दायें स्थित पिंगला से घड़ी के कांटों की गति के अनुसार देखें तो यहाँ बताया क्रम यह है—पिंगला, यशस्विनी, वारुणी, कुहू, विश्वोदरी, हस्तिजिह्वा, इडा, गान्धारी, शंखिनी, पयस्विनी और पूषा।] ॥ १८ ॥ अलम्बुषा नाडी कन्द के मध्य से पायु तक स्थित है। सुषुम्ना से पीछे की ओर उत्पन्न हुई कुहू सुषुम्ना के सामने की ओर जाकर शिश्न पर्यन्त स्थित है ॥ १९ ॥ वारुणी नाडी ऊपर-नीचे सर्वत्र गयी हुई है। पिंगला नाडी बायीं नाक की नोंक तक और इडा दायीं नाक की नोंक तक है ॥ $20^1/_2$ ॥ यशस्विनी बायें पैर के अंगूठे तक और हस्तिजिह्वा दायें पैर के अंगूठे तक है। पिंगला के सामने की ओर से निकलने वाली पूषा बायीं आँख तक और गान्धारी दायीं आँख तक गयी है। पयस्विनी बायें कान तक और शंखिनी दायें कान तक स्थित है। सरस्वती ऊपर की ओर जीभ तक है।

१ ग. घ. यशस्विनी । २ घ. कृकलो । ३ अत्र 'पञ्चसु' इति पाठः संभाव्यते ।

आस्यनासिकयोर्मध्ये नाभिमध्ये तथा हृदि । प्राणसंज्ञोऽनिलो नित्यं वर्तते मुनिसत्तम ॥ २८ ॥

अपानो वर्तते नित्यं गुदमेढ्रोरुसंधिषु । उदरे वृषणे कट्यां नाभौ जंघे च सुव्रत ॥ २९ ॥

व्यानः श्रोत्राक्षिमध्ये च कृकट्याङ्गुष्ठयोरपि । प्राणस्थाने गले चैव वर्तते [१] मुनिपुंगव ॥ ३०॥

उदानः सर्वसंधिस्थो विज्ञेयः पादहस्तयोः । समानः सर्वदेहेषु व्याप्य तिष्ठत्यसंशयः ॥ ३१ ॥

नागादिवायवः पञ्च त्वगस्थ्यादिषु संस्थिताः । उद्गारादि गुणः प्रोक्तो नागाख्यस्य बृहस्पते ॥ ३२ ॥

निमीलनादि कूर्मस्य क्षुतं तु कृकरस्य च । देवदत्तस्य कर्म स्यात्तन्द्रीकर्म महामुने ॥ ३३ ॥

धनंजयस्य शोकादि कर्म प्रोक्तं [२] बृहस्पते । निःश्वासोच्छ्वासकासादि प्राणकर्म बृहस्पते ॥ ३४ ॥

अपानाख्यस्य वायोस्तु विण्मूत्रादिविसर्जनम् । समानः सर्वसामीप्यं करोति मुनिसत्तम ॥ ३५ ॥

उदान ऊर्ध्वगमनं करोत्येव न संशयः । व्यानो विवादकृत्प्रोक्तो मुने वेदान्तवेदिभिः ॥ ३६ ॥

सुषुम्नायाः शिवो देव इडाया देवता हरिः । पिङ्गलाया विरिञ्चिः स्यात्सरस्वत्या विराण्मुने ॥ ३७ ॥

पूषा दिग्देवता प्रोक्ता वारुणी वायुदेवता । हस्तिजिह्वाभिधायास्तु वरुणो देवता भवेत् ॥ ३८ ॥

यशस्विन्या मुनिश्रेष्ठ भगवान्भास्करो मुने । अलम्बुषाभिमान्यात्मा वरुणः परिकीर्तितः ॥ ३९॥

कुहोः कुर्देवता प्रोक्ता गान्धारी चन्द्रदेवता । शङ्खिन्याश्चन्द्रमास्तद्वत्पयस्विन्याः प्रजापतिः ॥ ४० ॥

व्यापिनामपि प्राणानां स्थानविशेषेषु कार्यभेदकरतामभिप्रेत्याऽऽह–**आस्यनासिकयोरिति** ॥ २८ ॥ ऊरुसंधिर्वङ्क्षणः ॥ २९–३१ ॥ **नागादिवायव** इति । नागादीनां बाह्यकोशवर्तित्वं प्राणादीनामन्तःकोशवर्तित्वं चोक्तमन्यत्र–'एते प्राणादयः पञ्च मध्यकोशेषु संस्थिताः ।त्वगादिपञ्चकोशस्था नागाद्या बाह्यवायवः' इति ॥ ३२–३५ ॥ **विवादकृदिति** । विवादः प्राणापानयोः परस्परप्रतिबन्धादुभयाभावः । तदुक्तं छान्दोग्ये–''यद्वै प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपानोऽथ यः प्राणापानयोः संधिः स व्यानः सा वाक्तस्मादप्राणन्नपानन्वाचमभिव्याहरति'' इत्यादि ॥ ३६ ॥ उक्तनाडीनामधिष्ठातृदेवता आह–**सुषुम्नायाः शिव** इत्यादि ॥ ३७–४० ॥

विश्वोदरी मुँह के मध्य में स्थित है ॥ २१–२४½ ॥

सब नाडियों में दस वायुभेद संचरण करते हैं–प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय ॥ २५–२६ ॥ इनमें प्राणादि पाँच मुख्य हैं । उन प्राणादि पाँचों में भी प्राण और अपान मुख्य हैं तथा उन दोनों में प्राण ही श्रेष्ठ हैं ॥ २७॥ मुँह व नाक के बीच, नाभि में और हृदय में प्राण वायु रहता है ॥ २८ ॥ गुदा, शिश्न, जाँघ के जोड़, उदर, अण्डकोष, कमर, नाभि और जंघा में अपान रहता है ॥ २९॥ कान व आँख के बीच, गले के उठे हुए भाग में, दोनों अँगूठों में, नाक में और ग्रीवा में व्यान वायु रहता है ॥ ३० ॥ सब जोड़ों में स्थित उदान हाथ-पैर में रहता है । समान सारे शरीर में फैला रहता है ॥ ३१॥ नाग आदि पाँच वायुवृत्तियाँ त्वक्, अस्थि आदि में रहती हैं । थूकने आदि को नागवायु संभव करती है ॥ ३२ ॥ आँख बन्द करना आदि कूर्म वायु का कार्य है । छींकना कृकर वायु से होता है । तंद्रासूचक जँभाई आदि देवदत्त से होता है ॥३३॥ धनंजय वायु का कार्य है विकलता आदि करना । निःश्वास, उच्छ्वास, खाँसी आदि कर्म है प्राण का ॥ ३४ ॥ विष्ठा, मूत्रादि का विसर्जन अपान का कार्य है । समान सबके अर्थात् सब अंगों के समीप अन्न पहुँचाता है ॥ ३५ ॥ उदान ऊर्ध्वगमन में कारण है । (देह को सीधा रखना आदि व मरने पर पुर्यष्टक को गति देना ऊर्ध्वगमन है ।) व्यान का कर्म है प्राण और अपान को रोक कर वीर्यवत् कर्मों को करना ॥ ३६ ॥

सुषुम्ना के देवता शिव हैं । इडा के विष्णु, पिंगला के ब्रह्मा, सरस्वती के विराट्, पूषा के दिक्, वारुणी के वायु, हस्तिजिह्वा के वरुण, यशस्विनी के भास्कर, अलम्बुषा के वरुण, कुहू की पृथ्वी, गांधारी

---

१. इतरत्र तूक्तं'स चाक्षिकर्णयोर्मध्ये कट्यां वै गुल्फयोरपि । घ्राणे गले स्फिगुद्देशे तिष्ठत्यत्र निरन्तरम् ॥' इति । २ मानसोल्लासकृतस्तु 'स्थौल्यं धनञ्जयः कुर्यान्मृतं चापि न मुञ्चती' त्याहुः (९.१८) ॥

विश्वोदराभिधायास्तु भगवान्पावकः पतिः । इडायां चन्द्रमा नित्यं चरत्येव महामुने ॥ ४१ ॥

पिङ्गलायां रविस्तद्वन्मुने वेदविदांवर । पिङ्गलायां इडायां तु वायोः संक्रमणं तु यत् ॥ ४२ ॥

तदुत्तरायणं प्रोक्तं मुने वेदार्थवेदिभिः[1] । इडायाः पिङ्गलाया तु प्राणसंक्रमणं मुने ॥ ४३ ॥

दक्षिणायनमित्युक्तं पिङ्गलायामिति श्रुतिः । इडापिङ्गलयोः संधिं यदा प्राणः समागतः ॥ ४४ ॥

अमावास्या तदा प्रोक्ता देहे देहभृतां वर ।

मूलाधारं यदा प्राणः प्रविष्टः पण्डितोत्तम ॥ ४५ ॥

तदाऽऽद्यं विषुवं प्रोक्तं तापसैस्तापसोत्तम । प्राणसंज्ञो मुनिश्रेष्ठ मूर्धानं प्रविशेद्यदा ॥ ४६ ॥

दिनरात्रिषु विषुवायनग्रहणानि देहे दर्शयितुं तेषां चन्द्रसूर्यायत्तत्वात्तयोरेव तावद्देहेऽवस्थानमाह–**इडायां चन्द्रमा** इति । अत एवेडायां पवनस्योद्गमकालो रात्रिः, प्रवेशकालस्त्वहः । रात्रावहनि च परिपूर्णस्य चन्द्रस्योदयास्तमयनियमात् । पिङ्गलायां तु पवनस्योद्गमो दिनं प्रवेशो रात्रिः । तदुक्तं प्रपञ्चसारे–'देहेऽपि मूलाधारेऽस्मिन्समुद्यति समीरणः । नाडीभ्यामस्तमभ्येति घ्राणतो द्विषडङ्गुले ॥ अहोरात्रमिनेन्दुभ्यामूर्ध्वाधोवृत्तिरिष्यते' इति ॥ ४१ ॥

पिङ्गलाया इति । प्राङ्मुखस्थितस्य हि पुरुषस्य पिङ्गला दक्षिणदिशि भवति इडा तूत्तरदिशि । मकरायनसमये च दक्षिणदिगवस्थितः सूर्यः कर्कटायनपर्यन्तं नित्यमुत्तरो[2] गच्छतीति तदुत्तरायणं यथा, एवं पिङ्गलायां स्थितः पवनः सूर्यात्मा यावत्साकल्येनेडां संक्रामति तावदुत्तरायणमित्यर्थः । इत्थं दक्षिणायनमपि द्रष्टव्यम् । तदुक्तं प्रपञ्चसारे– "वामदक्षिणनाडीभ्यां स्यादुदग्दक्षिणायनम्" इति । कालोत्तरे च–'उत्तरं दक्षिणं प्रोक्तं वामदक्षिणसंज्ञितम्' इति ॥ ४२॥

इडापिङ्गलयोरिति । अमावास्यायां हि चन्द्रार्कौ सहैवोदयं सहैवास्तं च प्रतिपद्येते । इडावर्ती च प्राणश्चन्द्रः पिङ्गलावर्ती सूर्यः, संधिसमये चोभयत्र प्राणः सम एव वर्तमानः सहैवोदेति सहैव चास्तमेतीति साऽमावास्या ॥ ४४ ॥ **मूलाधारमिति** । सूर्यो हि प्राणः । तथा च प्रश्नोपनिषदि–"आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः" इति । स च प्राणो मूलाधारप्रवेशानन्तरमुदेति । मूर्धप्रवेशानन्तरं घ्राणतो द्विषडङ्गुले चास्तमेति । देवानां चाऽऽद्यविषुवे मेषायने सूर्योदयः । विषुवान्तरे तुलायने चास्तमय इति ॥ ४५ ॥ प्राणोदयास्तमयसमयौ विषुवद्वयत्वेनोक्तौ । अत्रामावास्यात्वेनोक्तो यः संधिसमयः स एव विषुवद्वयत्वेनोक्तः द्विशतिकालोत्तरे–"मध्ये तु विषुवं प्रोक्तं पुटद्वयविनिःसृतम्" इति । तत्र दक्षिणाद्वामगमनसमये यः संधिः स उत्तरायणमध्यवर्तित्वादाद्यविषुवकालः । इतरस्तु दक्षिणायनमध्यवर्तित्वाद् द्वितीयविषुवकाल इति ॥ ४६ ॥

के चंद्र, शंखिनी के चन्द्रमा, पयस्विनी के प्रजापति और विश्वोदरी के पावक देवता हैं ॥ ३७–४०½ ॥
इडा नाडी में सदा चन्द्रमा प्रचार करते हैं और पिंगला में सूर्य ॥ ४१½ ॥ पिंगला से इडा में वायु का संक्रमण आध्यात्मिक दक्षिणायन है ॥ ४२–४३½ ॥ जब प्राण इडा और पिंगला की संधि में स्थित होता है तब शारीरिक अमावास्या कही जाती है । जब प्राण मूलाधार में प्रवेश करता है तब प्रथम (अर्थात् उत्तरायण के मध्य होने वाला) विषुव, तथा जब प्राण मूर्धा में प्रवेश करता है तब अंतिम (दक्षिणायन में होने वाला) विषुव अध्यात्म-दृष्टि से बताया गया है । ४४–४६½ ॥ निःश्वास-उच्छ्वास का जो इडा से पिंगला में, पिंगला से सुषुम्ना में व सुषुम्ना से इडा में संचरण होता है उसे आध्यात्मिक संक्रान्ति

---

१ इतआरभ्य बाह्यतीर्थकालादेर्निन्दा योगाभ्यासे प्रवर्तनायैव, नानाधिकारिणां बहिस्तीर्थेभ्यो व्यावृत्तये । अतो वक्ष्यति (१२.२०) 'न बुद्धिभेदं जनयेदि'ति । २ घ. °त्तरं ग° । ङ. °त्तरे ग° ।

तदाऽन्त्यं विषुवं प्रोक्तं धार्मिकैस्तत्त्वचिन्तकैः ।
निःश्वासोच्छ्वासनं सर्वं मासानां संक्रमो भवेत् ॥ ४७ ॥
इडायाः कुण्डलीस्थानं यदा प्राणः समागतः । सोमग्रहणमित्युक्तं तदा तत्त्वविदां वर ॥ ४८ ॥
तथा पिङ्गलया प्राणः कुण्डलीस्थानमागतः । यदा तदा भवेत्सूर्यग्रहणं मुनिसत्तम ॥ ४९ ॥
श्रीपर्वतः शिरस्थाने केदारं तु ललाटके । वाराणसी महाप्राज्ञ भ्रुवोर्घ्राणस्य मध्यमे ॥ ५०॥
भ्रुवोर्घ्राणस्य यः संधिरिति जाबालकी श्रुतिः । कुरुक्षेत्रं कुचस्थाने प्रयागो हृत्सरोरुहे ।
चिदम्बरं च हृन्मध्य आधारः कमलालयः ॥ ५१ ॥
आत्मस्थं तीर्थमुत्सृज्य बहिस्तीर्थानि यो व्रजेत् ।
करस्थं स महारत्नं त्यक्त्वा काचं विमार्गति ॥ ५२ ॥
भावतीर्थं परं तीर्थं प्रमाणं सर्वकर्मसु ।
अन्यथाऽऽलिङ्ग्यते कान्ता भावेन दुहिताऽन्यथा ॥ ५३॥

संक्रमकालमाह—**निःश्वासेति** । इडाचारिणां निःश्वासोच्छ्वासानां ततः सकाशाद्यः सुषुम्नाप्रवेशकालस्ततश्च पुनः पिङ्गलाप्रवेशकालस्ततः पुनः सुषुम्नाप्रवेशकालः पुनरिडाप्रवेशकाल इति, तेऽविशेषेण संक्रमकाला इत्यर्थः । तदुक्तं कालोत्तरे—'संक्रान्तिः पुनरस्यैव स्वस्थानानिलयोगतः' इति । स्वस्यानिलस्य यानीडापिङ्गलासुषुम्नास्थानानि तेषां तद्योगत इत्यर्थः । तथा च स्पष्टीकृतं तत्रैव—"इडा च पिङ्गला चैव अमा चैव तृतीयका । सुषुम्ना मध्यमे ह्यङ्ग इडा वामे प्रकीर्तिता । पिङ्गला दक्षिणे ह्यङ्ग एषु संक्रान्तिरिष्यते" इति । अमा सुषुम्ना । तत्र हि सूर्याचन्द्रमसोः सहैवोदयास्तमयौ भवत इति ॥ ४७ ॥**इडाया** इति । इडासंचारिणः प्राणस्य चन्द्रात्मकत्वात्तस्य सुप्तसर्पाकारकुण्डलीस्थानेऽन्तर्हितत्वात्स सोमग्रहणकाल इत्यर्थः ॥ ४८ ॥ **तथा पिङ्गलयेति** । पिङ्गलाचारिणः प्राणस्य सूर्यात्मकत्वात्पूर्ववदेव तस्यापि ग्रहणम् ॥ ४९ ॥

योगिनः शरीरस्थानभेदानामेव तत्तत्तीर्थविशेषतामाह—**श्रीपर्वत** इति ॥ ५० ॥ **जाबालकी श्रुतिरिति** । "अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा तं कथमहं विजानीयामिति । स होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽविमुक्त उपास्यो य एषोऽनन्तोव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति सोऽविमुक्तः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति ? वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति । का वै वरणा का च नासीति[1] सर्वानिन्द्रियकृतान्दोषान्वारयति तेन वरणा भवति सर्वानिन्द्रियकृतान्पापान्नाशयति तेन नासी भवतीति कतमं चास्य स्थानं भवतीति ? भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः संधिः स एष द्यौर्लोकस्य परस्य च संधिर्भवति" इति हि तत्र श्रूयते ॥ ५१ ॥ उक्ततीर्थानां बाह्यतीर्थेभ्यो विशेषमाह—**आत्मस्थमिति । विमार्गति** गवेषते ॥ ५२ ॥ ननु बाह्यानि तीर्थानि प्रत्यक्षतो निरीक्ष्यन्त आन्तराणि तु भावनामात्रसिद्धानीति कथं ततस्तेषामुत्कर्ष इत्यत आह—**भावतीर्थमिति । भावः** शास्त्रप्रतिपादितेषु[2] प्राकृततीर्थेष्वास्तिक्यबुद्धिः । सा च संसारोत्तरणकारणतया तरन्त्यनेनेति **तीर्थं** तद्विषयीकृतस्यार्थस्य परमार्थत्वात्**प्रमाणं** च । बाह्यतीर्थस्नानदानादिषु सर्वेष्वपि कर्मसु सत्येव भावे फलसाधनता नान्यथेति तस्य सर्वत्र प्रमाणतेत्यर्थः । कर्मण एकरूपत्वेऽपि भावभेदस्यैव निषेधानिषेधवैषम्यहेतुत्वमुदाहरति—**अन्यथाऽऽलिङ्ग्यत** इति ॥ ५३ ॥

समझना चाहिये ॥ ४७ ॥ जब प्राण इडा से कुण्डलीस्थान को प्राप्त होता है तब चन्द्रग्रहण और जब पिंगला से वहीं पहुँचता है तो सूर्यग्रहण जानना चाहिये ॥ ४८–४९ ॥

योगी के सिर में श्रीपर्वत, ललाट में केदार, भ्रूमध्य व नासिका की सन्धि में वाराणसी, स्तन में कुरुक्षेत्र, हृदय में प्रयाग, हृदय के बीच चिदम्बर और आधार कमलालय है ॥ ५०–५१ ॥ जो इन निजस्थ तीर्थों को छोड़कर बाह्यतीर्थों की ओर जाता है वह मानो करस्थ श्रेष्ठ रत्न को छोड़कर काँच को ढूँढने निकलता है ॥ ५२ ॥ सभी कर्मों को सफल बनाने वाली भावना ही परम तीर्थ है । एक ही कर्म भावना बदल जाने से अलग फल दे देता है : पत्नी और पुत्री को आलिंगित एक ही तरह करने पर भी दोनों आलिंगनों में भावना अलग-अलग हैं अतः फलभूत पुलकादि भी विभिन्न हैं ॥ ५३ ॥ तीर्थों में जल ही है और वहाँ प्रतिष्ठित देवविग्रह

१ ङ. °तमच्चास्य° । २. क. ख. ग. °षु प्रकृ° ।

तीर्थानि तोयपूर्णानि देवान्काष्ठादिनिर्मितान् । योगिनो न प्रपद्यन्ते स्वात्मप्रत्ययकारिणः ॥ ५४ ॥

बहिस्तीर्थात्परं तीर्थमन्तस्तीर्थं महामुने । आत्मतीर्थं[१] परं तीर्थमन्तस्तीर्थं निरर्थकम् ॥ ५५ ॥

चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानैर्न शुध्यति । शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचि ॥ ५६ ॥

विषुवायनकालेषु ग्रहणे चान्तरे सदा । वाराणस्यादिके स्थाने स्नात्वा शुद्धो भवेन्नरः ॥ ५७ ॥

ज्ञानयोगपराणां तु पादप्रक्षालितं जलम् । पापशुद्ध्यर्थमज्ञानां तत्तीर्थं मुनिसत्तम ॥ ५८ ॥

तीर्थे दाने तपोयज्ञे काष्ठे पाषाणके सदा ।
शिवं पश्यति मूढात्मा शिवो देहे प्रतिष्ठितः ॥ ५९ ॥

सर्वत्रावस्थितं शान्तं न प्रपश्यन्ति शंकरम् । ज्ञानचक्षुर्विहीनत्वादहो मायाबलं मुने ॥ ६० ॥

आत्मस्थं यः शिवं त्यक्त्वा बहिःस्थं यजते शिवम् ।
हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य लिहेत्कूर्परमात्मनः ॥ ६१ ॥

शिवमात्मनि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिनः ।
अज्ञानां भावनार्थाय प्रतिमाः परिकल्पिताः ॥ ६२ ॥

अपूर्वानपरं ब्रह्म स्वात्मानं सत्यमद्वयम् । प्रज्ञानघनमानन्दं यः पश्यति स पश्यति ॥ ६३ ॥

सर्वभूतस्थमात्मानं विशुद्धज्ञानदेहिनम् । स्वात्मन्यपश्यन्बाह्येषु पश्यन्नपि न पश्यति ॥ ६४ ॥

स्वात्मप्रत्ययेति । स्वात्मन्येव शास्त्रोदीरिततीर्थादिविश्वासवन्त इत्यर्थः ॥ ५४–५६ ॥ अतः प्रागुक्तपुण्यकालेषु[२] प्रागुक्ततीर्थस्नानेषु चित्तस्थापनलक्षणमेव स्नानं कार्यमित्याह–**विषुवेति** ॥ ५७ ॥ उक्तयोगासमर्थानामपि लघुप्रशस्तं चोपायमाह–**ज्ञानयोगेति** ॥ ५८–६१ ॥ प्रतिमानामुपयोगमाह–**अज्ञानामिति** ॥ ६२ ॥ **अपूर्वं** कारणरहित**मनपरं** कार्यरहितं निष्कलमखण्डमद्वयं सच्चिदानन्दैकरसमित्यर्थः । स **पश्यतीति** तदीयमेव दर्शनं फलवदित्यर्थः ॥ ६३ ॥ अन्तर्योगाभावे केवलबहिर्योगस्य वैफल्यमाह–**सर्वभूतेति** ॥ ६४ ॥

लकड़ी आदि से बने हैं । यह सोचकर योगी बाह्य तीर्थों में न जाकर शास्त्रानुसार निज में ही सब तीर्थ स्थित मानकर भावनापूर्वक साधना में लगे रहते हैं । ॥ ५४ ॥ बाह्य तीर्थों से आन्तर अध्यात्मतीर्थ और उनसे भी आत्मतीर्थ श्रेष्ठ है । आत्मतीर्थ ही सार्थक है, अन्य तीर्थ तब निष्फल हैं जब उस तीर्थ को समझ लिया जाता है ॥ ५५ ॥ जैसे शराब से भरे बर्तन को सैकड़ो बार बाहर से जल से धोने पर भी उसमें स्थित शराब साफ नहीं हो जाती है ऐसे ही, अंदर स्थित सदोष मन तीर्थस्नानों से शुद्ध नहीं होता ॥ ५६ ॥ अतः विषुव, अयन, ग्रहण आदि पूर्वदर्शित वेलाओं में आध्यात्मिक वाराणसी आदि में अपना चित्त एकाग्र करना चाहिये जिससे व्यक्ति का मन शुद्ध हो ॥ ५७ ॥ जो महात्मा ज्ञानयोग में तत्पर हों उनका चरणामृत अज्ञानियों के पापों की शुद्धि के लिये तीर्थ का कार्य करता है ॥ ५८ ॥ वह मूर्ख ही है जो तीर्थ, दान, तप, यज्ञ, लकड़ी, पत्थर आदि में ही शिव को स्थित समझता है । अपने शरीर में शिव प्रतिष्ठित हैं ॥ ५९ ॥ अहो माया कितनी बलवती है ! सर्वत्र उपस्थित शांत शंकर को लोग ज्ञानचक्षु से रहित होने के कारण देख नहीं पाते ॥ ६० ॥ जो अपने में स्थित महादेव को छोड़ बाहर स्थित शिव की पूजा करते हैं वे मानो हाथ में रखी मिठाई फेंक कर अपनी कोहनी को चाटते हैं (क्योंकि मिठाई से बहा रस कोहनी पर दीखता है) ॥ ६१ ॥ योगी लोग शिव को स्वयं में देखते हैं न कि प्रतिमाओं में । जिन्हें शिव की आत्मता का पता नहीं है, वे अज्ञानी शिव के प्रति प्रेम वाले बनें इसके लिये शास्त्र ने प्रतिमाओं का उपदेश दिया है ॥ ६२ ॥ जो व्यक्ति कारण-कार्य रहित व्यापक सत्य अखण्ड

---

१ आत्मैव स्वज्ञानेन तारयतीति भवत्यसौ तीर्थम् । २ ङ. "ण्यलोकेषु" ।

देवतां महतीमन्यामुपास्ते स्वात्मनो नरः ।
न स वेद परं तत्त्वमथ योऽन्यामिति श्रुतिः ॥ ६५ ॥
नाडीपुञ्जं सदासारं नरभावं महामुने । समुत्सृज्याऽऽत्मनाऽऽत्मानमहमित्यवधारय ॥ ६६ ॥
अशरीरं शरीरेषु महान्तं विभुमीश्वरम् ।
आनन्दमक्षरं[1] साक्षान्मत्वा धीरो न शोचति ॥ ६७ ॥
विभेदजनकेऽज्ञाने नष्टे ज्ञानबलान्मुने[2] । आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति[3] ॥ ६८ ॥
सर्वं समासतः प्रोक्तं सादरं मुनिसत्तम ।
तस्मान्मायामयं देहं मुक्त्वा पश्य स्वमात्मकम् ॥ ६९ ॥
सूत उवाच– इति श्रुत्वा गिरां नाथो भक्त्या परवशः पुनः ।
स्तोतुमारभते देवमम्बिकापतिमद्भुतम् ॥ ७० ॥
बृहस्पतिरुवाच– जय देव परानन्द जय चित्सत्यविग्रह ।
जय संसाररोगघ्न जय पापहर प्रभो ॥ ७१ ॥

महतीं देवतां परशिवात्मिकां **स्वात्मनः** सकाशादन्यां य **उपास्ते** भेदेन स मूढः पशुरित्यर्थः । **अथ योऽन्यामिति श्रुतिरिति** । वाजसनेयके हि श्रूयते–'अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते, अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानां यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान्भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु । तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः' इति ॥ ६५ ॥ भेदेन चेन्नोपासनीयं तर्हि कथमित्यत आह– **नाडीपुञ्जमिति** । नर इति भावोऽहमभिमानो यस्मिंस्तं **नाडीपुञ्जं** तदुपलक्षितं शरीरत्रयमुपाधिभूतमात्मना[4] **समुत्सृज्य** बुद्ध्या विविच्याऽऽ**त्मानमहमित्यवधारय** परमात्मानं प्रत्यक्तादात्म्येनानुसंधेहीत्यर्थः ॥ ६६ ॥ उक्तेऽर्थे काठकश्रुतिमर्थत उदाहरति– **अशरीरमिति** । श्रुतिपाठस्त्वेवम्–'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् । महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति'' इति । मत्वा ज्ञात्वा ॥ ६७ ॥ तावतैव शोकाभावे कारणमाह–**विभेदेति** । निरतिशयानन्दपरशिवस्वरूपस्य हि जीवस्य तथात्वापरिज्ञाननिबन्धनो यो भेदः स एव सांसारिकसकलक्लेशहेतुरैकात्म्यज्ञानेन तादृगज्ञाननिवृत्तौ ब्रह्मणः सकाशादात्मनो जीवस्य तन्निबन्धनभेदाभावान्निर्हेतुकः संसारशोक इत्यर्थः ॥ ६८–८६ ॥

ज्ञानरूप आनन्दात्मक शिव को जानता है वही सही जानकारी वाला है ॥ ६३ ॥ जो व्यक्ति सब प्राणियों में स्थित विशुद्ध ज्ञानशरीर वाले आत्मा को स्वयं में नहीं समझ पाता, वह आँखों से देखते हुए भी अंधा ही है ॥ ६४ ॥ जो परमशिव को अपने से भिन्न मानकर उनकी उपासना करता है वह वास्तविकता से अनभिज्ञ है । श्रुति ने कहा है कि जो देवता और स्वयं को विभिन्न मानता है वह गैर जानकार है ॥ ६५ ॥ हे महामुनि बृहस्पति ! जिस नाडीपुंज वाले शरीर में तुम्हें अभिमान है कि 'यह नरदेह मैं हूँ या यह मेरा है' वह सर्वथा असार है । अतः उसमें अभिमान छोड़कर स्वयं अपनी प्रत्यगात्मरूपता का ही निश्चय करो । ॥ ६६ ॥ शरीरों में प्रतीत होते हुए भी जो शरीररहित है, महान्, व्यापक, जगद्योनि, आनन्दरूप, अक्षयस्वभाव शिव है, बुद्धिमान् उसे जानकर शोक से सर्वथा रहित हो जाता है ॥ ६७ ॥ शिव से अपने भेद के कारणभूत अज्ञान के बाधित हो जाने पर अब कौन उस सर्वथा असत् भेद को पुनरुत्पन्न करेगा ? ॥ ६८ ॥ मैने सब बातें संक्षेप में बता दी हैं । अतः मायिक शरीर को छोड़कर तुम

१ ग. °न्दमीश्वरं । २ °नवतां मुने° । ३ अनादितयाऽज्ञानस्य नष्टं सत्तन्न पुन र्जायतामित्यर्थः । ४ ख. °धित्रयभू° ।

जय पूर्ण महादेव जय देवारिमर्दन । जय कल्याण देवेश जय त्रिपुरमर्दन ॥ ७२ ॥
जयाहंकारशत्रुघ्न जय मायाविषापह । जय[1] वेदान्तसंवेद्य जय वाचामगोचर ॥ ७३ ॥
जय रागहरश्रेष्ठ जय द्वेषहराग्रज[2] । जय साम्ब सदाचार जय सर्वसमाद्भुत ॥ ७४ ॥
जय ब्रह्मादिभिः पूज्य जय विष्णो परामृत ।
जय विद्यामहेशान जय विद्याप्रदानिशम्[3] ॥ ७५ ॥
जय सर्वाङ्गसंपूर्ण नागाभरणभूषित । जय ब्रह्मविदां प्राप्य जय भोगापवर्गद ॥ ७६ ॥
जय कामहर प्राज्ञ जय कारुण्यविग्रह । जय भस्म महादेव जय भस्मावगुण्ठित ॥ ७७ ॥
जय भस्मरतानां तु पाशभङ्गपरायण । जय हृत्पङ्कजे नित्यं यतिभिः पूज्यविग्रह ॥ ७८ ॥
सूत उवाच–इति स्तुत्वा महादेवं प्रणिपत्य बृहस्पतिः ।
कृतार्थः क्लेशनिर्मुक्तो भक्त्या परवशोऽभवत् ॥ ७९ ॥
य इदं पठते नित्यं संध्ययोरुभयोरपि । भक्तिपारं गतो भूत्वा परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ८० ॥
गङ्गाप्रवाहवत्तस्य वाग्विभूतिर्विजृम्भते । बृहस्पतिसमो बुद्ध्या गुरुभक्त्या मया समः ॥ ८१ ॥
पुत्रार्थी लभते पुत्रं कन्यार्थी कन्यकामियात् । ब्रह्मवर्चसकामस्तु तदाप्नोति न संशयः ॥ ८२ ॥
तस्माद्यद्भिर्मुनयः संध्ययोरुभयोरपि । जप्यं स्तोत्रमिदं पुण्यं देवदेवस्य भक्तितः[4] ॥ ८३ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे नाडीचक्रनिरूपणं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्डे नाडीचक्रनिरूपणं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अपनी आत्मा का ही ज्ञान करो ॥ ६९ ॥

सूत जी बोले–यह सुनकर बृहस्पति ने शिवस्तुति करना प्रारम्भ किया ॥ ७० ॥

बृहस्पति ने कहा–हे देव ! हे परमानन्दरूप ! हे ज्ञान व सत्य स्वरूप ! आपकी जय हो । संसाररोग के नाशक और पापनिवारक आपकी जय हो ॥ ७१ ॥ पूर्ण स्वभाववाले आप महादेव की जय हो । देवशत्रुओं के नाशक, कल्याणात्मक आप त्रिपुरारि की जय हो ॥ ७२ ॥ अहंकाररूप शत्रु को मारने वाले तथा मायारूप विष उतारने वाले आपकी जय हो । वेदान्तों से समझे जा सकने वाले वाणी के अविषय आपकी जय हो ॥ ७३ ॥ राग का हरण करने वाले, द्वेष को नष्ट करने वाले एवं सर्वप्रथम विजयी आपकी जय हो । सदाचार-प्रवर्तक, सबके समान होते हुए भी सबसे विलक्षण आप साम्ब की जय हो ॥ ७४ ॥ ब्रह्मादि द्वारा पूजित आपकी जय हो । विष्णुरूप तथा परम अमृतरूप आपकी जय हो । विद्या के शासक तथा निरंतर विद्यादान करने वाले आपकी जय हो ॥ ७५ ॥ सब अंगों से सम्पूर्ण और सर्परूप अलंकारों से सुशोभित आपकी जय हो । ब्रह्मवेत्ताओं को मिलने वाले एवं भोग-मोक्ष प्रदाता आपकी जय हो ॥ ७६॥ कामनाशक, प्राज्ञस्वरूप तथा करुणा के मूर्तिमानरूप आपकी जय हो । भस्मरूप व भस्मभूषित आपकी जय हो। जो भस्मधारण में तत्पर रहते हैं उनके पाशों के नाशक आपकी जय हो । जिनका विग्रह सदा यतियों द्वारा हृदयकमल में पूजा जाता है उन आपकी जय हो ॥ ७७–७८ ॥

सूत जी बोले–यों महादेव की स्तुति कर बृहस्पति कृतार्थ, क्लेशमुक्त और भक्ति-परवश हो गये ॥ ७९ ॥ जो व्यक्ति इस स्तोत्र का प्रातः व सायं सन्ध्या के समय नित्य पाठ करता है वह भक्ति में पारंगत हो परब्रह्म को पा जाता है ॥ ८० ॥ उसके वचन गंगाप्रवाह की तरह अनवरत और अतिपावन होते हैं । वह बुद्धि

१. ङ., ॰य विज्ञानसं॰ । २ अग्रेजयतीत्यग्रजः । 'अन्येष्वपि दृश्यते' (अष्टा. ३.२.१०१) इति ङः । ३ प्रकाशनम् । ४ ङ. भक्तिदम् ।

द्वादशोऽध्यायः

ईश्वर उवाच— अथातः संप्रवक्ष्यामि नाडीशुद्धिं समासतः ।
विध्युक्तकर्मसंयुक्तः कामसंकल्पवर्जितः ॥ १ ॥
यमाद्यष्टाङ्गसंयुक्तः शान्तः सत्यपरायणः । गुरुशुश्रूषणरतः पितृमातृपरायणः ॥ २ ॥
स्वाश्रमे संस्थितः सम्यग्ज्ञानिभिश्च सुशिक्षितः ।
पर्वताग्रे नदीतीरे बिल्वमूले वने[१]ऽथवा ॥ ३ ॥
मनोरमे शुचौ देशे वेदघोषसमन्विते । फलमूलैः सुसंपूर्णैर्वारिभिश्च सुसंयुते ॥ ४ ॥
सुशोभनं मठं कृत्वा सर्वरक्षासमन्वितम् । त्रिकालस्नानसंयुक्तः श्रद्दधानः समाहितः ॥ ५ ॥
विरजानलजं[२] भस्म गृहीत्वा वाऽग्निहोत्रजम् । अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैर्जाबालैः सप्तभिर्मुने ॥ ६ ॥
षड्भिर्वाऽऽथर्वणैर्मन्त्रैः समुद्धूल्य ततः परम् । तिर्यक्त्रिपुण्ड्रमुरसा शिरसा बाहुमूलतः ॥ ७ ॥
धारयेत्परया भक्त्या देवदेवं प्रणम्य च । सरस्वतीं सुसंपूज्य स्कन्दं विघ्नेश्वरं[३] गुरुम् ॥ ८ ॥
चन्द्रमादित्यमनिलं तथैवाग्निं महामुने ।
आरुह्य चाऽऽसनं पश्चात्प्राङ्मुखोदङ्मुखोऽपि वा ॥ ९ ॥

यतो नाडीचक्रज्ञानाधीनं तत्र चित्तप्रणिधानपूर्वकं नाडीशोधनमतस्तदनन्तरं तत्कथनमिति प्रतिजानीते—**अथात** इति । पापनिबन्धनस्य शोधनसमये नाडीस्खलनस्य परिहारायाऽऽह—**विध्युक्ते**ति । चित्तविक्षेपनिबन्धनस्य परिहारायाऽऽह—**कामे**ति ॥ १–२ ॥ **ज्ञानिभिरि**ति शोधनेऽनुभवपर्यन्तं ज्ञानवद्भिः । ऐकाग्र्यायानुकूलं देशमाह-**पर्वताग्र** इत्यादि ॥ ३ ॥ पावनत्वाय वैदिकाधिष्ठितं देशमाह—**वेदघोषे**ति । नतु योगाभ्याससमये वेदघोषापेक्षा । 'समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः । मनोनुकूले नतु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्' इति श्वेताश्वतरश्रुतेः ॥ ४–९ ॥

में बृहस्पति के समान और गुरुभक्ति में मेरे (सूत के) समान होता है । ॥ ८१ ॥ पुत्र चाहने वाले को पुत्र और कन्या चाहने वाले को कन्या मिलती है । ब्रह्मतेज का इच्छुक उसे ही प्राप्त करता है ॥ ८२ ॥ अतः आप मुनियों को दोनों संध्याओं के समय इस शिवस्तोत्र का पाठ करना चाहिये ॥ ८३ ॥

नाडीशुद्धिनिरूपण नामक बारहवा अध्याय

भगवान् शंकर ने आगे कहा—अब मैं संक्षेप से नाडीशुद्धि के विषय में बताऊँगा । साधक को चाहिये कि वह विधियों द्वारा विहित कर्मों को यथाकाल करता रहे और विषयों की इच्छाओं से विमुख हो ॥ १ ॥ यम आदि आठ अंगों का अनुष्ठान करे, चांचल्यरहित हो तथा सदा सत्य पर दृढ रहे । गुरु, माता और पिता की सेवा में उसे तत्पर रहना चाहिये ॥ २ ॥ अपने आश्रम में रहते हुए उसे सम्यग्ज्ञानियों से शिक्षा प्राप्त कर लेनी चाहिये । एकाग्रता के अनुकूल स्थानों में जैसे पहाड़ की चोटी, नदीतट, बेल के वृक्ष के नीचे, जंगल तथा अन्य मनोरम स्थलों में मठ बनाना चाहिये । जहाँ मठ बनाये वहाँ वातावरण आदि शुद्ध होना चाहिये व अनार्यादिसुंकल देश नहीं होना चाहिये । मठ में या आसपास वेद का घोष होता हो तथा मठ में फल, मूल व जल की कमी न हो । सर्दी, बरसात, हिंस्र पशु आदि से मठ सुरक्षित भी होना चाहिये । वहाँ साधक तीनों समय स्नान कर श्रद्धापूर्वक एकाग्रता का अभ्यास करे ॥ ३–५ ॥ विरजा होम की या अग्निहोत्र की

१ ग. °ने तथा । २ ग. °लकं भ° । ३ ङ. विश्वेश्वरं ।

समग्रीवशिरःकायः संवृतास्यः सुनिश्चलः ।
नासाग्रे शशभृद्बिम्बं बिन्दुमच्च तुरीयकम् ॥ १० ॥
स्रवन्तममृतं पश्येन्नेत्राभ्यां सुसमाहितः । इडया प्राणमाकृष्य पूरयित्वोदरस्थितम् ॥ ११ ॥
ततोऽग्निं देहमध्यस्थं ध्यायञ्ज्वालावलीमयम् । बिन्दुनादसमायुक्तमग्निबीजं विचिन्तयेत् ॥ १२ ॥
पश्चाद्विरेचयेत्प्राणं मन्दं पिङ्गलया बुधः । पुनः पिङ्गलयाऽऽपूर्य वह्निबीजमनुस्मरन्[1] ॥ १३ ॥
पुनर्विरेचयेद्धीमानिडयैव शनैः शनैः । त्रिचतुर्वत्सरं वाऽथ त्रिचतुर्मासमेव वा ॥ १४ ॥
षट्कृत्व आचरेन्नित्यं रहस्येवं त्रिसंधिषु । नाडीशुद्धिमवाप्नोति पृथक्चिह्नोपलक्षिताम्[2] ॥ १५ ॥
शरीरलघुता दीप्तिर्वह्नेर्जठरवर्तिनः । नादाभिव्यक्तिरित्येतच्चिह्नं तत्सिद्धिसूचकम् ॥ १६ ॥
यावदेतानि संपश्येत्तावदेवं समाचरेत् । अथवैतत्परित्यज्य स्वात्मशुद्धिं समाश्रयेत् ॥ १७ ॥

समग्रीवेति । तथाच गीतासु—'समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः । संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः । मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः' इति । **नासाग्र** इति । नासाग्रे चन्द्रबिम्बं तत्र यत्तुरीयकं यकाराच्चतुर्थं वकारं सबिन्दुकममृतस्राविणं स्मरन्नेत्राभ्यामपि तमेव देशं पश्यन्नित्यर्थः । तदुक्तमागमे—'नासाग्रे मण्डलं चान्द्रं ज्योत्स्नाजालसमन्वितम् । नादबिन्दुयुजा मध्ये वकारेण विराजितम् ॥ ध्यायन्प्रपूरयेद्वायुम्' इति ॥ १०–११ ॥ **बिन्दुनादसमायुक्तमिति** । बिन्दुरनुस्वारः । नादस्तदनुगतो ध्वनिः ॥ १२–१५ ॥ **नादाभिव्यक्तिरिति** । अनाहतनादः स्फुरतीत्यर्थः[3] ॥ १६ ॥ विवेकज्ञानाधिकारवतस्तु तदेव पर्याप्तं, नाडीशुद्ध्यादिभिर्न प्रयोजनमित्याह—**अथवैतदिति** । पूर्वोक्ता विशुद्धिर्नाडीगत-पित्तश्लेष्मादिशोषणेन देहशुद्धिमात्रे हेतुः । विवेकज्ञानं तु नाडीपरिवृतं[4] स्थूलं देहं तत्र व्याप्तं लिङ्गशरीरं तदुभयोपादानं चाविद्यामात्मनः सकाशात्परिशोध्य विविक्तं सच्चिदानन्दैकरसमात्मतत्त्वं[5] व्यवस्थापयतीति पूर्वस्मादिदं प्रशस्ततरमित्यर्थः ॥ १७ ॥

भस्म से 'अग्निरिति' आदि मंत्रपूर्वक समुद्धूलन करे । सिर, बाहुमूल तथा सीने पर परम भक्ति से त्रिपुण्ड्र लगावे । महादेव को प्रणाम कर तथा सरस्वती, स्कंद, गणेश, गुरु, चंद्र, सूर्य, वायु तथा अग्नि की पूजा कर आसन पर पूर्व, पश्चिम या उत्तर की ओर मुख कर बैठे ॥ ६–९ ॥ गर्दन, सिर और गात सीधे रहने चाहिये । मुँह बंद रहना चाहिये व शरीर और उसके कोई अंग हिलने नहीं चाहिये । नाक के अग्रभाग पर सबिन्दु वकार वाले चन्द्रबिम्ब को देखे जिस चंद्रबिम्ब से अमृत का स्राव हो रहा हो ॥ १०½ ॥ इडा से प्राण को खींचकर पूरक करे और देह में स्थित ज्वालाओं वाली अग्नि का ध्यान करे । उस समय अनुस्वार और तदनुगत ध्वनि समेत अग्निबीज (रं) का चिंतन करे ॥ ११–१२ ॥ फिर धीरे-धीरे पिंगला द्वारा रेचक करे और अग्निबीज का अनुस्मरण करते हुए पिंगला से ही पुनः पूरक करे व इडा द्वारा शनैः शनैः रेचक करे । तीन-चार साल तक या कम से कम तीन-चार महीनों तक प्रतिदिन एकान्त में इस प्रकार छह बार अभ्यास करने से नाडीशुद्धि होती है । इस नाडीशुद्धि के ये चिह्न हैं—शरीर में हल्कापन, जठराग्नि की दीप्तता तथा अनाहत नाद का स्फुरण । इन चिन्ह्नों से निश्चित होता

---

१. ङ. °बीजं मुनीश्वर° । २. क. घ. ङ. °क्षितम्° । ३. घ. °स्फुटती° । ४. घ. °वृते स्थू° । ५. ग. °नन्दरसात्मत° ।

आत्मा शुद्धः सदा नित्यः सुखरूपः स्वयंप्रभः ।

अज्ञानान्मलिनो भाति ज्ञानाच्छुद्धो विभात्ययम्[१] *॥ १८ ॥*

अज्ञानमलपङ्कं यः क्षालयेज्ज्ञानतोयतः ।

स एव सर्वदा शुद्धो नाज्ञः कर्मरतो हि सः ॥ १९ ॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् । कर्म कर्तव्यमित्येवं बोधयेत्तान्समाहितः ॥ २० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे नाडीशुद्धिनिरूपणं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

वस्तुभूतश्लेष्मादिमलनिरसनं हि वस्तुभूतेनैव पवनेन भवति । नित्यशुद्धस्वप्रकाशचिदानन्दैकरस[२] आत्मा त्वविद्यामलेनैव मलिन इति विद्यया तन्निरासे स्वाभाविकी तस्य शुद्धिर्व्यवतिष्ठत इत्याह–**आत्मा शुद्ध** इति ॥ १८ ॥ १९ ॥ इयमेव यदि प्रशस्ता किमिति तर्हि भूतपूर्वा शुद्धिः शास्त्रैरुपदिश्यत इत्यत आह–**न बुद्धिभेदमिति** । अज्ञो हि कर्मणि सक्तो ज्ञानानधिकृत इति तस्य कृते साऽपि शुद्धिर्वक्तव्येत्यर्थः ॥ २० ॥

इति श्री सूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्डे नाडीशुद्धिनिरूपणं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

है कि नाडीशोधन हुआ या नहीं ॥ १३–१६ ॥ जब तक ये चिह्न स्फुट न हो जायें तब तक उक्त अभ्यास करते रहना चाहिये ।

अथवा, जो विवेक करने की सामर्थ्य वाला एकाग्रतापूर्वक चिन्तन करने में सक्षम हो उसे इस शोधनादि को छोड़ निज आत्मा का शोधन करना चाहिये ॥ १७ ॥ आत्मा स्वरूप से सदा शुद्ध, नित्य, सुखरूप और स्वप्रकाश ज्ञानरूप है किन्तु इस तथ्य को न जानने से प्रतीत यों होता है मानो मलिन हो । वास्तविकता समझ लेने पर अपने स्वाभाविक शुद्ध रूप से प्रतीत होता है ॥ १८ ॥ अज्ञानरूप कीचड़ को ज्ञानरूप जल से धोकर जो हटा देता है वही सर्वदा शुद्ध है, अज्ञानी सर्वदा शुद्ध नहीं क्योंकि वह तो कर्म में लगा रहता है, ज्ञान से दूर ही रहता है ॥ १९ ॥ जिन्हें आत्मतत्त्व के विषय में कुछ मालूम नहीं अतएव जो कर्म करने और उसका फल पाने में आसक्ति वाले हैं, उनकी बुद्धि में कर्मविषयक संशय नहीं उत्पन्न करना चाहिये । कारण यह है कि वे कर्मत्याग का तात्पर्य तो समझ नहीं सकते अतः 'कर्म प्रशस्त नहीं है' सुनकर वे सत्कर्म छोड़ देंगे व दुष्कर्म करते रहेंगे जो उनकी दुर्गति का कारण होगा । अतः उन्हें धर्माचरण की प्रेरणा देते रहना चाहिये । जो आत्मजिज्ञासु हों उन्हें कर्मनैष्फल्य समझाकर आत्मबोध के अभ्यास में प्रवृत्त कराना चाहिये ॥ २० ॥

---

१. एवं च भान एव विशेषो नात्मनीत्यर्थः । २. ग. 'शसच्चिदा॰ ।

त्रयोदशोऽध्यायः

ईश्वर उवाच–अथातः संप्रवक्ष्यामि तवाष्टाङ्गानि सुव्रत ।
यमश्च नियमश्चैव तथैवाऽऽसनमेव च ॥ १ ॥
प्राणायामस्तथा विप्र प्रत्याहारस्तथा परः ।
धारणा च तथा ध्यानं समाधिश्चाष्टमो मुने ॥ २ ॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयाऽऽर्जवम् ।
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश[1] ॥ ३ ॥
वेदोक्तेन प्रकारेण विना सत्यं तपोधन ।
कायेन मनसा वाचा हिंसा हिंसा न चान्यथा ॥ ४ ॥

यत उक्तनाडीशोधनसापेक्षाणि यमादीन्यष्टौ योगाङ्गान्यतःतदनन्तरं तदभिधानमिति प्रतिजानीते–**अथात इति** ॥ १ ॥ २ ॥ उद्देशक्रमेण यमस्य लक्षणमाह–**अहिंसेत्यादि** ॥ ३ ॥ "न हिंस्यात्सर्वा भूतानि" इति निषेधः स रागनिबन्धनाया एव हिंसायाः । अतः "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" इति विधिनिबन्धना हिंसा न निषिध्यत इत्याह–**वेदोक्तेनेति** । अग्नीषोमीयस्य हि सोमयागाङ्गत्वात्तद्धिंसा विधिनिबन्धना । "श्येनेनाभिचरन्यजेत" इत्यत्रापि श्येनयागाङ्गभूतपशुहिंसा विधिनिबन्धनैव न निषिध्यते । या तु तेनाभिचारयोगेण शत्रुवधात्मिका हिंसा सा द्वेषनिबन्धनैवेति विध्यसंस्पर्शान्निषिध्यते[2] । शारीरहिंसाया एव हिंसात्वं न पुनर्वाचिकमानसयोरिति[3] भ्रमनिरासाय तद्भेदानाह–**कायेनेति** । साऽप्येकैका त्रिविधा । स्वयं कृताऽन्येन कारिता क्रियमाणा केवलमनुमोदिता चेति नवधा । तत्राप्येकैका त्रिविधा । लोभमूला क्रोधमूलाऽज्ञानमूला चेति सप्तविंशतिधा । साऽप्येकैका त्रिविधा । मृदुमात्रा मध्यमात्राऽधिकमात्रा चेत्येकाशीतिर्हि हिंसाभेदा वितर्कनामानस्त्यक्तव्याः । तत्त्यागोपायश्च तेषां निरतिशयदुःखहेतवस्तत्त्वज्ञानप्रतिबन्धकाश्चेति प्रणिधानम् । एतच्च सत्यवचनादिवितर्कान्तरेष्वपि द्रष्टव्यम् । तदुक्तं योगशास्त्रे–'वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्', 'वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्' इति ॥ ४ ॥

यमविधि-निरूपण नामक तेरहवा अध्याय

भगवान् ने कहा–अब मैं तुम्हे योग के आठों अंगों के विषय में बताऊँगा । यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ अंग प्रसिद्ध हैं ॥ १–२ ॥ 'यम' इन दस का नाम है– अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव (अकुटिलता), क्षमा, धैर्य, मितभोजन और सफाई ॥ ३ ॥ हे तपोधन ! यह सत्य समझ लो कि वेदविहित प्रकार को छोड़ किसी अन्य ढंग से शरीर, मन या वाणी द्वारा की हिंसा ही शास्त्रीय दृष्टि से हिंसा है, विहित पशुवधादि हिंसा निर्दोष होने से इन प्रसंगों में हिंसाशब्द से नहीं कही जाती । स्वयं मन आदि से हिंसा न करना, किसी अन्य को हिंसा

---

१. यद्यप्यहिंसादयः पंचैव यमाः पतंजलिनोदितास्तथाप्यन्यैर्दश प्रकीर्तिताः । तथा च याज्ञवल्क्यः 'ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिः दानं सत्यमकल्कता । अहिंसाऽस्तेयमाधुर्ये दमश्चेति यमाः स्मृताः' ॥ ३.३१३ ॥ मानवेऽपि "आनृशंस्यं क्षमा सत्यमहिंसा दममस्पृहा ध्यानं प्रसादो माधुर्यमार्जवं च यमा दश ॥' ४.२१४ ॥ आचार्यास्तु परिगणनमिह नेच्छन्ति ततश्च सामान्यलक्षणमाहुः 'मनःसाध्या यमाः स्मृता' इति (मानसोल्लासे ९.२२) । २. क. "ते । शारी" । ३. ख. "नसिकयो" ।

आत्मा सर्वगतोऽच्छेद्य अदाह्य इति या मतिः ।
सा चाहिंसा परा प्रोक्ता मुने वेदान्तवेदिभिः ॥ ५ ॥
यत्त्वदुष्टेन्द्रियैर्दृष्टं श्रुतं वेदविदां वर । तस्यैवोक्तिर्भवेद्विप्र सत्यता नान्यथा भवेत् ॥ ६ ॥
सर्वं सत्यं परं ब्रह्म न चान्यदिति या मतिः ।
तत्सत्यं परमं प्रोक्तं वेदान्तज्ञानभावितैः ॥ ७ ॥
अन्यदीये तृणे रत्ने काञ्चने मौक्तिकेऽपि या ।
मनसाऽपि निवृत्तिर्या तदस्तेयं विदुर्बुधाः ॥ ८ ॥
आत्मनोऽनात्मभावेन ह्यपहारविवर्जनम् । यत्तदस्तेयमित्युक्तमात्मविद्भिर्महात्मभिः ॥ ९ ॥

कायिकादिहिंसाया वर्जनमुक्त्वाऽऽत्महिंसाया वर्जनमाह—**आत्मा सर्वगत** इति । "अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च । नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः" इति । उक्तस्याऽऽत्मस्वरूपस्याज्ञानमात्महिंसा । यदाहुः—"योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत्स आत्महा" इति । अतो ज्ञानेन तन्निरासः परमाऽहिंसेत्यर्थः ॥ ५ ॥ अहिंसावत्सत्यमपि परमपरं चेति द्विविधम् । तत्रापरमाह—**यत्त्वदुष्टेति** । भ्रमदृष्टाभिधानं प्रमाणदृष्टस्यापि[1] रागादिभिरन्यथाभिधानं चासत्यमित्यर्थः ॥ ६ ॥ परमं सत्यमाह—**सर्वं सत्यमिति** । सर्वं वस्तु ब्रह्मस्वरूपेणैव[2] सत्यं पृथक्त्वेनासत्यमिति यज्ज्ञात्वाऽभिधानं तत्सत्यमित्यर्थः[3] ॥ ७ ॥ अस्तेयमपि द्विविधम् । तत्राऽऽद्यमाह—**अन्यदीय** इति । मृदुमध्याधिकमात्रा इत्युक्तभेदोपलक्षणत्वेन तृणादिविभागकथनम् ॥ ८ ॥ द्वितीयमस्तेयमाह—**आत्मन** इति । अनात्मा देहेन्द्रियादिस्तद्रूपतयैवाऽऽत्मनो यत्परिज्ञानं स आत्मापहारः । "योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चोरेणाऽऽत्मापहारिणा" इत्युक्तम् । तद्विवर्जनं देहेन्द्रियादिव्यतिरिक्तात्मानुसंधानं परममस्तेयमित्यर्थः ॥ ९ ॥

के लिये प्रेरित न करना और हिंसा का अनुमोदन न करना—इस प्रकार अहिंसा का अभ्यास करना चाहिये ॥ ४ ॥ परम अहिंसा तो यह निश्चय रखना है कि सर्वव्यापक आत्मा काटा, जलाया आदि नहीं जा सकता ॥ ५ ॥

निर्दुष्ट इन्द्रियों से जो देखा-सुना गया है उसका ही कथन करना सत्यवदन है ॥ ६ ॥ सब वस्तुयें ब्रह्मरूप से सत्य हैं, उससे पृथक् रूप से असत्य हैं—यह निश्चय परम सत्य है ॥ ७ ॥

किसी अन्य व्यक्ति की कोई भी वस्तु हो—तिनका, रत्न, सोना या मोती, उसे हथियाने की प्रवृत्ति मनमें भी न आये यह अस्तेय है ॥ ८ ॥ (जिस अनिषिद्ध वस्तु की कामना हो, याचना, सेवा, वाणिज्य आदि नियमों से उसे अर्जित करने का प्रयास करना चाहिये । नियमानुसार जो स्वकीय न हो उसे अपना मानकर उससे व्यवहारादि करना गलत है ।) परमार्थतः तो अस्तेय है आत्मा को अनात्मा नं समझना । देहादि अनात्मा हैं, उन्हें आत्मा मान बैठना ही चोरी है ॥ ९ ॥

---

१ घ. °दृश्यस्या° । २ घ. °व सम्यक्पृ° । ३ अयमेवास्याश्चूडामण्युक्तेरभिप्रायः 'सद्ब्रह्मकार्यं सकलं सदेवे'ति (श्लो. २३२) ।

कायेन मनसा वाचा नारीणां परिवर्जनम् ।
ऋतुसेवां विना स्वस्यां ब्रह्मचर्यं तदुच्यते ॥ १० ॥
ब्रह्मभावे मनश्चारं ब्रह्मचर्यं परं तथा । आत्मवत्सर्वभूतेषु कायेन मनसा गिरा ॥ ११ ॥
अनुकम्पा दया सैव प्रोक्ता वेदान्तवेदिभिः ।
पुत्रे मित्रे कलत्रे च रिपौ स्वात्मनि संततम् ॥ १२ ॥
ऐकरूप्यं[१] मुने यत्तदार्जवं प्रोच्यते मया । कायेन मनसा वाचा शत्रुभिः परिपीडिते ॥ १३॥
चित्तक्षोभनिवृत्तिर्या क्षमा सा मुनिपुंगव । वेदादेव विनिर्मोक्षः संसारस्य न चान्यथा ॥ १४ ॥
इति विज्ञाननिष्पत्तिर्धृतिः प्रोक्ता हि वैदिकैः ।
अहमात्मा न मर्त्योऽस्मीत्येवमप्रच्युता मतिः ॥ १५ ॥

अपरं ब्रह्मचर्यमाह–**कायेने**ति । अनुरागपुरःसराणि नारीणां स्पर्शभाषणचिन्तनान्यब्रह्मचर्यम् । उक्तं हि–"स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् । संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ॥ एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः । विपरीतं ब्रह्मचर्यम्" इति । ऋतौ स्वभार्यासेवा तु ब्रह्मचर्यमेव । **ऋताविति** विहितकालोपलक्षणम् । श्रूयते हि–"प्राणं[२] वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यते" इति ॥ १० ॥ **ब्रह्मभाव** इति । ब्रह्मात्मैकत्वे मनसश्चरणं ब्रह्मचर्यम् । श्रूयते हि–"येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्। तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया च" इति । अत्र परमपरं ब्रह्मचर्यं विवक्षितम् । **आत्मवदिति** । **अनुकम्पा** रक्षाभिमुखी बुद्धिः । यदुक्तमागमे–"रोगार्तस्य रिपोर्वाऽपि मित्रस्यान्यस्य वा पुनः । तद्रक्षाभिमुखी बुद्धिर्दयैषा भाषिता बुधैः" इति । **पुत्रे मित्र** इति । तदुक्तं गीतासु–"सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ॥ साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते" इति ॥ ११ ॥ १२ ॥ **कायेनेति** । त्रिभिरपि करणैः पीडने चित्तविक्षेपविरहः **क्षमा** ॥ १३ ॥ **वेदादेवेति** । वेदविप्लावकवचनेषु सत्स्वपि वेदविरुद्धधर्मपरिहारेण वैदिकधर्मेषु स्थैर्यमपरमा **धृतिः** ॥ १४ ॥ परमामाह–**अहमात्मेति** । उक्ता हि धृतिर्देहाद्विविक्तात्मविषयेति परमा **धृतिः** ॥ १५ ॥

शरीर, मन और वाणी से स्त्रियों का भोग न करना ब्रह्मचर्य है । (कामुकतापूर्वक तथा कामुकता के अनुकूल स्मरण, कथन, वार्तालाप, दर्शन, पठन, इच्छा आदि सभी भोग ही हैं ।) गृहस्थ के लिये ब्रह्मचर्य यही है कि ऋतुकाल तथा अपनी पत्नी से इतर स्त्रियों से उक्त त्रिविध भोग न करे ॥ १० ॥ परम ब्रह्मचर्य तो यह है कि मन ब्रह्मभाव में स्थिर रहे ।

जैसे स्वयं अपनी रक्षा के लिये हम सदा यत्नशील रहते हैं ऐसे शरीर, मन और वाणी द्वारा सब प्राणियों की रक्षा के लिये तत्पर रहना दया है । ॥ ११½ ॥

पुत्र, मित्र, पत्नी, शत्रु व स्वयं अपने प्रति निरंतर एकसा भाव रहना आर्जव है । (तात्पर्य है कि जैसे हम अपने लिये उचित ही व्यवहार चाहते हैं वैसे ही जिस किसी से हम व्यवहार करें, उचित ही व्यवहार करें । जैसे दूसरे को हम उतना ही देना चाहते हैं जितना अनिवार्य हो वैसे दूसरे से भी उतने की ही आशा रखें । एकसे भाव का यह अर्थ नहीं कि मित्र के प्रति शत्रुभाव या शत्रु के प्रति मित्रभाव हो । किन्तु दोनों के प्रति औचित्यपूर्ण भाव रखें यह अर्थ है) । ॥ १२½ ॥

शत्रुओं द्वारा शरीर, मन या वाणी द्वारा परिपीडित होने पर चित्त क्षुब्ध न होना क्षमा है । (पीडा से दुःख तो प्रारब्धवश होता है, क्षोभ हमारे आग्रहों से हम करते हैं । रोज असंख्य लोग मरते ही हैं । किसी दिन

१ घ. ऐक्यरूपं । २ घ. प्राणा वा ।

या सा प्रोक्ता धृतिः श्रेष्ठा मुने वेदैकवेदिभिः ।
अल्पमिष्टाशनाभ्यां तु नास्ति योगः कथंचन ॥ १६ ॥
तस्माद्योगानुगुण्येन भोजनं मितभोजनम् । स्वदेहमलनिर्मोक्षो मृज्जलाभ्यां महामुने ॥ १७ ॥
यत्तच्छौचं भवेद्बाह्यं मानसं मननं विदुः ।
अहं शुद्ध इति ज्ञानं शौचं वाञ्छन्ति पण्डिताः ॥ १८ ॥
अत्यन्तमलिनो देहो देही चात्यन्तनिर्मलः ।
उभयोरन्तरं ज्ञात्वा कस्य शौचं विधीयते ॥ १९ ॥
ज्ञानशौचं परित्यज्य बाह्ये यो रमते नरः ।
स मूढः काञ्चनं त्यक्त्वा लोष्टं गृह्णाति सुव्रत ॥ २० ॥

अल्पेति । अल्पाशने तु धातुसंक्षोभः । अधिकेऽजीर्णं निद्रालस्यादि वा । अतो मिताहारो योगाङ्गमिति । उक्तं च–'अन्नेन कुक्षेर्द्वावंशौ पानेनैकं प्रपूरयेत् । प्राणसंचरणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत् ॥ गुरूणामर्धसौहित्यं लघूनां नातितृप्तता' इत्यादि वैद्यशास्त्रोक्तं द्रष्टव्यम्[1] ॥ १६ ॥ स्वदेहेति । 'शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा । मृज्जलाभ्यां भवेद्बाह्यं भावशुद्धिस्तथाऽऽन्तरम्" । इति स्मरणात् ॥ १७ ॥ अहं शुद्ध इति । 'स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निष्यन्दान्निधनादपि । कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः' । अतस्तदविवेक एवाशौचं तद्विवेकज्ञानं शौचमित्यर्थः ॥ १८ ॥

हमारा पुत्र मरता है तो दुःख तो होगा ही । किन्तु 'मेरा ही पुत्र क्यों मरा, इसी निमित्त क्यों मरा, अभी ही क्यों मरा' इत्यादि क्षोभ हम स्वयं करते हैं । इससे आगे द्वेष, क्रोध आदि दुर्भाव उत्पन्न होते हैं । प्रारम्भ में क्षोभ होने पर विचार कर उसे शांत करना चाहिये । यह तितिक्षा की अवस्था है । जब यह आदत इतनी दृढ हो जाये कि मन में क्षोभ उठे ही नहीं, तब क्षमा है) ॥ १३$^1/_2$ ॥

वैदिक विचारक धृति या धैर्य इस निश्चय को कहते हैं कि वेदप्रोक्त साधनानुष्ठान से ही संसरण से मोक्ष संभव है, अन्य किसी तरह नहीं । परमार्थतः धैर्य तो यह निष्कम्प निश्चय है कि मैं आत्मा हूँ; मरणधर्मा नहीं ॥ १४–१५$^1/_2$ ॥

अल्प या यथेष्ट भोजन करने से किसी तरह योग संभव नहीं । अतः योगानुष्ठान हो सके इसके अनुकूल मात्रा में भोजन करना मितभोजन है । (एक दिन भरपेट भोजन कर फिर चौबीस घंटे कुछ न खा तदनन्तर पुनः भरपेट भोजन करने से अपना पूर्ण आहार पता चलता है । उससे आधा आहार प्रतिदिन खाना चाहिये ऐसा आयुर्वेदिकों का कथन है ।) ॥ १६$^1/_2$ ॥

बाह्य, मानस और पारमार्थिक भेद से शौच अर्थात् सफाई तीन प्रकार का है । मिट्टी व जल से अपने शरीर के मल को साफ करना बाह्य शौच है । शिवात्मविषयक मनन करना मानस शौच है । 'मैं शुद्ध हूँ' यह प्रामाणिक निश्चयात्मक ज्ञान पारमार्थिक शौच है । ॥ १७–१८ ॥ देह अत्यन्त मलिन और देही आत्मा अत्यन्त निर्मल है । इन दोनों का भेद जानकर फिर किसकी सफाई की जाये ? ॥ १९ ॥ (अर्थात् शरीर स्वरूपतः अशुद्ध होने से साफ नहीं किया जा सकता और आत्मा स्वभावतः शुद्ध ही होने से साफ नहीं किया जा सकता । अभी हम इन दोनों को एकमेक कर जानते हैं अतः हमें शुद्धि-अशुद्धि का भ्रम है । इनके परस्पर भेद

१. आचार्यैश्चोक्तम् 'हितपरिमितभोजी नित्यमेकान्तसेवी' त्यादि (सर्ववे.वे.सि.सा.श्लो. ३७२) ।

ज्ञानाम्भसैव शुद्धस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।

कर्तव्यं नास्ति लोकेऽस्मिन्नस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥ २१ ॥

लोकत्रयेऽपि कर्तव्यं किंचिन्नास्त्यात्मवेदिनः ।

इहैव जीवन्मुक्तास्त इह चेदिति हि श्रुतिः ॥ २२ ॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मुनेऽहिंसादिसाधनैः । आत्मानमक्षरं ब्रह्म विद्धि ज्ञानात्तु वेदजात् ॥ २३ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे यमविधिनिरूपणं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

ईश्वर उवाच– अथातः संप्रवक्ष्यामि नियमान्मुनिसत्तम ।

तपः संतोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्[1] ॥ १ ॥

विवेकज्ञानस्यैव शौचत्वे हेतुमाह–**अत्यन्तमलिन** इति ॥ १९–२१ ॥ **किंचिदिति** । किमपि नास्ति । इहैव जीवन्मुक्तत्वे श्रुतिमुदाहरति– **इह चेदिति** । 'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः' इति तलवकारोपनिषदीत्यर्थः ॥ २२–२३ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्डेऽष्टाङ्गयोगे यमविधिनिरूपणं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

को पक्का समझ लें तो यह भ्रम हट जाये ।) जो मनुष्य ज्ञानशौच अर्थात् ज्ञान-लभ्य पारमार्थिक शौच छोड़कर बाह्य शौच में ही तत्पर रहता है वह मानो स्वर्ण छोड़कर मिट्टी इकट्ठी करता है ॥ २० ॥ जो योगी ज्ञानवारि से साफ हो चुका है वह कृतकृत्य है, उसका संसार में कोई कर्त्तव्य रह नहीं गया है । यदि कर्त्तव्य रह गया है तो निश्चित है कि वह तत्त्ववेत्ता नहीं है ॥ २१ ॥ आत्मज्ञानियों का त्रिलोकी में कहीं कोई कर्त्तव्य नहीं है । वे जीवित रहते हुए ही मुक्त हैं यह श्रुति का मत है ॥ २२ ॥ इसलिये हे मुनि ! पूरा प्रयत्न कर अहिंसादि साधनों का अभ्यास कर वैदिक वाक्य से अपने आपको अक्षर ब्रह्म जानो ॥ २३ ॥

नियमविधिकथन नामक चौदहवा अध्याय

भगवान् ने कहा–हे श्रेष्ठ मुनि ! अव मैं नियमों को बताता हूँ । तप, सन्तोष, आस्तिकता, दान, ईश्वरपूजा, सिद्धान्त-श्रावण, लज्जा, मति, जप और व्रत–ये नियम योग के जानकार महात्माओं द्वारा बताये गये हैं

१. ङ. °ररञनम्°. ।

सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम् ।

एते च नियमाः[1] प्रोक्ता योगविद्भिर्महात्मभिः ॥ २ ॥

तानहं क्रमशो वक्ष्ये शृणु श्रद्धापुरःसरम् । वेदोक्तेन प्रकारेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः ॥ ३ ॥

शरीरशोषणं यत्तत्तप इत्युच्यते बुधैः । कोऽहं मोक्षः कथं केन संसारं प्रतिपन्नवान् ॥ ४ ॥

इत्यालोचनमर्थज्ञास्तपः शंसन्ति पण्डिताः[2] ।

यदृच्छालाभतो नित्यं प्रीतिर्या जायते नृणाम् ॥ ५ ॥

तं संतोषं विदुः प्राज्ञाः परिज्ञानैकतत्पराः । ब्रह्मादिलोकपर्यन्ताद्विरक्तस्य[3] परात्मनि ॥ ६ ॥

प्रियं यत्तन्महाप्राज्ञाः संतोषं परमं विदुः ।

श्रौते स्मार्ते च विश्वासो यत्तदास्तिक्यमुच्यते ॥ ७ ॥

न्यायार्जितं धनं चान्नं श्रद्धया वैदिके द्विजे । अन्यद्वा यत्प्रदीयेत तद्दानं प्रोच्यते मया ॥ ८ ॥

अवैदिकाय विप्राय दत्तं यन्मुनिपुङ्गव । नोपकाराय तत्तस्य भस्मनीव हुतं हविः ॥ ९ ॥

यतो यमवन्नियमा अपि योगाङ्गमतस्तदनन्तरं तान्वक्तुं प्रतिजानीते—**अथात** इति ॥ १–२ ॥ अपरं तप आह—**वेदोक्तेनेति** । कृच्छ्रचान्द्रायणादिस्वरूपं प्रागुक्तम् ॥ ३ ॥ परमं तप आह—**कोऽहमिति** । उक्तं हि—"मनसश्चेन्द्रियाणां च ऐकाग्र्यं परमं तपः । तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः परमो मतः" इति ॥ ४–५ ॥ परमं संतोषमाह—**ब्रह्मादीति** । श्रूयते हि—"ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः, स एकः प्रजापतेरानन्दः, श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य" इति ॥ ६–९ ॥

॥ १–२ ॥ इन्हें क्रमशः समझाता हूँ । वेदोक्त ढंग से कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि द्वारा शरीर का शोषण तप है । परम तप तो यह विचार है 'मैं कौन हूँ, मोक्ष कैसे होगा, किस कारण से मेरा संसरण हो रहा है ?' ॥ ३–४½ ॥ संयोगवश जो मिल जाये उसीसे प्रसन्न हो जाना सन्तोष है । परमार्थतः सन्तोष है ब्रह्मलोक पर्यंत संसार से विरक्त होकर परमात्मा में प्रेम रखना ॥ ५–६½ ॥ श्रुति-प्रोक्त व स्मृति-प्रतिपादित अर्थ में विश्वास करना आस्तिकता है ॥ ७ ॥ उचित नैतिक मार्ग से कमाये धन, अन्न आदि को वैदिक ब्राह्मण को प्रदान करना दान है । अवैदिक ब्राह्मण को जो दिया जाता है वह भस्म में प्रक्षिप्त हवि की तरह कोई उपकार नहीं करता ॥ ८–९ ॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य द्वारा क्रमशः शंकर, विष्णु और ब्रह्मा की अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार भक्तिपूर्वक पूजा करना ईश्वर-पूजा है । हृदय को राग आदि से

१. सुरेश्वरगुरवस्तु 'स्नानं शौचं क्रतुः सत्यं जपो होमश्च तर्पणम् । तपो दानं तितिक्षा च नमस्कारः प्रदक्षिणम् ॥ व्रतोपवासाद्याश्चान्ये कायिका नियमाः स्मृताः ॥' (मानसो. ९.२३–२४) इत्याहुः । याज्ञवल्क्यीये पुनः 'स्नानं मौनोपवासेज्यास्वाध्यायोपस्थनिग्रहाः । नियमा गुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधाप्रमादता ॥' (३.३१४) इति । मानवे (४.२१६) शौचादयो दश नियमाः । पातञ्जले तु शौचादीश्वरप्रणिधानान्ता पंचैव प्रसिद्धाः । मानसकायिकभेदेन विभागस्य स्पष्टत्वादाचार्योक्तिरेव श्रद्धेया । २. तथा च तैत्तिरीयवार्तिके 'मनसश्चेन्द्रियाणां चेत्येवमाध्यात्मिकं तपः ।...अन्वयव्यतिरेकादिचिन्तनं वा तपो भवेद् । अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थबोधायालमिदं यतः ॥ कोहं कस्य कुतो वेति कः कथं वा भवेदिति । प्रयोजनमतिर्नित्यमेवं मोक्षाश्रमी भवेत् ॥ व्यास प्राहातएवेदं मुमुक्षोर्मुक्तये तपः ॥' (३.१.१८–२०) इति । ३ ग. °रक्तः परमात्म° ।

ब्रह्माणं विष्णुमीशानं वैश्यक्षत्रियवाडवैः । यथाशक्त्यर्चनं[1] भक्त्या यत्तदीश्वरपूजनम् ॥ १० ॥
रागाद्यपेतं हृदयं वागदुष्टाऽनृतादिना[2] । हिंसाविरहितः काय एतच्चेश्वरपूजनम् ॥ ११ ॥
सत्यं ज्ञानमनन्तं च परानन्दं ध्रुवं परम् । प्रत्यगित्यवगत्यन्तं वेदान्तश्रवणं बुधाः ॥ १२ ॥
सिद्धान्तश्रवणं प्राहुर्द्विजानां मुनिसत्तम । शूद्राणां च विरक्तानां तथा स्त्रीणां महामुने ॥ १३ ॥
सिद्धान्तश्रवणं प्रोक्तं पुराणश्रवणं बुधैः । वेदलौकिकमार्गेषु कुत्सितं कर्म यद्भवेत् ॥ १४ ॥
तस्मिन्भवति या लज्जा ह्रीस्तु सैवेति कीर्तिता ।
वैदिकेषु हि सर्वेषु श्रद्धया सा मतिर्भवेत् ॥ १५ ॥
गुरुणा चोपदिष्टोऽपि तन्त्रसंबन्धवर्जितः । वेदोक्तेनैव मार्गेण मन्त्राभ्यासो जपः स्मृतः ॥ १६ ॥
[3]कल्पे सूत्रेऽथवा वेदे धर्मशास्त्रे पुराणके ।
इतिहासे[4]ऽनुवृत्तिर्या स जपः प्रोच्यते मया ॥ १७ ॥
या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥ १८ ॥

ब्रह्माणमिति । वैश्यैर्ब्रह्माणं क्षत्रियैर्विष्णुम् । वाडवा ब्राह्मणास्तैरीशानं स्वीकृत्य यदर्चनं तदित्यर्थः ॥ १०-११ ॥ **प्रत्यगिति** । अवगतिरापरोक्ष्यम् ॥ १२ ॥ **तथा स्त्रीणामिति** । त्रैवर्णिकस्त्रीणां तु श्रौते विकल्प उक्तः ॥ १३–१५ ॥ **उपदिष्टोऽपीति** । न पुनः पुस्तकपाठादिमात्रेण ज्ञात इत्यर्थः । **तन्त्रसंबन्धेति**[5] । कापालं नाकुलं वाममित्यादिवेदविरुद्धागमसंस्पर्शरहित इत्यर्थः ॥ १६–१७ ॥ वेदविरुद्धतन्त्रसंबन्धत्यागे कारणमाह–**या वेदबाह्या** इति ॥ १८ ॥

रहित रखना, वाणी को असत्य आदि से सदोष न बनाना और शरीर से हिंसा आदि न करना, यह भी ईश्वर-पूजा है ॥ १०–११ ॥ प्रत्यगात्मा ही सत्य, ज्ञान, अनन्त, परम आनन्द, कूटस्थ, संसार से असृष्ट है–इस अपरोक्ष निश्चय पर्यन्त उपनिषदों का तात्पर्य-अवधारण द्विजों के लिये सिद्धान्त-श्रवण है । वैराग्य वाले शूद्रों के लिये एवं स्त्रियों के लिये पुराण-श्रवण सिद्धान्तश्रवण है । त्रैवर्णिक स्त्रियों के लिये उपनिषद्-श्रवण भी विकल्पतः प्राप्त है, यह कहा जा चुका है (१.७.२०) ॥ १२–१३½ ॥ वैदिक तथा लौकिक दृष्टि से जो कुत्सित (सदोष) कर्म हो उसे करने में जो संकोच का अनुभव है उसे लज्जा कहते हैं ॥ १४½ ॥ वैदिक तथा अन्य सत्कर्मों में श्रद्धापूर्वक जो चिकीर्षा होती है वह मति कही जाती है ॥ १५ ॥ (अतः सत्कर्म करने में संकोच लज्जा नहीं, भय कहा जा सकता है । 'श्रद्धा या सा' यह बाल. पाठ बेहतर है।)

कापालादि तंत्रों से असम्बद्ध तथा गुरु के उपदेश से प्राप्त मन्त्र का वेदोक्त ढंग से पुनः पुनः उच्चारण करना जप है । मुझ रोमहर्षण का तो कहना है कि कल्पसूत्र, वेद, धर्मशास्त्र, पुराण और इतिहास (रामायण, महाभारत) की अनुवृत्ति करना जप है । जो वेदविरुद्ध स्मृतियाँ हैं तथा जो भी कोई कुदृष्टियाँ हैं वे पारलौकिक या पारमार्थिक किसी फल को देने वाली नहीं अतः वे तमोनिष्ठ (अज्ञानमय) मानी गयी हैं । अपने लिये विहित धर्म यदि सब अंगों समेत न किया जा सके तो भी उसका अनुष्ठान श्रेष्ठ है बजाय उस सांगोपांग धर्मानुष्ठान के जिसका अपने लिये विधान न हो । स्वधर्म करते हुए चाहे जीवन बीत जाये यह इससे कहीं अच्छा है कि उसे छोड़ उस धर्म का पालन करें जिसका विधान अपने लिये न कर अन्यों के लिये किया गया है । (उदाहरणार्थ, उपनीत द्विज के लिए त्रिकाल सन्ध्या विहित है व शूद्रादि के लिये लौकिक स्तोत्रादि का पाठ । यदि द्विज पूरी सन्ध्या न कर पाये और लौकिक स्तोत्रादि अच्छे ढंग से कर पाये तो भी उसे आधी-अधूरी जैसी बन पड़े सन्ध्या ही करनी चाहिये न कि उसे छोड़ लौकिक स्तोत्रादि में प्रवृत्ति । मीमांसकों ने नित्य कर्मों के लिये यह स्वीकारा है कि सब अंग न कर पाये तो जितने कर सकता है उतने अंगों

१. क. ग. घ. °शक्त्यार्चन° । २. घ. ङ. °दिभिः । हिं° । ३ ग. जपे । ४ घ. °से च वृ° । ङ. °से निवृ° । ५ ङ. °न्त्रप्रबन्ध° ।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् । स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः । १९ ॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन वेदमन्त्रं सदा जपेत्[1] ।

जपश्च द्विविधः प्रोक्तो वाचिको मानसस्तथा ॥ २० ॥

वाचिकोपांशुरुच्चैश्च द्विविधः परिकीर्तितः । मानसो मननध्यानभेदाद् द्वैविध्यमास्थितः ॥ २१ ॥

उच्चैर्जपादुपांशुश्च सहस्रगुण उच्यते । मानसश्च तथोपांशोः सहस्रगुण उच्यते ॥ २२ ॥

उच्चैर्जपस्तु सर्वेषां यथोक्तफलदो भवेत् ।

नीचैः श्रुतो न चेत्सोऽपि श्रुतश्चेन्निष्फलो भवेत् ॥ २३ ॥

ऋषिं छन्दोऽधिदैवं च ध्यायमानो जपेन्नरः । प्रसन्नगुरुणा पूर्वमुपदिष्टं त्वनुज्ञया ॥ २४ ॥

वेदोक्तधर्मसम्यगनुष्ठानाशक्तस्यापि यथाशक्ति तदनुष्ठानमेव, न तु विरुद्धतन्त्रार्थानुष्ठानमित्याह—**श्रेयान्स्वधर्म** इति ॥ १९–२० ॥ **वाचिकोपांशु**रिति संधिश्छान्दसः ॥ २१–२२ ॥ उच्चैर्जपादुपांशुजपः फलेन सहस्रगुण[2] उक्तः । उच्चैर्जपस्तु कियत्फल इत्यत आह—**उच्चैर्जपस्तु सर्वेषामिति** । यो मन्त्रजपो यावतः[3] फलस्य साधनत्वेन शास्त्रे कथितः स तावत्फलस्तत्सहस्रगुणस्तन्मन्त्रोपांशुजप इत्यर्थः । उच्चैर्जपोऽपि यथा नीचैर्म्लेच्छैर्न श्रूयते तथाऽरण्यादौ विविक्तदेशे क्रियते चेदुक्तफलो भवति । प्रमादात्तैः श्रुतश्चेत्तस्य[4] यथोक्तमपि फलं नास्तीत्याह—**नीचैरि**ति ॥ २३ ॥

दशमं नियमव्रतमाह—**प्रसन्नेति** । प्रतिबन्धकपापनिरासद्वारा चित्तशुद्धये पुण्योपचयद्वारा फलानुकूल्याय च गुर्वनुज्ञया क्रियमाणमुपवासादिकं व्रतमित्यर्थः ॥ २४ ॥ व्रतशब्दस्यार्थान्तरमाह—**अथवेति** ॥ २५ ॥ **एतन्नेदेति** । अथर्वशिरसि—

से ही नित्य कर्म कर ले, उसे छोड़े नहीं । हाँ, काम्य कर्म तो तब करे जब सांगोपांग कर सके : 'एवं च सांगं यावज्जीवं न शक्नोति कश्चिदपि कर्तुमिति कृत्वा यावच्छक्नुयादित्युपनिबध्यते । शक्तस्य कामतो वैगुण्यं स्यात् । काम्ये तु यदा शक्नुयात् तदा प्रवर्तते ।' (टुप्टीका ६.३.१.२) शक्तस्येति—यः शक्नोति नित्यमपि सांगं कर्तुं स नाम लोभालस्यादिना न चेत्कुर्याद्, अंगं न सम्पादयेद्, वैगुण्यमेव तदा स्यात् नित्यानिर्वृत्तितुल्यतैव भवेदित्यर्थः ।) अतः पूरा प्रयत्न कर अधिकारी को सदा वेदमंत्रों का ही जप करना चाहिये ॥ १६–१९½ ॥ जप दो प्रकार का बताया गया है—वाचिक और मानस । वाचिक पुनः दो प्रकार का है—उपांशुस्वर से और उच्च स्वर से । मानस भी दो प्रकार का है—मनन और ध्यान । ऊँचे स्वर से जप करने की अपेक्षा उपांशु जप हज़ार गुना अधिक श्रेष्ठ है । (जिस जप को अतिसमीप स्थित भी अन्य व्यक्ति न सुन सके उसे उपांशु कहते हैं । अतः उपांशुस्वर मंद स्वर—बुद्बुदाहट को कहते हैं ।) उपांशु की अपेक्षा मानस जप हज़ार गुना अधिक श्रेष्ठ है । उच्च स्वर से किया जप तो उतना ही फल देता है जितना शास्त्र ने सामान्यतः जप का फल बता रखा है । उपांशु आदि जप उससे हज़ार आदि गुना अधिक फल देते हैं । उच्च स्वर से किया जाता जप म्लेच्छ आदि नीच मनुष्यों द्वारा नहीं सुना जाना चाहिये अन्यथा वह निष्फल हो जाता है । ऋषि, छन्द और देवता का ध्यान करते हुए जप करना चाहिये ॥ २०–२३½ ॥

सेवादि से प्रसन्न हुए गुरु ने जिस उपायविशेष का उपदेश दिया हो व उसके अनुष्ठान के लिये अनुमति दी हो उसका पुण्य प्राप्ति के लिए या मनःशुद्धि के लिये यथानियम अनुष्ठान करना व्रत है । अथवा अथर्ववेदोक्त मंत्रों से सारे शरीर का भस्मोद्धूलन व्रत है जिसे वेदान्तों में पाशुपतव्रत कहा गया है ॥ २४–२६ ॥ इसे ही

१. अतएव यतिभिः श्रवणादावेव यथाशक्ति यतनीयं न तु देवतार्चनादौ एवमितरैः स्वस्ववर्णाश्रमधर्मा एवाचरणीया न तु तेषां साकल्येनाननुष्ठानात्सर्वथाऽननुष्ठानमेव । एतेन—ये सन्ध्यां न कुर्वन्ति ते जपमपि मा कार्षु नैष्फल्यादित्यादि ब्रुवन्तः प्रत्याख्याताः । यत्नतः सगुणं कर्म कार्यं परमशक्तौ विगुणमपि तदेव कार्यं न तु तस्य त्यागएवेति । २. क. ख. ग. घ. °गुणोऽस्तूक्त° । ३. ङ. °यावत्फल° । ४. घ. श्रुतस्यैतस्य ।

धर्मार्थमात्मशुद्ध्यर्थमुपायग्रहणं व्रतम् । अथवाऽऽथर्वणैर्मन्त्रैर्गृहीत्वा भस्म पाण्डुरम् ॥ २५ ॥

सर्वाङ्गोद्धूलनं यत्तद् व्रतं प्रोक्तं मनीषिभिः । एतद्वेदशिरोनिष्ठाः प्राहुः पाशुपतं मुने ॥ २६ ॥

केचिच्छिरोव्रतं प्राहुः केचिदत्याश्रमं विदुः ।

केचित्तद् व्रतमित्यूचुः केचिच्छांभवमैश्वरम् ॥ २७ ॥

अस्य व्रतस्य माहात्म्यमागमान्तेषु संस्थितम् । सर्वपापहरं पुण्यं सम्यग्ज्ञानप्रकाशकम् ॥ २८ ॥

यः पशुस्तत्पशुत्वं च व्रतेनानेन[1] न त्यजेत् ।

तं हत्वा न स पापीयानिति वेदान्तनिश्चयः ॥ २९ ॥

सर्वमुक्तं समासेन नियमं मुनिसत्तम । अनेन विधिना युक्तो भस्मज्योतिर्भविष्यति ॥ ३० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे नियमविधिकथनं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

"अग्निरित्यादिना भस्म गृहीत्वा निमृज्याङ्गानि संस्पृशेद्व्रतमेतत्पाशुपतम्" इत्युक्तमित्यर्थः ॥ २६ ॥ व्रतपदस्य मतभेदेनार्थान्तराण्याह–केचिदिति । 'शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्' इत्याथर्वणिका आहुरित्यर्थः । केचिदिति । 'अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रम्' इति श्वेताश्वतरशाखिनो व्यवहरन्तीत्यर्थः। व्रतं नाम शांभवमित्यन्ये, ऐश्वरमित्यपरे कथयन्तीत्यर्थः । अथवा यथोक्तपाशुपतव्रतमेव शिरोव्रतात्याश्रमशांभवैश्वरशब्दैराथर्वणिकादिभिरभिधीयत इत्यर्थः ॥ २७ ॥ आगमान्तेष्वपरेष्वपि बहुषु वेदान्तेषु ॥ २८ ॥ यः पशुरिति । सुकरसर्वभोगोपकरणं परमपुरुषार्थसाधनं चैतत्पाशुपतव्रतम् । अमुना व्रतेन यः पशुः स्वात्मनः पशुत्वं न जहाति स आत्मघातकत्वादाततायी । अतः–"आततायिवधे दोषो हन्तुर्नास्त्येव कश्चन" इति वेदविदः स्मरन्तीत्यर्थः ॥ २९ ॥ भस्मज्योतिरिति भस्मैवोक्तरीत्या तत्त्वावबोधहेतुत्वाज्ज्योतिर्यस्य स तथोक्तः ॥ ३० ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्डे नियमविधिकथनं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

कहीं शिरोव्रत, कहीं अत्याश्रमव्रत, कहीं शांभव व्रत और कहीं ऐश्वरव्रत कहा है। (अथवा शिरोव्रतादि अन्यान्य व्रतों को यहाँ सूचित किया है।) इस पाशुपतव्रत का माहात्म्य उपनिषदों में बताया है । यह सब पापों का निवारण करता है, शुद्धि का आधान करता है और सम्यग्ज्ञान का प्रकाश करता है ॥ २७–२८ ॥ जो जीवरूप पशु इस व्रत के सहारे अपनी वह हेय पशुता छोड़ता नहीं, उसे यदि मार दिया जाये तो मारने वाले को अधिक पापी नहीं समझना चाहिये । (इसे न करते हुए जीने से मरना कोई बुरा नहीं ।) ॥ २९ ॥ हे मुनिश्रेष्ठ ! मैंने नियम-विषयक सभी बातें संक्षेप में बता दी । इस प्रकार इनका पालन करने से व्यक्ति 'भस्मज्योति' हो जायेगा । (भस्म के उद्धूलन द्वारा तत्त्वज्ञानरूप ज्योति प्राप्त करने वाला 'भस्मज्योति' शब्द से कहा गया है ।) ॥ ३० ॥

---

१. घ. °नान्येन° ।

पञ्चदशोऽध्यायः

ईश्वर उवाच– आसनानि[1] पृथग्वक्ष्ये शृणु वाचस्पतेऽधुना ।
स्वस्तिकं गोमुखं पद्मं वीरं सिंहासनं तथा ॥ १ ॥
भद्रं मुक्तासनं चैव मयूरासनमेव च । सुखासनसमाख्यं च नवमं मुनिपुंगव ॥ २ ॥
जानूर्वोरन्तरे विप्र कृत्वा पादतले उभे । समग्रीवशिरस्कस्य स्वस्तिकं परिचक्षते ॥ ३ ॥
सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे निवेशयेत् । दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं तत्प्रचक्षते ॥ ४ ॥
अङ्गुष्ठावपि गृह्णीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण तु ।
ऊर्वोरुपरि विप्रेन्द्र कृत्वा पादतलद्वयम् । पद्मासनं भवेदेतत्पापरोगभयापहम् ॥ ५ ॥
दक्षिणोत्तरपादं तु सव्य ऊरुणि विन्यसेत् । ऋजुकायः सुखासीनो वीरासनमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

यमनियमानुक्त्वा क्रमप्राप्तमासनं बृहस्पतिं प्रति वक्तुमीश्वरः प्रतिजानीते–**आसनानी**ति । तानि[2] नव तावदुद्दिशति–**स्वस्तिकमिति** ॥ १ ॥ २ ॥ स्वस्तिकस्य लक्षणमाह–**जानूर्वो**रिति । दक्षिणजानूरुमध्ये वामपादतलं वामजानूरुमध्ये दक्षिणपादतलं च विन्यस्य ऋजुकाय उपविशेदेतत्स्वस्तिकासनमित्यर्थः ॥ ३ ॥ **सव्ये** वामे तस्मिन्पृष्ठपार्श्वे **दक्षिणगुल्फं दक्षिणे** च पृष्ठपार्श्वे **सव्यं** वामं[3] विन्यसेदेतद् गोमुखासनम् ॥ ४ ॥ **अङ्गुष्ठावपी**ति । दक्षिणस्योरोरुपरि वामपादतलं विन्यस्य तदीयमङ्गुष्ठं पश्चिमपथा गतेन वामहस्तेन गृह्णीयात् । एवं वामस्योरोरुपरि न्यस्तस्य दक्षिणपादतलस्याङ्गुष्ठं पश्चिमपथा गतेन दक्षिणहस्तेनेत्येतत्**पद्मासनमुक्त**फलमित्यर्थः ॥ ५ ॥ दक्षिणमुत्तरपादं[4] नाम पादाग्रं **सव्ये** वाम ऊरौ विन्यसेत् । एतच्चोपलक्षणम् । सव्यं वामं दक्षिण ऊरावेतद्**वीरासन**मित्यर्थः । **दक्षिणोत्तरपादं तु दक्षिणोरुणि विन्यसेदि**ति पाठान्तरम् । आगमे चोभयमुक्तम्–'ऊर्वोरुपरि कुर्वीत पादौ वीरं चे'ति ॥ ६ ॥

आसनविधिनिरूपण नामक पन्द्रहवा अध्याय

भगवान् बोले–हे वाचस्पति ! अब मैं विभिन्न आसनों को बताऊँगा । स्वस्तिक, गोमुख, पद्म, वीर, सिंह, भद्र, मुक्त, मयूर और सुख–ये नौ आसन प्रमुख हैं ॥ १–२ ॥ दायें घुटने और जंघा के बीच बायें पाँव के तले को और बाँये घुटने और जंघा के बीच दायें पाँव के तले को फँसाकर पालथी-सी मारकर पीठ, गर्दन और सिर को सीधे रख बैठना स्वस्तिकासन है ॥ ३ ॥ बायें नितम्ब के नीचे दायें पैर की गाँठ को और दायें नितम्ब के नीचे बायें पैर की गाँठ को रखकर बैठें तो गोमुखासन होता है । (साथ ही अन्यत्र बताया है कि बायें हाथ को सिर की ओर से और दायें हाथ को नीचे की ओर से पीठ पर ले जाकर बायीं तर्जनी से दायीं तर्जनी को दृढतापूर्वक पकड़ना चाहिये । दायाँ-बायाँ क्रमशः अदल-बदल कर प्रायः सर्वत्र करना चाहिये) ॥ ४ ॥ दायीं जंघा पर बायें पादतल को और बायीं जंघा पर दायें पादतल को रख पीठ की ओर से ले गये बायें हाथ से बायें पैर का अगूंठा और दायें हाथ से दायें पैर का अंगूठा पकड़ सीधे बैठना पद्मासन है । यह पाप और रोग के भय को निवृत्त करता है ॥ ५ ॥ पद्मासन की तरह पैरों को रखकर हाथों को सीधे ही घुटनों पर रखकर सीधे बैठना वीरासन है ॥ ६ ॥

---

१. मानसोल्लासवार्तिके (९/२४-२६) नानादेवाधिष्ठिततयाऽऽसनानि निरूपितानि । २. घ. °नि ता° । ३. घ. ङ. °वामुगुल्फं वि° । ४. घ. °दं वामपादा° ।

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ।
दक्षिणं सव्यगुल्फेन वामं दक्षिणगुल्फतः ॥ ७ ॥
हस्तौ च जान्वोः संस्थाप्य स्वाङ्गुलीश्च प्रसार्य च ।
नासाग्रं च [1] निरीक्षेत भवेत्सिंहासनं हि तत् ॥ ८ ॥
गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ॥ ९ ॥
पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्ध्वा सुनिश्चलः । भद्रासनं भवेदेतद्विषरोगविनाशनम् ॥ १० ॥
निपीड्य सीवनीं सूक्ष्मां दक्षिणोत्तरगुल्फतः ।
वामं याम्येन[2] गुल्फेन मुक्तासनमिदं भवेत् ॥ ११ ॥
मेढ्रोपरि विनिक्षिप्य सव्यगुल्फं तथोपरि ।
गुल्फान्तरं च संक्षिप्य मुक्तासनमिदं भवेत् ॥ १२ ॥
कूर्पराग्रौ मुनिश्रेष्ठ निःक्षिपेन्नाभिपार्श्वयोः ।
भूम्यां [3] पाणितलद्वंद्वं निःक्षिप्यैकाग्रमानसः ॥ १३ ॥
समुन्नतशिरःपादो दण्डवद् व्योम्नि संस्थितः । मयूरासनमेतत्स्यात्सर्वपापप्रणाशनम् ॥ १४ ॥

सीवन्या वामपार्श्वे दक्षिणगुल्फं दक्षिणपार्श्वे च वामगुल्फं प्रसारिताङ्गुलिहस्तौ जानुमूर्ध्नोर्विन्यस्य नासाग्रदर्शनं **सिंहासनम्** ॥ ७–८ ॥ भद्रासनमाह–**गुल्फौ** चेति । सीवन्या वामपार्श्वे वामगुल्फो दक्षिणपार्श्वे दक्षिणगुल्फो यथा भवति तथा पादतले परस्पराभिमुखे सीवन्या अधस्ताद्विनिवेश्य दक्षिणोरुं दक्षिणपाणिना वामोरुं च वामपाणिना सम्यङ्निष्पीड्यावस्थानं **भद्रासनमित्यर्थः** ॥ ९–१० ॥ सीवन्या अधस्ताद्वामो गुल्फस्तस्याधस्ताद्दक्षिणः । अथवा मेढ्रस्योपरि सव्यो गुल्फस्तस्योपरि दक्षिण इति द्वेधा मुक्तासनमित्याह–**निपीड्य सीवनीमिति** ॥ ११–१२ ॥ **कूर्पराग्राविति** । तथा चाऽऽगमे–'भुवि पाणितले कृत्वा कूर्परौ नाभिपार्श्वगौ । समुन्नतशिरःपादं दण्डवद्व्योमसंश्रयम् ॥ कुर्याद्देहमिति प्रोक्तं मायूरं पापनाशनम्' इति ॥ १३–१४ ॥

अण्डकोष के नीचे बायें नितंब की ओर दायें टखने को और दायें नितंब की ओर बायें टखने को रखें और हाथों की अंगुलियाँ फैलाकर सीधे ही घुटनों के ऊपर रखें तो सिंहासन होता है ॥ ७–८ ॥ अण्डकोष के नीचे दोनों पादतलों को एक-दूसरे के संमुख रख मिलाकर बैठें और दोनों हाथों से दोनों जंघाओं को भरसक दबायें तो भद्रासन हो जाता है जो विष और रोग का नाशक है ॥ ९–१० ॥ बायें टखने को बारीक सीवनी दबाते हुए अण्डकोष के नीचे स्थापित कर उससे नीचे दायें टखने को रखकर बैठने से मुक्तासन होता है। (लिंगमणि का सन्धिशोथ सीवनी कहलाता है ।) अथवा लिंग के ऊपर बायाँ टखना और उसके ऊपर दाहिना टखना रखकर बैठने से मुक्तासन होता है ॥ ११–१२ ॥ दोनों कोहनियों को नाभि के पास सटा लें और अंगुलियों को पैर की तरफ कर हथेलियों को ज़मीन पर टिका दें । तदनन्तर सिर व पैरों को उठाकर पृथ्वी के समनन्तर दण्डे की तरह सीधा रखें और मन एकाग्र करें । यह मयूरासन है जो सब पापों को नष्ट करता है ॥ १३–१४ ॥

जिस किसी प्रकार से बैठने में आराम मिले और हिले-डुले विना कुछ देर तक सीधा बैठा जा सके

---

१. क. ङ. निरीक्ष्येत । २. ग. ङ, वामेन । ३. ग. "पादतल" ।

येन केन प्रकारेण सुखं धैर्यं च जायते । तत्सुखासनमित्युक्तमशक्तस्तत्समाश्रयेत् ॥ १५ ॥

आसनं विजितं येन जितं तेन जगत्त्रयम् ।

आसनं [1]सकलं प्रोक्तं मुने वेदविदां वर ॥ १६ ॥

अनेन विधिना युक्तः प्राणायामं सदा कुरु[2] ॥ १७ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्ड आसनविधिनिरूपणं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

ईश्वर उवाच—अथातः संप्रवक्ष्यामि प्राणायामं यथाविधि ।

प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः ॥ १ ॥

वर्णत्रयात्मकाः प्रोक्ता रेचपूरककुम्भकाः ।

स एव प्रणवः प्रोक्तः प्राणायामश्च तन्मयः ॥ २ ॥

येन केनेति । तथा च पातञ्जलं सूत्रम्—"स्थिरसुखमासनम्" इति ॥ १५ ॥ **जगत्त्रयमिति** । आसनजयस्य चित्तैकाग्र्यहेतुत्वात्, शीतोष्णादिद्वंद्वैरनुपघाताच्च, आह पतञ्जलिः—[3]"ततो द्वंद्वानभिघातः" इति ॥ १६ ॥ **अनेनेति** । आसनवतैव हि प्राणायामः कर्तव्य इत्याह—**विधिनेति** । श्वास[4]प्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायाम इति ॥ १७ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्ड आसनविधिनिरूपणं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

यतो जितासनस्यैव[4] प्राणायामो निरुपद्रवः सिध्यति, अतस्तदनन्तरं तत्प्रतिजानीते—**अथात** इति ॥ १ ॥ २ ॥

वही सुखासन है । जो उक्त आसनों में असमर्थ हों वे सुखासन का ही अभ्यास बढ़ायें । (उपासना के लिये शरीर स्थिर होना चाहिये व जिस स्थिति में शरीर हो उसमें कोई पीडा नहीं होनी चाहिये अन्यथा मन उस पीडा की ओर ही जायेगा तो ध्यानादि संभव न होगा । खड़े रहकर ध्यान करने में गिरने का डर है और लेट कर ध्यान करने में जल्दी नींद आने का डर है । अतः योगाभ्यासियों ने ऐसी नाना शरीरस्थितियाँ खोजी हैं जिनमें स्थिरतापूर्वक आराम से बैठा जा सके और तब ध्यान हो । वे आसन ही मुख्य हैं । अन्य अनेक आसन केवल शरीर को स्वस्थ रखने के लिए अभ्यास करने योग्य हैं । इसीलिये शंका होने पर कि उपासना बैठकर ही करें ऐसा नियम है या नहीं, महर्षि बादरायण ने (ब्र.सू. ४.१.७) कहा है कि नियम यही है कि बैठकर उपासना करनी चाहिये क्योंकि उसी स्थिति में वह संभव है । 'स्थाप्य समं शरीरम्' (श्वे.३.८), 'प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः' (गी. ६.११) आदि श्रुति-स्मृति का भी यही तात्पर्य है । यही उपयोगिता आसन की पतंजलि ने भी समझी है । विभिन्न आसनों का वर्णन न कर उन्होंने इतना ही बता दिया है 'जो स्थिर और सुखदायी हो वह आसन है । और उससे सर्दी-गर्मी आदि कष्टप्रद नहीं रह जाते ।' (यो. सू. साधन. ४६, ४८) । इसी रीति से प्रकृत श्लोक भी समझ लेना चाहिये ।) ॥ १५ ॥ जिस साधक ने आसनजय कर लिया उसने मानो त्रिलोकी को जीत लिया । (तीन घंटे सर्वथा आराम से यदि एक आसन पर हिले-डुले बिना रहा जा सके तो वह आसन जीत लिया गया समझा जाता है । क्योंकि यह चित्तस्थैर्य में अत्यन्त उपयोगी है व शरीर की सहन-सामर्थ्य का उपोद्बलक है अतएव ऐसी प्रशंसा कर दी है ।) हे मुनि ! मैंने आवश्यक सभी आसन बता दिये । इस तरह किसी आसन का अभ्यास करने के बाद प्राणायाम करो ॥ १७ ॥

प्राणायामविधि-निरूपण नामक सोलहवा अध्याय

परमेश्वर ने आगे बताना प्रारम्भ किया—(क्योंकि जिसने आसनजय कर लिया वही रुकावट के बिना

---

१. ङ. सफलं । २. अनेनाधुनिकानां मतमपास्तं ये हि मन्वत आसनाभ्यास एव योगाभ्यासः । आसनं तु उपविश्य ध्यानाद्यर्थं न स्वयं फलवद् द्वन्द्वानभिघातस्यापि ध्यानाद्यर्थतयैवोपयोगात् । ततश्च रोगादिनिवृत्तिमात्रार्थं येषामासनानि ते न योगाभ्यासिन इति बोध्यम् । ३ ङ. °सनिश्वा° । ४ 'तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायाम' इति योगसूत्रे (२.४९) तस्मिन् आसनजये ।

इडया वायुमाकृष्य पूरयित्वोदरस्थितम् । शनैः षोडशभिर्मात्रैरकारं तत्र संस्मरेत् ॥ ३ ॥
पूरितं धारयेत्पश्चाच्चतुःषष्ट्या तु मात्रया । उकारमूर्तिमत्रापि[1] संस्मरन्प्रणवं जपेत् ॥ ४ ॥
यावद्वा शक्यते तावद्धारयञ्जपसंयुतम् । पूरितं रेचयेत्पश्चान्मकारेणानिलं बुधः ॥ ५ ॥
शनैः पिङ्गलया विप्र द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः । प्राणायामो भवेदेष ततश्चैवं समभ्यसेत् ॥ ६ ॥
पुनः पिङ्गलयाऽऽपूर्य मात्रैः षोडशभिस्तथा । मकारमूर्तिमत्रापि स्मरेदेकाग्रमानसः ॥ ७ ॥
धारयेत्पूरितं विद्वान्प्रणवं विंशतिद्वयम् । जपेदत्र स्मरेन्मूर्तिमुकाराख्यां तु वैष्णवीम् ॥ ८ ॥
अकारं तु स्मरेत्पश्चाद्रेचयेदिडयाऽनिलम् । एवमेव पुनः कुर्यादिडयाऽऽपूर्य बुद्धिमान् ॥ ९ ॥
एवं समभ्यसेन्नित्यं प्राणायामं यतीश्वरः । अथवा प्राणमारोप्य पूरयित्वोदरस्थितम् ॥ १० ॥
प्रणवेन समायुक्तां व्याहृतीभिश्च संयुताम् । गायत्रीं संजपेच्छुद्धः प्राणसंयमने त्रयम् ॥ ११ ॥
पुनश्चैवं त्रिभिः कुर्याद् गृहस्थश्च त्रिसंधिषु । ब्रह्मचर्याश्रमस्थानां वनस्थानां महामुने ॥ १२ ॥

उक्तं वर्णात्मकत्वं विवृणोति—इडयेति । मात्रैर्मात्राभिः । तल्लक्षणमुक्तम्—'कालेन यावता स्वीयो हस्तः स्वजानुमण्डलम् । पर्येति मात्रा सा तुल्या स्वयैकश्वासमात्रया' इति । अकारं ब्रह्मात्मकम् ॥ ३ ॥ उकारमूर्तिं[2] विष्णुमूर्तिम् ॥ ४-६ ॥ मकारमूर्तिं रुद्रम् ॥ ७-९ ॥ प्रणवव्याहृतिपूर्विकां गायत्रीं वा कुम्भके जपित्वेत्याह—अथवेति ॥ १०-१२ ॥

प्राणायाम कर सकता है) इसलिये अब मैं जिस ढंग से प्राणायाम करना चाहिये वह विधि बताता हूँ। रेचक, पूरक और कुम्भक—इन तीन से प्राणायाम हुआ करता है । (श्वास को बाहर निकाल कर उसकी स्वाभाविक गति का अभाव करना रेचक है । श्वास अंदर खींचकर उसकी स्वाभाविक गति का अभाव पूरक है । श्वास-प्रश्वास दोनों गतियों के अभाव से प्राण को एकदम जहाँ का तहाँ रोक देना कुम्भक है । प्राणायाम का सामान्य लक्षण है : श्वास-प्रश्वास की गति को रोकना ।) ॥ १ ॥ रेचक आदि तीनों अकार आदि तीन अक्षरात्मक हैं । तीन अक्षरों का समूह ही प्रणव है, अतः प्राणायाम प्रणवमय है ॥ २ ॥

सोलह मात्राओं के समय में ब्रह्मात्मक अकार का चिन्तन करते हुए इडा से (बायें नथुने से) पूरक करे । उदरस्थित उस वायु को चौंसठ मात्राओं के समय तक उकारात्मक विष्णुमूर्ति का स्मरण और प्रणव का जप करते हुए रोके रखे । अथवा जब तक रोक सके तब तक जप करते हुए रोके । तदनन्तर शनैः शनैः बत्तीस मात्राओं के समय में रुद्रात्मक मकार का चिंतन करते हुए पिंगला द्वारा (दायीं नासिका से) उस वायु का रेचन करे । यह एक प्राणायाम हुआ । पुनः पिंगला से सोलह मात्राओं के समय में मकारात्मक रुद्रमूर्ति का ध्यान करते हुए पूरक करे । पूरित वायु को उदर में रोक कर उकारात्मक विष्णुमूर्ति का ध्यान करते हुए चालीस बार प्रणव का जप करे । फिर ब्रह्मात्मक अकार का चिंतन करते हुए धीरे-धीरे इडा से रेचन करे । अब पुनः इडा से पूरक कर इस प्रक्रिया को दुहराना चाहिये । इस प्रकार यतीश्वरों को नित्य अभ्यास करना चाहिये । (अपनी हथेली अपने घुटने पर फेरने में जितना समय लगता है वह एक मात्रा का समय है ।) ॥ ३—९½ ॥

अथवा गृहस्थ को चाहिये कि पूरक के बाद कुम्भक के समय प्रणव और व्याहृतियों समेत गायत्री का तीन बार जप करे । तीनों संध्याओं में इस प्रकार करना चाहिये ॥ १०—११½ ॥

ब्रह्मचारियों और वानप्रस्थियों के लिये विकल्प है—वे चाहे प्रणव से प्राणायाम करें चाहे गायत्री से । क्षत्रिय भी ब्राह्मण की तरह प्राणायाम कर सकता है (अर्थात् गार्हस्थ्य में गायत्री समेत कर सकता

---

१ ग. घ. °र्तिमात्रा° । २ ङ. °कारं वि° ।

प्राणायामो विकल्पेन प्रोक्तो वेदान्तवेदिभिः । द्विजवत्क्षत्रियस्योक्तः प्राणायामो महामुने ॥ १३ ॥
विरक्तानां प्रबुद्धानां वैश्यानां च[1] तथैव च ।
शूद्राणां च तथा स्त्रीणां प्राणसंयमनं मुने ॥ १४ ॥
नमोन्तं शिवमन्त्रं वा वैष्णवं वा न चान्यथा ।
नित्यमेवं प्रकुर्वीत प्राणायामांस्तु षोडश ॥ १५ ॥
ब्रह्महत्यादिभिः पापैर्मुच्यते मासमात्रतः । षण्मासाभ्यासतो विप्रा वेदनेच्छामवाप्नुयात् ॥ १६ ॥
वत्सराद् ब्रह्म विद्वान्स्यात्तस्मान्नित्यं समभ्यसेत् ।
योगाभ्यासरतो नित्यं स्वधर्मनिरतश्च यः ॥ १७ ॥
प्राणसंयमनेनैव ज्ञानान्मुक्तो भविष्यति । बाह्यादापूरणं वायोरुदरे पूरको हि सः ॥ १८ ॥
संपूर्णकुम्भवद्वायोर्धारणं कुम्भको भवेत् । बहिर्विरेचनं वायोरुदराद्रेचकः स्मृतः ॥ १९ ॥
प्रस्वेदजनको यस्तु प्राणायामेषु सोऽधमः ।
कम्पनं मध्यमं विद्यादुत्थानं चोत्तमं तथा ॥ २० ॥
पूर्वं पूर्वं प्रकुर्वीत यावदुत्तमसंभवः । संभवत्युत्तमे प्राज्ञः प्राणायामे सुखी भवेत् ॥ २१ ॥
प्राणायामेन चित्तं तु शुद्धं[2] भवति सुव्रत ।
चित्ते शुद्धे मनः साक्षात्प्रत्यग्ज्योतिष्यवस्थितम् ॥ २२ ॥
प्राणश्चित्तेन संयुक्तः परमात्मनि तिष्ठति । प्राणायामपरस्यास्य पुरुषस्य महात्मनः ॥ २३ ॥

विकल्पेनेति । उक्तविकल्पेनेत्यर्थः । क्षत्रियवैश्ययोरपि वैदिकमन्त्राधिकाराद्विप्रवदेव प्रणवगायत्रीभ्यां प्राणायाम इत्याह– **द्विजवदिति** ॥ १३ ॥ **शूद्राणामिति** वेदानधिकारात् ॥ १४–१६ ॥ **योगाभ्यासेति** । यः स्वधर्मनिरतः सन्योगाभ्यासरतो भवति तस्य प्राणायाम एवोक्तरीत्या ज्ञानद्वारा मोक्षसाधनमित्यर्थः ॥ १७–२१ ॥ **प्राणायामेन चित्तमिति** । आह पतञ्जलिः–"ततः क्षीयते प्रकाशावरणं धारणासु योग्यता मनसः" इति ॥ २२–२३ ॥

है) ॥ १२–१३ ॥ विरक्त तथा प्रबुद्ध वैश्य भी उक्त प्रकार से अभ्यास में अधिकारी हैं । शूद्रों व स्त्रियों को नमोन्त शिवमन्त्र से (शिवाय नमः) या वैष्णवमन्त्र से ही प्राणायाम करना चाहिये, गायत्री आदि से नहीं । इस प्रकार रोज़ सोलह प्राणायाम करने चाहिये ॥ १४–१५ ॥ एक महीने यह साधना करने से ब्रह्महत्यादि पाप छूट जाते हैं । छह माह अभ्यास करे तो श्रद्धालु को विविदिषा उत्पन्न हो जायेगी ॥ १६ ॥ एक वर्ष के अभ्यास से ब्रह्म को जान लेगा । अतः इसका नित्य अभ्यास करना चाहिये । जो व्यक्ति स्वधर्म तथा योगाभ्यास में सदा लगा रहता है वह प्राणों के संयम से ही योग्यता पाकर ज्ञान द्वारा मुक्त हो जाता है ॥ १७½ ॥

वायु को बाहर से खींच कर उदर में भरना पूरक है । भरे घड़े की तरह भरी वायु का धारण करना कुंभक है । उदर से वायु को बाहर निकाल देना रेचक है ॥ १८–१९ ॥ जो प्राणायाम पसीना उत्पन्न करे वह अधम है । जो कम्पन करे वह मध्यम है और जो उत्थान करे (आसन से ऊँचा उठा दे) वह उत्तम है । जब तक उत्तम प्राणायाम न हो तब तक पूर्व प्राणायाम ही करते रहना चाहिये । उत्तम प्राणायाम होने पर व्यक्ति सुखी हो जाता है । २०–२१ ॥ प्राणायाम से चित्त शुद्ध होता

---

१. ख. तु । २ प्राणायामात्क्षीयते प्रकाशावरणं मनसश्च धारणासु योग्यता जायत इति पातंजलाः । इह 'ज्योतिष्यवस्थितम्' इत्यत्र 'ज्योतिष्यवस्थितम्' इति युक्तं पठितुम् ।

देहश्चोत्तिष्ठते तेन किंचिज्ज्ञानाद्विमुक्तता । रेचकं पूरकं मुक्त्वा कुम्भकं नित्यमभ्यसेत् ॥ २४ ॥
सर्वपापविनिर्मुक्तः सम्यग्ज्ञानमवाप्नुयात् । मनोजयत्वमाप्नोति पलितादि च नश्यति ॥ २५ ॥
प्राणायामैकनिष्ठस्य न किंचिदपि दुर्लभम् । तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्राणायामं समभ्यसेत् ॥ २६ ॥
विनियोगान्प्रवक्ष्यामि प्राणायामस्य सुव्रत ।
संध्ययोर्ब्राह्मकाले वा मध्याह्ने वाऽथवा सदा ॥ २७ ॥
बाह्यप्राणं समाकृष्य पूरयित्वोदरेऽनघ । नासाग्रे नाभिमध्ये च पादाङ्गुष्ठे च धारयेत् ॥ २८ ॥
सर्वरोगविनिर्मुक्तो जीवेद्वर्षशतं नरः । नासाग्रधारणाद्वायुर्जितो भवति सुव्रत ॥ २९ ॥
सर्वरोगविनाशः स्यान्नाभिमध्ये च धारणात् । शरीरलघुता विप्र पादाङ्गुष्ठनिरोधनात् ॥ ३० ॥
जिह्वया वायुमाकृष्य यः पिबेत्सततं नरः । श्रमदाहविनिर्मुक्तो भवेन्नीरोगतामियात् ॥ ३१ ॥

किंचिज्ज्ञानादिति । प्राणायामो हि सत्त्वशुद्धिं जनयति । तया ज्ञानं भवति । श्रूयते हि–"ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः" इति ॥ २४–२७ ॥

नासाग्रं नाभिमध्यं पादाङ्गुष्ठं च चिन्तयतस्तत्र चित्तं धृतं भवति तेन च प्राणो जीयत इत्यर्थः । एतद्योगप्रकारः सविशेषमन्यत्रोक्तः "इडया वायुमाकृष्य पूरयित्वोदरे दृढम् । वामाङ्घ्र्यङ्गुष्ठके नाभौ नासाग्रे धारयेत्स्थिरम् ॥ पुनः पिङ्गलयाऽऽपूर्य दक्षाङ्घ्र्यङ्गुष्ठकेऽनिलम् । नाभौ नासाग्रके प्राग्वद्धारयेद्ध्यानसंयुतः । पुटाभ्यामथवा वायुं पूरितं धारयेत्स्थिरम् । अनेनाभ्यासयोगेन प्राणवायुर्जितो भवेत्" इति ॥ २८ ॥ धारणात्रयस्य पृथक्फलमाह–**नासाग्रेति** ॥ २९-३१ ॥

है । चित्त शुद्ध होने पर मन सीधे प्रत्यगात्मा में स्थिर हो जाता है । चित्त से संयुक्त प्राण भी परमात्मा में स्थित रहता है। (प्राण के सहारे ही मन की गति है । यदि प्राण चंचल होगा तो मन भी अवश हुआ चंचल हो जायेगा । मन की स्थिरता से प्राण की स्थिरता अर्थसिद्ध है ।) प्राणायाम के अभ्यासी महात्मा पुरुष का शरीर उस प्राणायाम से थोड़ा उठ जाता है । (प्राणायाम से अतिशोधित चित्त वाला व्यक्ति) ज्ञान से मोक्ष पा लेता है । रेचक व पूरक को छोड़ कुम्भक का प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिये । इससे सारे पाप छूट जायेंगे और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होगी । मन पर नियंत्रण होगा और बालों की सफेदी दूर होगी । ॥ २२–२५ ॥ जो केवल प्राणायाम में तत्पर रहता है उसके लिये कुछ दुर्लभ नहीं है । अतः पूरा प्रयास कर प्राणायाम का सही ढंग से अभ्यास करना चाहिये ॥ २६ ॥

अब मैं प्राणायामके विनियोग बताऊँगा । दोनों संध्याओं के समय या ब्राह्ममुहूर्त में या मध्याह्न के समय अथवा सदा ही बाह्य प्राण को खींचकर उदर में भर ले और नाक की नोक पर, नाभि में तथा पैरों के अंगूठें में वायु व मन को स्थिर करे । इससे सब रोगों से निवृत्त हो साधक सौ वर्ष जीता है । नाक की नोंक पर मन एकाग्र करने से वायु पर जय होता है ॥ २७–२९ ॥ नाभि के बीच धारणा करने से सब रोग नष्ट होते हैं और पैरों के अंगूठों में मन व प्राण का निरोध करने से शरीर में हल्कापन रहता है ॥ ३० ॥ जो व्यक्ति जीभ से वायु खींच कर उसे मानो पीता है उसकी थकान दूर होती है और वह नीरोग हो जाता है ॥ ३१ ॥ जीभ से वायु खींच कर जिह्वामूल में चित्त एकाग्र करना चाहिये ।

जिह्वया वायुमाकृष्य जिह्वामूले निरोधयेत् । पिबेदमृतमव्यग्रं सकलं सुखमाप्नुयात् ॥ ३२ ॥

इडया वायुमाकृष्य भ्रुवोर्मध्ये निरोधयेत् ।

यः पिबेदमृतं शुद्धं व्याधिभिर्मुच्यते हि सः ॥ ३३ ॥

इडया वेदतत्त्वज्ञ तथा पिङ्गलया[1]ऽपि च । नाभौ निरोधयेत्तेन व्याधिभिर्मुच्यते नरः ॥ ३४ ॥

माससमात्रं त्रिसंध्यायां जिह्वयाऽऽरोप्य मारुतम् ।

अमृतं च पिबेन्नाभौ मन्दं मन्दं निरोधयेत् ॥ ३५ ॥

[2]वातपित्तादिजा दोषा नश्यन्त्येव न संशयः ।

नाडीभ्यां वायुमाकृष्य नेत्रद्वंद्वे निरोधयेत् ॥ ३६ ॥

नेत्ररोगा विनश्यन्ति तथा श्रोत्रनिरोधनात् ।

तथा वायुं समारोप्य धारयेच्छिरसि स्थिरम् ॥ ३७ ॥

शिरोरोगा विनश्यन्ति सत्यमुक्तं बृहस्पते । स्वस्तिकासनमास्थाय समाहितमनास्तथा ॥ ३८ ॥

अपानमूर्ध्वमाकृष्य प्रणवेन शनैः शनैः । हस्ताभ्यां बन्धयेत्सम्यक्कर्णादिकरणानि वै ॥ ३९ ॥

अङ्गुष्ठाभ्यामुभे श्रोत्रे तर्जनीभ्यां तु चक्षुषी ।

नासापुटावथान्याभ्यां प्रच्छाद्य करणानि वै ॥ ४० ॥

जिह्वामूले निरोधयेच्चित्तं धारयेत् । **तमेवात्यन्तशीतलममृतमयं वायुमव्यग्रं** शनैः **पिबेत्** ॥ ३२–३४ ॥ **जिह्वयाऽऽरोप्येति** । जिह्वाग्रसंस्पर्शी यथा वायुर्भवति तथा काकचञ्चुवदोष्ठौ कृत्वा मन्दं मन्दं पवनमाकर्षन्नाभौ[3] चित्तं धारयेदित्यर्थः ॥ ३५–३७ ॥ संमुखीकरणयोगमाह–**स्वस्तिकासनमित्यादि** ॥ ३८ ॥ **ऊर्ध्वमाकृष्याऽऽ**कुञ्च्य शनैः शनैः । त्वरया हि कृते नाड्यन्तरप्रविष्टः पवनो व्यथयेत् ॥ ३९ ॥

तब अमृत की तरह शीतल वायु को बिना जल्दी किये पीने से सुख मिलता है ॥ ३२ ॥ इडा से वायु खींच कर भ्रूमध्य में मनोनिरोध करना चाहिये । इससे शुद्ध अमृतपान जैसा फल होता है और व्याधियाँ नष्ट होती हैं ॥ ३३ ॥ इडा तथा पिंगला से पूरक कर नाभि में चित्त को एकाग्र करने से भी रोगनिवृत्ति होती है ॥ ३४ ॥ ओष्ठ को कौवे की चोंच की तरह बनाकर धीरे-धीरे वायु खींचे ताकि जीभ की नोक को वह छूती चले और नाभी में एकाग्रता करे । ऐसा तीनों संध्याओं के समय एक महीने तक करने से वात, पित्त आदि दोष नष्ट हो जाते हैं ॥ ३५½ ॥ दोनों नासिकाओं से पूरक करे और दोनों नेत्रों में मन को एकाग्र करे तो नेत्र-रोग नष्ट हो जाते हैं । इसी प्रकार पूरक कर कानों में धारणा करने से (कान के रोग नष्ट होते हैं) । तथा वैसे ही पूरक कर सिर में चित्त एकाग्र करने से सिर के रोग नष्ट हो जाते हैं ॥ ३६–३७½ ॥ स्वस्तिकासन से बैठकर सावधानीपूर्वक प्रणव जप करते हुए धीरे-धीरे अपान को ऊपर खींचे और दोनों हाथों की अंगुली आदि से शीर्षण्य गोलकों को भली-भाँति बन्द

---

१. ख. ॰या पुनः । ना॰ । २. ग. घ. ङ. ॰वायुपि॰ । ३. ग. ॰माकृष्य नाभौ॰ ।

आनन्दाविर्भवं यावत्तावन्मूर्धनि [1]धारयेत् । प्राणः प्रयात्यनेनैव ब्रह्मरन्ध्रं महामुने ॥ ४१ ॥

ब्रह्मरन्ध्रे गते वायौ नादश्चोत्पद्यतेऽनघ ।

शङ्खध्वनिनिभश्चाऽऽदौ[2] मध्ये मेघध्वनिर्यथा ॥ ४२ ॥

शिरोमध्यगते वायौ गिरिप्रस्रवणं यथा । पश्चाच्चित्तं महाप्राज्ञ साक्षादात्मोन्मुखं भवेत् ॥ ४३ ॥

पुनस्तज्ज्ञाननिष्पत्तिस्तया संसारनिह्नुतिः । दक्षिणोत्तरगुल्फेन सीवनीं पीडयेच्छिराम् ॥ ४४ ॥

सव्येतरेण गुल्फेन पीडयेद्बुद्धिमान्नरः ।

जान्वोरधः स्थितं संधिं स्मृत्वा देवं च त्र्यम्बकम् ॥ ४५ ॥

विनायकं च संस्मृत्य तथा वागीश्वरीं पुनः ।

लिङ्गनालात्समाकृष्य वायुमव्यग्रतो मुने ॥ ४६ ॥

प्रणवेनाग्नियुक्तेन बिन्दुयुक्तेन बुद्धिमान् । मूलाधारस्य विप्रेन्द्र मध्यमे तु निरोधयेत्[3] ॥ ४७ ॥

निरुद्धवायुना दीप्तो वह्निर्दहति कुण्डलीम् ।

पुनः सुषुम्नया वायुर्वह्निना सह गच्छति ॥ ४८ ॥

एवमभ्यसतस्तस्य जितो वायुर्भवेद् ध्रुवम् । प्रस्वेदः प्रथमः पश्चात्कम्पनं मुनिसत्तम ॥ ४९ ॥

उत्थानं च शरीरस्य चिह्नमेतज्जितेऽनिले[4] । एवमभ्यसतस्तस्य मूलरोगो विनश्यति ॥ ५० ॥

भगंदरं च नष्टं स्यात्तथा[5]ऽन्ये व्याधयो मुने ।

पातकानि विनश्यन्ति क्षुद्राणि च महान्ति च ॥ ५१ ॥

वामदक्षिणहस्ताङ्गुष्ठाभ्यां **श्रोत्रे** । **तर्जनीभ्यां चक्षुषी** । मध्यमाभ्यां **नासापुटौ** च निरुध्य **यावदानन्दाविर्भावो** भवति तावद् ब्रह्मरन्ध्रे चित्तं धारयतः प्राणः सुषुम्नां प्रविशतीत्यर्थः ॥ ४० ॥ ४१ ॥ **नादश्चोत्पद्यत** इति । तद्भेदा हंसोपनिषदि दशधा कथिताः । चिणीति प्रथमः । चिणिचिणीति द्वितीयः । घण्टानादस्तृतीयः । शङ्खनादश्चतुर्थः । पञ्चमस्तन्त्रीनादः। षष्ठस्तालनादः । सप्तमो वेणुनादः । अष्टमो भेरीनादः । नवमो मृदङ्गनादः । दशमो मेघनाद इति ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ उत्कर्षप्राणायाममाह–**दक्षिणोत्तरेति** । वामेन गुल्फेन पीडयित्वा जान्वोरधः स्थितं तमेव वामगुल्फसंधिं दक्षिणगुल्फेन पीडयित्वा शिवविनायकवागीशान्स्मरल्लिँङ्गनालं समाकृष्य निरुद्धस्य पवनस्य नाड्यन्तरप्रवेशपरिहारार्थमाकुञ्चितोल्बणबन्धं कृत्वा रेफबिन्दुयुक्तं प्रणवमनुस्मरन्मूलाधारपवनं निरोधयेत् । मूलाधाराकुञ्चनलक्षणं मूलबन्धं कुर्यादित्यर्थः । अयमुत्कर्षप्राणायामयोग आगमे सविशेषो दर्शितः– 'अथोत्कर्षाभिधानस्य प्राणायामस्य संयमः । इडाधः सीवनीं सूक्ष्मां पीडयेद्वामगुल्फतः ॥ तद्गुल्फोपरि निक्षिप्य दक्षगुल्फं समं स्थिरम् । जङ्घोरुसंधिं निश्छिद्रां बद्ध्वाऽऽसीत समाहितः ॥ मूलाधारे चतुष्पत्रे रक्तकिञ्जल्कशोभिते । मनसा प्रणवं ध्यायन्दक्षगुल्फं विलोकयन् ॥

कर ले । दोनों अंगूठों से दोनों कान, तर्जनियों से आँखें, मध्यमाओं से नाक (और शेष चारों से मुँह) बंद करे । मूर्धा में मन को एकाग्र करना चाहिये । जब तक आनन्द प्रकट न हो तब तक यों ध्यान करे । इससे प्राण ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करता है ॥ ३८–४१ ॥ जब वायु ब्रह्मरंध्र में घुसती है तब अंदर ही विभिन्न नाद उत्पन्न होते हैं । पहले शंखध्वनि की तरह तथा अंत में मेघध्वनि की तरह शरीर के अंदर ही ध्वनि अनुभव में आती है । ॥ ४२ ॥ जब सिर के मध्य प्राण पहुँचता है तो ब्रह्मरन्ध्र से

---

१. ङ. धापयेत् । २. घ. °श्चासौ म° । ३. ग. °धने° ॥ ४७ ॥ ४. ग. ङ. °तेऽनले° । ५. ग. °थाऽन्या व्या° ।

नष्टे पापे विशुद्धं स्याच्चित्तदर्पणमुत्तमम् । पुनर्ब्रह्मादिलोकेभ्यो वैराग्यं जायते हृदि ॥ ५२ ॥

विरक्तस्य तु संसाराज्ज्ञानं कैवल्यसाधनम् ।

तेन पाशापहानिः स्याज्ज्ञात्वा देवमिति श्रुतिः ॥ ५३ ॥

अहो ज्ञानामृतं मुक्त्वा मायया परिमोहिताः ।

परिभ्रमन्ति संसारे सदाऽसारे नराधमाः ॥ ५४ ॥

यावन्मनोलयस्तस्मिंस्तावद्वायुं निरोधयेत् । अपानोऽनेन योगेन वह्निस्थानं व्रजेत्तदा ॥ आग्नेये मण्डले रक्ते त्रिकोणे देहधारकः । वैश्वानरो वसत्यग्निरन्नपानादिपाचकः ॥ अपानमग्निना सार्धं प्राणं तत्रैव निश्चलम् । धारयेत्प्रणवं ध्यायन्यावदग्निर्जितो भवेत् ॥ जातेऽग्निविजये सम्यगूर्ध्वं तद्वह्निमण्डलात् । कन्दनाभेरधस्ताच्च स्वाधिष्ठाने च षड्दले ॥ प्राणापानौ समारोप्य निश्चलं वह्निना सह । नाभिं विलोकयन्दृष्ट्या मनसा प्रणवं स्मरन् ॥ यावन्मनोलयस्तस्मिंस्तावद्वायुं निरोधयेत्। ततोऽग्निनाऽभ्यावर्तेन[1] प्रबोधं याति कुण्डली ॥ प्रबुद्धा कुण्डली कन्दनाभिरन्ध्रात्फणं स्वकम् । अपाकरोति तेनैतत्सुषुम्नामूलरन्ध्रकम् ॥ विवृतं भवति क्षिप्रं तस्मिन्वायुं प्रपूरयेत् । शनैः साग्निं सुषुम्नायामा मूर्ध्नः प्रणवं स्मरेत् ॥ धारयेन्मारुतं[2] साग्निं सुषुम्नारन्ध्रमूर्धनि । मरुताऽऽपूरिते देहे सुसर्वाङ्गे सवह्निना ॥ तदात्मा दृश्यते मूर्ध्नि यथाऽऽकाशे प्रभाकरः' इति ॥ ४४–५१ ॥ अनेन योगेन न केवलमारोग्यं किं तु समाधानं ज्ञानमप्यपवर्गफलं भवतीत्याह–**पुनर्ब्रह्मादीति** ॥ ५२ ॥ ज्ञात्वा देवमिति 'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः' इति श्वेताश्वतरोपनिषदित्यर्थः ॥ ५३–५४ ॥

मानो प्रस्राव होता है । तदनन्तर चित्त आत्मोन्मुखी हो जाता है ॥ ४३ ॥ इस अवस्था वाले को सरलता से आत्मज्ञान होता है जिससे संसारनिवृत्ति होती है । बायें टखने से सीवनी को दबाये और दायें टखने से बायें टखने के जोड़ को दबा कर बैठ जाये । शिव, गणेश और सरस्वती का स्मरण करे । लिंगनाल से वायु का शनैःशनैः समाकर्षण कर रेफ-बिन्दुयुक्त प्रणव का जप करते हुए उसे मूलाधार में निरुद्ध करे । इससे कुण्डली उद्दीप्त होती है और वह्नि समेत वायु सुषुम्ना में प्रवेश कर जाती है। यह अभ्यास वायु पर विजय दिलाता है । पहले पसीना, फिर कंपन होता है और यों वायुजय होने पर शरीर का उत्थान हो जाता है । यों अभ्यास करने वाले को मूलरोग, भगन्दर व अन्य व्याधियों से छुटकारा मिलता है । क्षुद्र व महान् पाप भी नष्ट हो जाते हैं ॥ ४४–५१ ॥ पापनिवृत्ति से चित्तशुद्धि व ब्रह्मलोकपर्यन्त वैराग्य हो जाता है । संसार से जिसे वैराग्य है उसके मोक्ष का साधन शिवात्मज्ञान है । ज्ञान से ही बंधन कटते हैं । श्रुति ने भी कहा है कि महादेव को जानने से पाशों से छुटकारा मिलता है । अहो खेद है ! रागी नराधम माया से मुग्ध हुए ज्ञानरूप अमृत को छोड़ संसार में भटकते रहते हैं ॥ ५२–५४ ॥

---

१. ०ना सवातेन प्र० इति वाल. पाठः । २. ग. °येन्मरुतः सा° ।

ज्ञानामृतरसो येन सकृदास्वादितो भवेत् । स सर्वकार्यमुत्सृज्य तत्रैव परिधावति ॥ ५५ ॥

ज्ञानामृतरसः प्रायस्तेन नाऽऽस्वादितो भवेत् ।
यो वाऽन्यत्रापि रमते तद्विहायैव दुर्मतिः ॥ ५६ ॥

ज्ञानस्वरूपमेवाऽऽहुर्जगदेतद्विचक्षणाः । अर्थस्वरूपमज्ञानात्पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टयः ॥ ५७ ॥

यज्ञैर्देवत्वमाप्नोति तपोभिर्ब्रह्मणः पदम् । दानैर्भोगानवाप्नोति ज्ञानाद् ब्रह्माधिगच्छति ॥ ५८ ॥

कर्मणा केचिदिच्छन्ति कैवल्यं मुनिसत्तम ।
ते मूढा मुनिशार्दूल प्लवा ह्येत इति श्रुतिः ॥ ५९ ॥

आत्मैवेदं जगत्सर्वमिति जानन्ति पण्डिताः ।
अज्ञानेनाऽऽवृता मर्त्या न विजानन्ति शंकरम् ॥ ६० ॥

अज्ञानपाशबद्धत्वादमुक्तः पुरुषः स्मृतः । ज्ञानात्तस्य निवृत्तिः स्यात्प्रकाशात्तमसो यथा ॥ ६१ ॥

असारसंसारपरिभ्रमणं ज्ञानामृतरसापरिज्ञानादित्युक्तम् । तत्परिज्ञानवतस्तु तद्विरहमाह–**ज्ञानामृतेति** ॥ ५५–५६ ॥ चराचरजगज्जातस्य परशिवपरिकल्पितत्वेन वस्तुतस्तन्मयतां तत्त्वविदः पश्यन्तीत्याह–**ज्ञानस्वरूपमिति** । 'सद्धीदं सर्वं सत्सदिति । चिद्धीदं सर्वं काशते काशते च' इति तापनीयश्रुतिः । ज्ञानात्पृथगर्थस्य पारमार्थिकत्वाभिमानस्त्वविद्यैकनिबन्धन इत्याह–**अर्थेति** ॥ ५७–५८ ॥ **प्लवा ह्येत** इति ॥ 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म । एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति' इति मुण्डकश्रुतिरपवर्गस्य कर्मसाध्यतां प्रतिक्षिपतीत्यर्थः ॥ ५९–६१ ॥

जिसने एक बार भी ज्ञानामृत का रस चख लिया वह तो सब काम छोड़ उसी ओर दोड़ता है ॥ ५५ ॥ जो अन्यत्र रमण करता है उसने निश्चित ही ज्ञान का स्वाद नहीं जाना है ॥ ५६ ॥ विद्वान् तो जगत् को ज्ञानस्वरूप ही बताते हैं । जो विद्वान् नहीं गलत दृष्टि वाले हैं वे अर्थस्वरूप का दर्शन करते हैं। (जैसे सर्पादि रज्जुस्वरूप ही अधिष्ठानतत्त्ववेत्ता को प्रतीत होते हैं क्योंकि रज्जुसे अतिरिक्त उनका अपना कोई अस्तित्व नहीं वैसे शिवात्मवेत्ता संसार को शिवमात्रस्वरूप देखता है । भ्रमकाल तक सर्पादि स्वस्वरूप से अवस्थित प्रतीत होते हैं । ऐसे ही पदार्थ भी हमें अज्ञानवेला में निजी स्वरूप वाले लगते हैं ।) ॥ ५७ ॥ यज्ञों से देवतापद, तप से ब्रह्मापद तथा दान से भोग मिलते हैं, किंतु ज्ञान से ब्रह्मरूप मोक्ष ही प्राप्त हो जाता है ॥ ५८ ॥ कुछ विचारक समझते हैं कि कर्मों से मोक्ष मिलता है । वे मूर्ख हैं क्योंकि स्वयं वेद ने कर्मों को अदृढ नौका बता कर उनकी मोक्षसाधनता का निषेध कर दिया है ॥ ५९ ॥ यह सारा जगत् आत्मा ही है ऐसा पण्डित लोग जानते हैं (जैसे सर्पादि रज्जु ही है ऐसा रज्जुज्ञ जानता है) । इस कल्याणकारी तत्त्व को वे मर्त्य नहीं जानते जो अज्ञानपंक में निमग्न हैं ॥ ६० ॥ अज्ञानपाश से बँधा पुरुष ही अमुक्त कहा जाता है । अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से होती है जैसे अँधेरे की निवृत्ति प्रकाश से ही होती है ॥ ६१ ॥ अज्ञान के स्वरूप का विचार कर निश्चय होता है यह मिथ्या ही है । यों इसके

आत्मस्वरूपविज्ञानादज्ञानस्य परीक्षया[1] । क्षीणेऽज्ञाने महाप्राज्ञ रागादीनां परिक्षयः ॥ ६२ ॥
रागाद्यसंभवे प्राज्ञ पुण्यपापोपमर्दनम् । तयोर्नाशे शरीरेण न पुनः संप्रयुज्यते ॥ ६३ ॥
अशरीरो महानात्मा सुखदुःखैर्न बाध्यते । क्लेशमुक्तः प्रसन्नात्मा मुक्त इत्युच्यते बुधैः ॥ ६४ ॥
तस्मादज्ञानमूलानि सर्वदुःखानि देहिनाम् ।
ज्ञानेनैव निवृत्तिः स्यादज्ञानस्य न कर्मभिः ॥ ६५ ॥
नास्ति ज्ञानात्परं किंचित्पवित्रं पापनाशनम् । तदभ्यासादृते नास्ति संसारच्छेदकारणम् ॥ ६६ ॥
सर्वमुक्तं समासेन तव स्नेहान्महामुने । गोपनीयं[2] त्वयैवैष वेदान्तार्थो महामुने ॥ ६७ ॥
इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे प्राणायामविधिनिरूपणं नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

ज्ञानान्मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ तन्निबन्धनरागाद्यभावेन धर्माधर्मप्रवृत्तिविरहे तदुभयफलभोगनिमित्तस्य शरीरपरिग्रहस्याभावाद्दुःखात्यन्तनिवृत्तिरपवर्गो भवतीत्याह–**आत्मस्वरूपेति** । तथा च गौतमसूत्रम्–'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' इति ॥ ६२–६६ ॥ **गोपनीयमिति**[3] । ज्ञानस्यैव हेतुत्वं कर्मणामहेतुत्वं च यद्यपि सकलवेदान्तार्थस्तथाऽपि मूर्खेषु न प्रकाशनीयम् । 'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् । जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्' ॥ इति गीतासु भगवतोक्तमित्यर्थः ॥ ६७ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्डे प्राणायामविधिनिरूपणं नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

आग्रह से छूटने पर आत्मस्वरूप का अनुभव होता है जिससे अज्ञान क्षीण हो जाने पर रागादि समाप्त हो जाते हैं ॥ ६२ ॥ रागादि न रहने पर पुण्य-पाप नहीं रह जाते । (अज्ञान व राग-द्वेष से युक्त पुरुष ने ही कर्मों को किया है, अतः वे उसे तभी तक फल दे सकते हैं जब तक वह अज्ञान और राग-द्वेष से युक्त रहे । अज्ञानादि से युक्त न रह जाने पर पुण्य-पाप उसके लिये कोई फल उपस्थित नहीं कर सकते ।) पुण्य-पाप न रह जाने से वह व्यक्ति पुनः शरीर से सम्बद्ध नहीं होता ॥ ६३ ॥ शरीर बिना व्यापक आत्मा सुख-दुःख से परेशान नहीं हो सकता । (सुख भी प्राप्ति आदि आयासों से व समाप्त हो कर परेशान ही करता है ।) यों अविद्यादि पाँचों क्लेशों से छूटा हुआ प्रसन्न आत्मा मुक्त कहा जाता है ॥ ६४ ॥ अतः देहधारियों के सारे कष्टों का मूल है अज्ञान । अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से ही हो सकती है, कर्मों से नहीं ॥ ६५ ॥ ज्ञान से पवित्र कुछ नहीं है जो सब पापों को नष्ट करे । ज्ञानाभ्यास से भिन्न कोई साधन नहीं है जो संसारबंधन को छिन्न-भिन्न करे ॥ ६६ ॥ हे महामुनि ! मैंने साधनाविषयक प्रायः सारी बातें तुम्हें प्रेमपूर्वक समझा दी हैं । वेदान्त के इस रहस्य को अनधिकारियों से छिपाये रखना (ताकि वे इससे दिग्भ्रान्त हो अनर्थ को प्राप्त न हों ।) ॥ ६७ ॥

१. परस्यालनईक्षा दर्शनं ज्ञानं तयेत्यर्थः । हानादिति शेषः । यद्वाऽज्ञानस्यैव परीक्षणं वास्तवत्वनिर्धारणं–नेदं तत्त्वतो नाम किंचदस्तीति । २. ख. घ. °नीयस्त्वयै° । ३. ख. °नीय इति° ।

सप्तदशोऽध्यायः

ईश्वर उवाच–अथातः संप्रवक्ष्यामि प्रत्याहारं महामुने ।
इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः ॥ १ ॥
बलादाहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते । यद्यत्पश्यति तत्सर्वं ब्रह्म पश्येत्समाहितः ॥ २ ॥
प्रत्याहारो भवत्येष ब्रह्मविद्भिः[१] पुरोदितः । यदि शुद्धमशुद्धं वा करोत्यामरणान्तिकम् ॥ ३ ॥
तत्सर्वं ब्रह्मणे कुर्यात्प्रत्याहारोऽयमुच्यते । अथवा नित्यकर्माणि ब्रह्माराधनबुद्धितः ॥ ४ ॥
काम्यानि च [२]तथा कुर्यात्प्रत्याहारः स उच्यते ।
अथवा वायुमाकृष्य[३] तत्तत्स्थाने निरोधयेत् ॥ ५ ॥

यतो जितप्राणस्यैवेन्द्रियनियमनहेतुप्रत्याहारसंभवः, अतस्तदनन्तरं स उच्यत इत्याह–**अथात** इति । लक्षणमाह–**इन्द्रियाणामिति** । आह पतञ्जलिः–'स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः' इति ॥ १ ॥ ज्ञेयप्रपञ्चस्य सर्वस्य ज्ञानादव्यतिरेकानुसंधानमिन्द्रियनियमनादपि प्रशस्तः प्रत्याहार इत्याह–**यद्यदिति** । 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण । अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' इति हि मुण्डकोपनिषत् ॥ २ ॥ सर्वव्यापारजातस्य ब्रह्मणि समर्पणलक्षणमपरं प्रत्याहारमाह–**यदि शुद्धमिति** । 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः' इति हि गीतासु ॥ ३ ॥ निषिद्धानि वर्जयित्वा नित्यानां काम्यानां च फलानभिसंधानेन भगवदाराधनबुद्ध्याऽनुष्ठानलक्षणमपरं प्रत्याहारमाह–**अथवा नित्येति** ॥ ४ ॥ दन्तमूलात्पादाङ्गुष्ठपर्यन्तं प्राणस्यापकर्षणरूपमपरं प्रत्याहारमाह**अथवा वायुमिति** । पूर्वस्थानादपरं स्थानं प्रति वायुमाकृष्यैकैकत्र स्थाने यावदखिलोऽपि प्राण आगत्य स्थिरो भवति तावच्चित्तं धारयेत् । अनन्तरमवस्थानान्तरं[४] नयेदित्यर्थः ॥ ५ ॥

प्रत्याहार-विधाननिरूपण नामक सत्रहवाँ अध्याय

भगवान् बोले–हे महामुनि ! अब मैं प्रत्याहार बताऊँगा । इन्द्रियाँ स्वभाव से विषयों की ओर भागती हैं । उन्हें बलपूर्वक वहाँ से हटाना प्रत्याहार है । (पतंजलि ने स्पष्ट किया है कि क्योंकि इन्द्रियाँ चित्त का अनुकरण करती हैं, इसलिये चित्त का पहले यमादि से नियमन कर लेना चाहिये । जब चित्त अन्तर्मुखी होगा तो इंद्रियों को वैसा बनाना सरल हो जाता है । यद्यपि यमादि में भी इंद्रियनिग्रह है ही तथापि अब उनका सर्वथा नियंत्रण इष्ट है क्योंकि संयम का निकटतम प्रत्याहार है । अतः प्रत्याहार का फल इतना ही नहीं कहा कि इंद्रियाँ वशीभूत होती हैं किन्तु कहा कि उनकी परम वश्यता होती है–'ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्' (यो. सू. साधन ५५) ।) ब्रह्मवेत्ताओं ने तो माना है कि हम जिस किसी का अनुभव करते हैं उसे ब्रह्म जानें–यह प्रत्याहार है ॥ १–२½ ॥ शुभ या अशुभ जो कुछ भी जीवनभर हम

---

१ तदाहापरोक्षानुभूतिप्रकरण आचार्यः 'विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चित्ति मज्जनम् । प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुमुक्षुभिः' ॥ १२१ ॥ इति । २ ङ. ततः । ३ ग. घ. "ष्य स्थानात्स्थानं नि" । ङ. "ष्य स्थानान्तरस्थं नि" । ४ घ. "रमेव स्था" ।

दन्तमूलात्तथा कण्ठे कण्ठादुरसि मारुतम् । उरोदेशात्समाकृष्य नाभिकन्दे निरोधयेत् ॥ ६ ॥

नाभिकन्दात्समाकृष्य कुण्डल्यां तु निरोधयेत् । कुण्डलीदेशतो विद्वान्मूलाधारे निरोधयेत् ॥ ७ ॥

तथाऽपाने कटिद्वंद्वे तथोरुद्वयमध्यमे । तथा जानुद्वये जङ्घे पादाङ्गुष्ठे निरोधयेत् ॥ ८ ॥

प्रत्याहारोऽयमित्युक्तः प्रत्याहारपरैः पुरा । एवमभ्यासयुक्तस्य पुरुषस्य महात्मनः ॥ ९ ॥

सर्वपापानि नश्यन्ति भवरोगाश्च सुव्रत । अथवा तव वक्ष्यामि प्रत्याहारान्तरं मुने ॥ १० ॥

नाडीभ्यां वायुमाकृष्य निश्चलः स्वस्तिकासनः । पूरयेदनिलं विद्वानापादतलमस्तकम् ॥ ११ ॥

पश्चात्पादद्वये तद्वन्मूलाधारे तथैव च । नाभिकंदे च हृन्मध्ये कण्ठकूपे च तालुके ॥ १२ ॥

भ्रुवोर्मध्ये ललाटे च तथा मूर्धनि रोधयेत्[1] ।
अकारं च तथोकारं मकारं च तथैव च ॥ १३ ॥

नकारं च मकारं च शिकारं च वकारकम् ।
यकारं च तथोङ्कारं जपेद्बुद्धिमतां वर ॥ १४ ॥

तानि धारणास्थानान्यवरोहेणाऽऽह—**दन्तमूलादिति** ॥ ६–८ ॥ **प्रत्याहारोऽयमिति** । दन्तमूलमारभ्योक्तस्थानक्रमेण प्राणस्य पादाङ्गुष्ठप्रत्याहरणं प्रत्याहारः ॥ ९ ॥ पवनस्य पादद्वयमारभ्याऽऽरोहरूपं प्रत्याहारान्तरमाह—**अथवा तवेति** । पादद्वयादिस्थाननवके पूर्वपूर्वस्थानजयानन्तरमुत्तरोत्तरस्थानक्रमेणाकारादिवर्णनवकेन सह चित्तस्य धारणमित्यर्थः । एष च पवनधारणरूपः प्रत्याहार आगमे दर्शितः—'चित्तात्मैक्यधृतस्य प्राणस्य स्थानसंहतिः स्थानात् । प्रत्याहारो ज्ञेयश्चैतन्ययुतस्य सम्यगनिलस्य' इति । धारणास्थानानि तु तत्र कानिचिदधिकानि—'अङ्गुष्ठगुल्फजानुद्वितयानि गुदं च सीवनी मेढ्रम् । नाभिर्हृदयं ग्रीवा सलम्बिकाग्रं तथैव नासा च । भ्रूमध्यललाटाग्रं सुषुम्नाद्वादशान्तमित्येवम् ॥ उत्क्रान्तौ परकायप्रवेशने चाऽऽगतौ पुनः स्वतनौ । स्थानानि धारणायाः प्रोक्तानि मरुत्प्रयोगविधिनिपुणैः' इति ॥ १०–१४ ॥

करते हैं उस सबको ब्रह्मार्पण करना प्रत्याहार है ॥ ३½ ॥ अथवा नित्य व काम्य कर्मों को इस दृष्टि से करना कि हम परमात्मा की आराधना कर रहे हैं, प्रत्याहार है ॥ ४½ ॥ अथवा वायु को खींच कर इन स्थानों पर निरुद्ध करना चाहिये : दन्तमूल में, वहाँ से कण्ठ में, वहाँ से सीने में, वहाँ से नाभिकन्द में, वहाँ से कुण्डली में, वहाँ से मूलाधार में, वहाँ से गुदद्वार में, वहाँ से नितम्बों में, वहाँ से जाँघ के बीच, वहाँ से घुटनों में, वहाँ से पिण्डलियों में और अंत में पादांगुष्ठ में । यह प्राण का अपकर्षण रूप प्रत्याहार बताया गया है । इस प्रकार अभ्यास करने वाले महात्मा के पाप कटते हैं और सांसारिक रोग दूर होते हैं ॥ ५–९½ ॥ अथवा तुम्हें एक अन्य प्रत्याहार बताता हूँ : स्वस्तिकासन से बैठकर दोनों नासिकाओं से वायु खींच कर पैर के तले से मस्तकपर्यन्त उसे भर ले । फिर दोनों पैरों में, मूलाधार में, नाभिकन्द

---

१ क. ख. ग. घ. धारयेत् ।

प्रत्याहारोऽयमित्युक्तः पण्डितैः पण्डितोत्तम । अथवा मुनिशार्दूल प्रत्याहारं वदामि ते ॥ १५ ॥
देहाद्यात्ममतिं विद्वान्समाकृष्य समाहितः ।
आत्मनाऽऽत्मनि निर्द्वंद्वे निर्विकल्पे निरोधयेत् ॥ १६ ॥
प्रत्याहारः समाख्यातः साक्षाद्वेदान्तवेदिभिः । एवमभ्यसतस्तस्य न किंचिदपि दुर्लभम् ॥ १७ ॥
तस्य पुण्यं च पापं च न हि सत्यं बृहस्पते ।
अयं ब्रह्मविदां श्रेष्ठः साक्षाद्देवेश्वरः पुमान् ॥ १८ ॥
प्रत्याहारः समाख्यातः संक्षेपेण महामुने । गोपनीयस्त्वया नित्यं गुह्याद् गुह्यतरो ह्ययम् ॥ १९ ॥
इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे प्रत्याहारविधाननिरूपणं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

ईश्वर उवाच—अथातः संप्रवक्ष्यामि धारणाः[1] पञ्च सुव्रत ।
देहमध्यगते व्योम्नि बाह्याकाशं तु धारयेत् ॥ १ ॥

विषयादिभ्यः प्रत्याहृत्य बुद्धेरात्मनि धारणरूपं प्रत्याहारान्तरमाह—**अथवा मुनिशार्दूलेति** ॥ १५ ॥ **आत्मना** बुद्ध्या ॥ १६ ॥ १७ ॥ **तस्य पुण्यं** चेति । पापवद्भोगकारणं पुण्यमपि संसारावहतया हेयमेव । 'तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इति मुण्डकश्रुतिः ॥ १८ ॥ गुह्यात्सवनप्रत्याहारादपि विमर्शरूपस्य प्रत्याहारस्य विशेषमाह—**गोपनीय** इति ॥ १९ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्डे प्रत्याहारविधाननिरूपणं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

में, हृदय में, कण्ठकूप में, तालु में, भ्रूमध्य में, ललाट में और मूर्धा में क्रमशः उसका निरोध करे । इन नौ स्थानों पर निरोध करते हुए क्रमशः इन अक्षरों का जप करे : अ, उ, म, न, म, शि, व, य, ॐ । पण्डितों ने इसे आरोहरूप प्रत्याहार बताया है ॥ १०—१४½ ॥ अथवा हे मुनिश्रेष्ठ ! तुम्हें अन्य प्रत्याहार बताता हूँ । एकाग्रतापूर्वक देहादि से आत्मबुद्धि को हटाकर निश्चयपूर्वक सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से न बदलने वाले, सभी विशेषताओं से रहित प्रत्यङ्मात्र आत्मतत्त्व में उसे स्थापित करे । (अर्थात् 'मैं शरीरादि हूँ' ऐसा न सोच 'मैं शरीरादिरहित आत्ममात्र हूँ' ऐसा चिन्तन करे ।) यह वेदान्तियों ने प्रत्याहार बताया है । इस प्रकार अभ्यास करने वाले के लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है । वह पुण्य-पाप से अतीत हो जाता है । वह स्वयं शिवरूप हो जाता है ॥ १५—१८ ॥ यों संक्षेप से प्रत्याहार समझा दिया । इस प्रत्याहार को गोपनीय रखना क्योंकि यह गुह्य से भी अधिक गुह्य है । (अनधिकारी को इन अभ्यासों से लाभ नहीं, हानि भले ही हो । अतः इन्हें गोपनीय बताया है । आसन से प्रारम्भ होने वाले सभी योगांग श्री गुरु के निर्देश से ही ग्रहण कर उनकी संनिधि में ही अभ्यास करने चाहिये अन्यथा नानाविध आपत्तियाँ संभव हैं ।) ॥ १९ ॥

धारणाविधि-निरूपण नामक अठारहवा अध्याय

महादेव बोले—अब मैं तुम्हें पाँच धारणायें बताऊँगा । (चित्तवृत्ति को किसी स्थान पर स्थिर करने का अभ्यास 'धारणा' शब्द का अर्थ है ।) देहान्तर्वर्ती आकाश में बाह्याकाश के तादात्म्य की बुद्धि हकार के जप सहित करे । प्राण में बाह्यवायु के तादात्म्य की दृष्टि यकार-जप सहित करे । इसी प्रकार उदर-

---

१ पातंजलन्तु सूत्रं 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणे'ति । नाभ्याद्यान्तरस्थाने चन्द्रादिबहिर्देशे वा चित्तवृत्तेः स्थिरीकरणं धारणेत्यर्थः ।

प्राणे बाह्यानिलं तद्वज्ज्वलने चाग्निमौदरे । तोयं तोयांशके भूमिं भूमिभागे महामुने ॥ २ ॥
[१]हयवरलकाराख्यं मन्त्रमुच्चारयेत्क्रमात् । धारणैषा मया प्रोक्ता सर्वपापविशोधिनी[२] ॥ ३ ॥
जान्वन्तः पृथिवीभागो ह्यपां पाय्वन्त उच्यते ।
हृदयान्तस्तथाऽग्न्यंशो भ्रूमध्यान्तोऽनिलांशकः[३] ॥ ४ ॥
आकाशान्तस्तथा प्राज्ञ मूर्धान्तः परिकीर्तितः ।
ब्रह्माणं पृथिवीभागे विष्णुं तोयांशके तथा ॥ ५ ॥
अग्न्यंशे च महेशानमीश्वरं चानिलांशके । आकाशांशे महाप्राज्ञ धारयेत्तु सदाशिवम् ॥ ६ ॥
अथवा तव वक्ष्यामि धारणां मुनिपुंगव ।
मनसीन्दुं दिशः श्रोत्रे क्रान्ते विष्णुं बले हरिम् ॥ ७ ॥

यतः प्रत्याहारेण वशीकृतस्य चित्तस्य धारणासु योग्यता, अतस्तदनन्तरं ता उच्यन्त इति प्रतिजानीते–**अथात** इति । तत्र शरीरान्तर्वर्तिषु वियदादिषु[४] हयवरलवर्णैर्भूतबीजैः सह बाह्यविषयादितादात्म्येन[५] बुद्धिर्धारयितव्या । एषा च धारणा सह फलेन श्वेताश्वतरोपनिषदि वर्णिता–'पृथ्व्यप्तेजोनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते । न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्' इति ॥ १–३ ॥ उक्तानां वियदादीनां शरीरे धारणावस्थानविशेषात्सह तत्तद्देवताभिराह–**जान्वन्त** इति ॥ ४–५ ॥ **महेशानं** रुद्रं; पञ्चधा विभक्तेषु पादादिषु शरीरप्रदेशेषु पृथिव्यादिपञ्चभूतात्मकतां, तेषु च ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरसदाशिवरूपतां च सदा भावयेदित्यर्थः ॥ ६ ॥ **अथवा तवे**ति । मनःप्रभृत्याध्यात्मिक-शरीरभागेषु चन्द्रादीन्याधिदैविकरूपाणि तादात्म्येन भावयेत् । **क्रान्ते** क्रमणेनोपलक्षिते पादे । हरिमिन्द्रम्[६] ॥ ७ ॥

स्थित अग्नि और बाह्य अग्नि के तादात्म्य की बुद्धि वकारजप सहित करे । शरीरान्तःस्थ जलभाग में बाह्यजल-तादात्म्य-दृष्टि रेफजप सहित करे। देहवर्ती पृथ्वी भाग में बाह्य पृथिवी के तादात्म्य की बुद्धि लकारजप सहित करे । यह धारणा सब पापों को निवृत्त करती है ॥ १–३ ॥ पादतल से घुटने तक के देहभाग में पृथ्वी-दृष्टि और उसमें पुनः ब्रह्म-दृष्टि करनी चाहिये। (अपने घुटने तक के पैरों को पृथ्वी समझे और उसे–पृथ्वी को–ब्रह्मा समझे । ऐसे ही आगे भी जानना चाहिये ।) घुटने से पायु तक के देहभाग में जल-दृष्टि और उसमें विष्णु-दृष्टि करे ।. हृदयपर्यन्त अग्नि-दृष्टि और उसमें रुद्रदृष्टि करनी चाहिये । भ्रूमध्य तक के देहभाग में वायुदृष्टि और उसमें ईश्वरदृष्टि करे । मूर्धा-पर्यन्त भाग में आकाशदृष्टि और उसमें सदाशिवदृष्टि करे ॥ ४–६ ॥ अथवा यह धारणा करनी चाहिये–मन में चन्द्रतादात्म्यदृष्टि, कानों में दिक्-तादात्म्यदृष्टि, पैरों में विष्णुतादात्मयदृष्टि, हाथों में इन्द्रतादात्म्यदृष्टि, वाणी में अग्नितादात्म्य-दृष्टि, अपान में मित्रदेवतादात्म्यदृष्टि, उपस्थ में प्रजापतितादात्म्यदृष्टि, त्वचा में वायुतादात्म्यदृष्टि, नेत्रों में

---

१. घ. हयरवल° । २ ग. °शोषिणी ॥ ३ ॥ ३ ख. ङ. °ध्यांशोऽनि° । ४ ग. °हयरवल° । ५ ख. °वियदादि° । ६. 'अर्कमर्कटमण्डूकविष्णुवासववायवः । तुरंगसिंहशीतांशुयमाश्च हरयो दश ॥' हलायुधे ।

वाच्यग्निं मित्रमुत्सर्गे तथोपस्थे प्रजापतिम् । त्वचि वायुं तथा नेत्रे सूर्यमूर्तिं तथैव च ॥ ८ ॥

जिह्वायां[1] वरुणं घ्राणे भूमिदेवीं तथैव च । पुरुषे सर्वशास्तारं बोधानन्दमयं शिवम् ॥ ९ ॥

धारयेद् बुद्धिमान्नित्यं सर्वपापविशुद्धये । एषा च धारणा प्रोक्ता[2] योगशास्त्रार्थवेदिभिः ॥ १० ॥

ब्रह्मादिकार्यरूपाणि स्वे स्वे संहृत्य कारणे । सर्वकारणमव्यक्तमनिरूप्यमचेतनम् ॥ ११ ॥

साक्षादात्मनि संपूर्णे धारयेत्प्रयतो नरः । धारणैषा परा प्रोक्ता धार्मिकैर्वेदपारगैः ॥ १२ ॥

इन्द्रियाणि समाहृत्य मनसाऽऽत्मनि धारयेत् ।
कंचित्कालं महाप्राज्ञ धारणैषा च पूजिता ॥ १३ ॥

वेदादेव सदा देवा वेदादेव सदा नराः । वेदादेव सदा लोका वेदादेव महेश्वरः ॥ १४ ॥

उत्सृजत्यनेनेत्युत्सर्गोऽपानं तत्र ॥ ८ ॥ **पुरुषे** जीवे **सर्वशास्तारं** परमात्मानम् । 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा' इति श्रुतेः ॥ ९–१० ॥ धारणान्तरमाह—**ब्रह्मादीति** । ब्रह्मादीनामचिदंशाः स्वस्वकारण-परम्परया मायायां लीयन्ते । माया च परमात्मनि । ब्रह्मादयस्तु परमात्मरूपेणैव न्यवतिष्ठन्त इति भावयेदित्यर्थः । **अव्यक्तम**नभिव्यक्तम् । नामरूपानिरूप्यमनिर्वचनीयम् । **अचेतनं** जडम् ॥ ११–१२ ॥ धारणान्तरमाह—**इन्द्रियाणीति** । मनसैव विषयेभ्य इन्द्रियाणि व्यावृत्त्य मन **आत्मनि धारये**दित्यर्थः । इयं च कठवल्लीषु सविशेषं दर्शिता—'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि । ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि' इति ॥ १३ ॥ **वेदादेवेति** । देवादयः सर्वे वेदशब्देभ्य एव सृष्टाः । 'एते असृग्रमिन्दवस्तिरःपवित्रमाशवः' इति अत्र मन्त्रः, 'एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजत । असृग्रमिति मनुष्यान् । इन्दव इति पितृन् । तिरःपवित्रमित्यन्याः प्रजा' इति श्रुतेः । 'ऋषीणां नामधेयानि कर्माणि च पृथक्पृथक् वेदशब्देभ्य एवाऽऽदौ निर्ममे स महेश्वरः' इति स्मृतावपि ऋषिपदस्य सर्वस्रष्टव्यो-पलक्षणार्थत्वात् । महेश्वरोऽपि वेदादेव ज्ञातव्यः 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तं सर्वानुभवमात्मानं संपराये' इति ॥ १४ ॥

सूर्यतादात्म्यदृष्टि, जिह्वा में वरुणतादात्म्यदृष्टि, घ्राण में पृथ्वीतादात्म्यदृष्टि तथा जीव में सर्वशासक ज्ञान-आनन्दमय शिव की दृष्टि करे । यह धारणा योगियों ने सब पापों के शोधन के लिये बतायी है ॥ ७–१० ॥ अथवा यह धारणा करे—ब्रह्मा आदि की उपाधियों को अपने अपने कारण में विलीन कर मायापर्यन्त विलय करे । वह माया व्यक्त नहीं है, अनिर्वचनीय है और जड है । उसे परमात्मा में लीन करे । यह धारणा श्रेष्ठ है ॥ ११–१२ ॥ अथवा इन्द्रियों को विषयों से व्यावृत्त कर मन सहित उनको आत्मा में धारण करे । (अर्थात् आत्मेतर कोई वृत्ति न बनावे । अथवा इंद्रियों को मनसे और मन को आत्मा से अभिन्न चिंतित करे ।) यह भी उत्तम धारणा है ॥ १३ ॥ अथवा पाँचवीं धारणा यह चिंतन करना है कि देव, नर और लोक वेद से ही उपजे हैं तथा महेश्वर भी वेद से ही जाना जा सकता है ॥ १४ ॥ इनसे अतिरिक्त यह निश्चय रखना भी धारणा है कि मैं देव, यक्ष, नर, देह, इंद्रिय, बुद्धि

---

१ वाचीति कर्मेन्द्रियग्रहणं जिह्वेति ज्ञानेन्द्रियग्रहणम् । २ ग. "क्ता वेदशा" ।

इति चित्तव्यवस्था या धारणा सा प्रकीर्तिता ।
ब्रह्मैवाहं सदा नाहं देवो यक्षोऽथवा नरः ॥ १५ ॥
न [1] देहेन्द्रियबुद्ध्यादिर्न माया नान्यदेवता[2] ।
इति बुद्धिव्यवस्थाऽपि धारणा सेति हि श्रुतिः १६ ॥
सर्वं संक्षेपतः प्रोक्तं सर्वशास्त्रविशारद । आगमान्तैकसंसिद्धमास्थेयं भवता सदा ॥ १७ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे धारणाविधिनिरूपणं नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

ईश्वर उवाच—अथातः संप्रवक्ष्यामि ध्यानं[3] संसारनाशनम् ।
आकाशे निर्मलं शुद्धं भासमानं सुशीतलम् ॥ १ ॥
सोममण्डलमापूर्णमचलं दृष्टिगोचरम् । ध्यात्वा मध्ये महादेवं परमानन्दविग्रहम् ॥ २ ॥

ब्रह्मैवाहमिति । 'अयमात्मा ब्रह्म' इति श्रुतावात्मनः परमात्मतादात्म्याभिधानेनैव तदितरसमस्तवस्त्वात्मकत्वावगमादित्यर्थः ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्डे धारणाविधिनिरूपणं नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

यतो धारणाभ्यासेन परित्यक्तचापलस्य मनसो ध्यानयोग्यता, अतस्तदनन्तरं तदुच्यत इत्याह—**अथात** इति । तच्च सगुणनिर्गुणलक्षणविषयभेदेन द्विविधम् । तत्र सगुणध्यानान्याह—**आकाश** इत्यादि । आकाशे वर्तमानमुक्तलक्षणं सकललोकदृष्टिगोचरं चन्द्रमण्डलं प्रथमतो ध्यात्वा, तन्मध्ये 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति श्रुत्युक्तं सच्चिदानन्दैकरसं परमेव ब्रह्मोमासहायत्वादि-यथोक्तलक्षणं स्वीकृतलीलावतरं शिवमात्मत्वेन ध्यायेदित्यर्थः । तथा च वाजसनेयके—बालाक्यजातशत्रुसंवादे—'य एवासौ चन्द्रे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपासे' इति बालाकिनोक्ते, नैतन्निष्कलशिवस्वरूपं किं तु स्वीकृतलीलावतारं सकलमिदं रूपमित्य-भिप्रायवताऽजातशत्रुणोक्तम्' मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा बृहन्पाण्डरवासाः सोमो राजेति वा अहमेतमुपासे' इति ॥ १–४ ॥

आदि, माया या अन्य कोई देवता नहीं हूँ, केवल ब्रह्म हूँ ॥ १५–१६ ॥ इस प्रकार धारणा के विषय में भी संक्षेप से सब बता दिया । उपनिषदों में बतायी इन धारणाओं का तुम्हें अभ्यास करना चाहिये ॥ १७ ॥

ध्यानविधि-निरूपण नामक उन्नीसवा अध्याय

भगवान् ने आगे कहा—अब मैं संसारचक्र में परिभ्रमण की निवृत्ति के उपायभूत ध्यान के विषय में कहूँगा । आकाश में सुशीतल शुद्ध चमकते हुए चन्द्रमण्डल का ध्यान कर उस चन्द्रबिम्ब के मध्य महादेव का ध्यान करे । आनन्द से उल्लसित अर्धनारीश्वर रूप का चिन्तन करना चाहिये । शुद्ध स्फटिक की तरह उनका शरीर है, द्वितीया के चन्द्र का शिरोभूषण है, तीन आँखें हैं, चार भुजायें हैं, नीली ग्रीवा है,

---

१. ख. देहेन्द्रियमनोबुद्धिर्न । २. विष्ण्वादेरंशोऽहमित्यादिधीरिहापोद्यते । यद्वा देवोहमिति तु मिथ्याधी र्दैवयोनिवतामुक्ता, देवतेति चास्माकं गौणी धीरुच्यते । ३ धारणाध्यानसमाधयो न जात्या पृथक् । स्थैर्याधिक्यमेव विशेषः । अतः संयमनाम्ना त्रयाणां बोधो योगिनामिष्टः ।

उमार्धदेहं वरदमुत्पत्तिस्थितिवर्जितम्[१] *। शुद्धस्फटिकसंकाशं चन्द्ररेखावतंसकम् ॥ ३ ॥*
त्रिलोचनं चतुर्बाहुं नीलग्रीवं परात्परम् । ध्यायेन्नित्यं सदा सोऽहमिति ब्रह्मविदां वर ॥ ४ ॥
अथवाऽऽकाशमध्यस्थे भ्राजमाने सुशोभने । आदित्यमण्डले पूर्णे लक्षयोजनविस्तृते ॥ ५ ॥
सर्वलोकविधातारमीश्वरं हेमरूपिणम् । हिरण्मयं श्मश्रुकेशं हिरण्मयनखं तथा ॥ ६ ॥
कप्यास्यासनवद्वक्त्रं[२] *नीलग्रीवं विलोहितम् । आगोपालप्रसिद्धं तमम्बिकार्धशरीरिणम् ॥ ७ ॥*
सोऽहमित्यनिशं ध्यायेत्संध्याकालेषु वा नरः । अथवा वैदिके शुद्धेऽप्यग्निहोत्रादिमध्यगे ॥ ८ ॥
आत्मानं जगदाधारमानन्दानुभवं सदा । गङ्गाधरं विरूपाक्षं विश्वरूपं वृषध्वजम् ॥ ९ ॥
चतुर्भुजं समासीनं चन्द्रमौलिं कपर्दिनम् । रुद्राक्षमालाभरणमुमायाः पतिमीश्वरम् ॥ १० ॥
गोक्षीरधवलाकारं गुह्याद् गुह्यतरं सदा । अत्यद्भुतमनिर्द्वंद्वमहंबुद्ध्या विचिन्तयेत् ॥ ११ ॥

चन्द्रमण्डलवदादित्यमण्डलमप्याकाशे ध्यात्वा तत्र स्वीकृतदिव्यावतारं परशिवमेवं ध्यायेदित्याह–**अथवाऽऽकाशेति** ॥ ५ ॥ **हेमरूपिणमिति** । उद्गीथविद्यायामादित्यस्थस्य पुरुषस्य कतिचिदिहोक्ता हेमरूपत्वादिगुणाः श्रूयन्ते–'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते । हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आ[३] प्रणखात्सर्व एव सुवर्णस्तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी' इति ॥ ६ ॥ **कप्यास्यासनवदिति** । कपीनां हि केषांचिदास्यमासनं च रक्तवर्णं तथा रक्तवर्णं मुखमित्यर्थः । **आगोपालमिति** । श्रूयते हि रुद्राध्याये–'उतैनं गोपा अदृशन्नदृशन्नुदहार्यः । उतैनं विश्वा भूतानि स दृष्टो मृडयाति नः' इति ॥ ७ ॥ उक्तलक्षणं परशिवमग्नौ वा स्वीकृतवक्ष्यमाणदिव्यावतारं ध्यायेदित्याह-**अथवा वैदिक** इति । परब्रह्म सगुणमग्नावुपास्यत्वेनोक्तं हि बालाकिनैव–'य एवायमग्नौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपासे' इति । उक्ताश्चन्द्रादित्याग्नयः शिवमूर्तित्वेनाऽऽगमेष्वपि प्रसिद्धाः–'क्ष्मावह्नियजमानार्कजलवातेन्दुखानि च । कीर्तिता मूर्तयो ह्यष्टौ' इति ॥ ८–११ ॥

वर प्रदान कर रहे हैं, जन्मादि विकार से शून्य हैं तथा सबसे परम हैं–इस तरह के महादेव को अपने से अभिन्न रूप से सोचना चाहिये–'ऐसे महादेव मैं हूँ' यों ध्यान करना चाहिये ॥ १–४ ॥ अथवा आकाश के मध्य चमकते हुए तथा एक लाख योजन विस्तार वाले सुशोभन पूर्ण आदित्यमण्डल में समस्त लोकों के विधाता ईश्वर का ध्यान करे । उनका ध्येयरूप सोने की तरह है । दाढ़ी बाल व नख–सभी स्वर्णमय हैं । उनका मुख वैसा गुलाबी है जैसे वानर का नितम्ब होता है । ग्रीवा के मध्य में नीलिमा है व चारों ओर लालिमा । गोपालकों पर्यंत सभी उनके रूप से परिचित हैं । ऐसे अर्धनारीश्वर महादेव का अपने से अभिन्न रूप से ध्यान करना चाहिये ॥ ५–७½ ॥ अथवा अग्निहोत्रादि की शुद्ध अग्नि के मध्य स्थित उमापति का ध्यान करे । वे चेतन हैं, जगत् के आधार हैं, आनन्द का सदा अनुभव कर रहे हैं, उनकी जटा में गंगा है, तीन आँखें हैं, चार भुजायें हैं, चन्द्र मुकुट है, उन्नत जटाये हैं, रुद्राक्ष मालाओं

---

१ विकाररूपस्थितिरहितमित्यर्थः । या हि जन्मानन्तरं स्थितिः सैव विकारः, नित्यस्थितिस्तु शिवरूपमेवेति । २ ङ. °वद्वक्त्रं नी° । ३ क. ग.. आ प्रनखा° । घ. आ नखा° ।

अथवाऽहं हरिः साक्षात्सर्वज्ञः पुरुषोत्तमः । सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥ १२ ॥

विश्वो नारायणो देवः अक्षरः परमः प्रभुः । इति ध्यात्वा पुनस्तस्य हृदयाम्भोजमध्यमे ॥ १३ ॥

प्राणायामैर्विकसिते परमेश्वरमन्दिरे । अष्टैश्वर्यदलोपेते विद्याकेसरसंयुते ॥ १४ ॥

ज्ञाननालमहत्कन्दे प्रणवेन प्रबोधिते । विश्वार्चिषं महावह्निं ज्वलन्तं विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

आदित्यमूर्तिवद्विष्णुमूर्तावपि परशिवस्य वक्ष्यमाणलीलावतारस्य स्वात्मतादात्म्येन ध्यानमाह–**अथवेति** । तत्र प्रथमतो विष्णुमूर्तेरपि स्वात्मतादात्म्यानुसंधानमाह–**अहं हरिरिति** । **सहस्रशीर्षा** ब्रह्मादिपिपीलिकान्तसर्वप्राणिषु वर्तमानानि सहस्राण्यनन्तानि शीर्षाणि शिरांसि यस्येति स तथोक्तः । **पुरुषः** पूर्णः । **सहस्राक्षः** सहस्राण्यनन्तानि प्रजासंबन्धीन्यक्षीणीन्द्रियाणीति सहस्राक्षः । एवं **सहस्रपादिति** ॥ १२ ॥ **विश्वो** विश्वत्वेन स्थितः । **नारायणः** 'नृ नये' पचाद्यच् । नरो नेता सर्वस्य स्वामी । तस्यापत्यानि नाराः सर्वे चेतना अचेतनाश्च । अपत्येऽण् । तेषामयनमधिष्ठानत्वेनाऽऽश्रयभूतं जलचन्द्राणां बिम्बचन्द्रवत्कलधौतादीनां शुक्तिकादिवदिति नारायणः 'पूर्वपदात्संज्ञायामि'ति णत्वम् । देवो देवनशीलः । **अक्षरो** न क्षरतीति सर्वमश्नुत इति[१] वाऽक्षरः । अशेः सरप्रत्ययेऽक्षरम् । **परमः** सर्वोत्कृष्टः । यद्वाऽक्षरः **परमः** परमाक्षरः परमव्यापको व्यापकानामपि व्यापकः । **प्रभुः** सर्वेषां प्रकर्षेण भरणक्षमः । तदात्मकस्य स्वात्मनो हृदयाम्भोजमध्ये "पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम्" इतिश्रुत्युक्ते ॥ १३ ॥ रेचकप्राणायामेन विकासीकृत्य, ऊर्ध्वमुखीकृतपरमेश्वरमन्दिरे । तत्र हि परमेश्वरो ध्यातव्यत्वेन वक्ष्यते । अणिमादीन्यष्टैश्वर्याणि[२] दलानि तैरुपेते तत्त्वविद्यारूपैः केसरैर्युते ॥ १४ ॥ शास्त्रविषयं ज्ञानं नालं यस्य तस्मिन्, महत्तत्त्वमेव कन्दो यस्य तस्मिन्, **प्रणवेन प्रबोधिते** प्रागुक्तविकासे प्रणवदिवाकरस्य कारणतोच्यते । उक्तहृदयकमलमध्यगतसुषुम्नायामन्तर्वक्ष्यमाणवह्निशिखायाः कारणभूतं मूलाधारस्थं वैश्वानरमाह–**विश्वार्चिषमिति** । विश्वार्चिषं सर्वतःप्रसरज्ज्वालम् । **विश्वतोमुखं** विश्वावकाशोदीर्णमुखसामर्थ्यम् ॥ १५ ॥

से सज्जित हैं, गाय के दूध के समान गौरवर्ण हैं । उनकी ध्वजा में वृषभ अंकित है । सारा संसार उन्हीं का रूप है । इस प्रकार सब द्वन्द्वों से रहित अद्भुत शान्तरूप से बैठे महादेव का अपने से अभिन्न रूप से –ऐसे महादेव मैं हूँ–ध्यान करना चाहिये ॥ ८–११ ॥ अथवा यों ध्यान करे–पहले विष्णुमूर्ति का अपने से अभिन्नरूप से ध्यान करे–'मैं हरि हूँ' । हरिरूप की इन विशेषताओं का चिन्तन करे–वे सर्वज्ञ हैं, सब पुरुषों में उत्तम हैं, संसार के समस्त सिर उन्हीं के होने से वे हजारों सिरों वाले हैं । पूर्ण हैं । हजारों ही उनकी आँखे व हजारों ही उनके चरण हैं । व्यापक हैं। सब जीवों के अधिष्ठान हैं । ज्ञानशील हैं । क्षरित होने वाले नहीं हैं । सब से उत्कृष्ट हैं । सबका भरण करते हैं । (क्योंकि स्वतादात्म्येन चिंतन विधित्सित है इसलिये–'ऐसे विष्णु मैं हूँ'–यह ध्यान का पर्यवसित रूप होगा ।) इस प्रकार के विष्णु से अभिन्नतया ध्यात अपने हृदयकमल के मध्य शिव का ध्यान करना है । पहले रेचक प्राणायाम द्वारा उस कमल का विकास करना चाहिये–खिले हुए कमल का ध्यान करना चाहिये । वही परमेश्वर का स्थान है । अणिमादि आठ ऐश्वर्यरूप उसकी पंखुड़ियाँ हैं । तत्त्वविद्या उसमें केसर है । शास्त्रविषयक ज्ञान उस कमल की नाल है । उसका कन्द (गाँठ) महत्तत्त्व है। प्रणवरूप सूर्य से यह विकसित हुआ है । ऐसे कमल के बीचों-बीच

---

१ क. ख. "ति चाक्ष" । २ घ. "न्यष्टावैश्व" ।

वैश्वानरं जगद्योनिं शिखातन्विनमीश्वरम् । तापयन्तं स्वकं देहमापादतलमस्तकम् ॥ १६ ॥
निर्वातदीपवत्तस्मिन्दीपितं हव्यवाहनम् । नीलतोयदमध्यस्थं विद्युल्लेखेव भास्वरम् ॥ १७ ॥
नीवारशुकवद्रूपं पीताभासं विचिन्तयेत् ।
तस्य वह्नेः[1] शिखायां तु मध्ये परमकारणम् ॥ १८ ॥
परमात्मानमानन्दं परमाकाशमीश्वरम् । ऋतं सत्यं परं ब्रह्म साम्बं संसारभेषजम् ॥ १९ ॥
ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं विश्वरूपं महेश्वरम् । नीलग्रीवं स्वमात्मानं पश्यन्तं पापनाशनम् ॥ २० ॥
ब्रह्मविष्णुमहेशानैर्ध्येयं ध्येयविवर्जितम् । सोऽहमित्यादरेणैव ध्यायेद्योगी महेश्वरम् ॥ २१ ॥
अयं मुक्ते[2]र्महामार्ग आगमान्तैकसंस्थितः । अथवाऽहं मुनिश्रेष्ठ ब्रह्मा लोकपितामहः ॥ २२ ॥

जगद्योनिम् । यद्धि जगदुपादानं परमात्मज्योतिस्तत्प्रतीकत्वेन तदात्मकमिदं मूलाधारस्थं ज्योतिस्तेन जगद्योनिरित्युच्यते । तत्प्रतीकत्वं च श्रूयते छान्दोग्ये–'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' इत्यारभ्य 'इदं वाव तद्यदिदमन्तः पुरुषे ज्योतिः' इति । शिखां तनोतीति **शिखातन्विनम्** । औणादिको विनिप्रत्ययः । **तापयन्तमिति** । श्रूयते च तैत्तिरीयोपनिषदि–'संतापयति स्वं देहमापादतलमस्तकम्' इति ॥ १६–१७ ॥ **तस्य वह्नेरिति** । श्रूयते च–'तस्याः शिखाया मध्ये तु परमात्मा व्यवस्थितः' इति ॥ १८–२० ॥ स्वयं ब्रह्मादिभिर्ध्येयं स्वात्मना ध्यातव्येनान्येन वर्जितम् ॥ २१ ॥ ध्यानस्य मोक्षहेतुत्वे श्रुतिः प्रमाणमित्याह–**आगमान्तेति** । 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्' इति श्रूयते । विष्णुमूर्तिरिव स्वयं ब्रह्ममूर्तिर्भूत्वा स्वहृदये शिवं ध्यायेदित्याह–**अथवाऽहमिति** ॥ २२–२३ ॥

एक महान् वह्नि का ध्यान करे । उस वह्नि से सब ओर लपटें निकल रही हैं । अतः वह सब ओर फैलने में समर्थ है । वही वैश्वानराग्नि है (जठराग्नि है) । जगत् के कारणभूत परमात्मा का प्रतीक होने से यह भी जगत्कारण कही जाती है । लौ निकालने वाली होने से यही 'शिखातन्वी' है । ईश्वरोपलब्धि का स्थान होने से यही ईश्वर है । यह अपने पूरे शरीर को तपा रही है । जहाँ हवा बह न रही हो ऐसी जगह रखे दिये की तरह निश्चल भाव से कमलस्थित यह प्रदीप्त अग्नि जल रही है। नीले बादल में जैसे बिजली चमकती है वैसी इसकी चमक है । नीवारशुक की तरह (एक प्रकार का धान नीवार कहा जाता है) उसका रूप और पीत वर्ण है । उस वह्नि की ज्वाला के बीच महेश्वर का ध्यान करे । वे महेश्वर परम कारण हैं । वे ही परमात्मा हैं, परमानंद हैं, परमाकाश हैं (परम व्यापक तथा प्रकाशशील हैं), ईश्वर हैं, ऋत (नियम) हैं, सत्य हैं, परब्रह्म हैं, अम्बा समेत हैं, संसाररोग की औषध हैं, किसी को उत्पन्न नहीं करते हैं, त्रिनेत्र हैं, सर्वरूप हैं, महान् शासक हैं, नीलकण्ठ हैं, मानो अपने आपको

---

१ ग. °वह्निशि° । २ घ. °र्महाभाग आ° ।

इति स्मृत्वा स्वहृन्मध्ये शिवं परमकारणम् । साक्षाद्वेदान्तसंवेद्यं साम्बं संसारभेषजम् ॥ २३ ॥
अहंबुद्ध्या विमुक्त्यर्थं ध्यायेदीशानमव्ययम् । अथवा सत्यमीशानं ज्ञानमानन्दमद्वयम् ॥ २४ ॥
अनन्तममलं नित्यमादिमध्यान्तवर्जितम् । तथाऽस्थूलमनाकाशमसंस्पृश्यमचक्षुषम् ॥ २५ ॥
न रसं न च गन्धाख्यमप्रमेयमनूपमम् । सर्वाधारं जगद्रूपममूर्तं मूर्तमव्ययम् ॥ २६ ॥
अदृश्यं दृश्यमन्तस्थं बहिष्ठं सर्वतोमुखम् । सर्वतः पाणिपादं च सर्वकारणकारणम् ॥ २७ ॥
सर्वज्ञानादिसंयुक्तमहमित्येव चिन्तयेत् । अयं पन्था मुनिश्रेष्ठ साक्षात्संसारनाशने ॥ २८ ॥

सर्वाधारत्वजगत्कारणत्वादिविशिष्टवाचकस्य स इति पदस्य बुद्ध्यादिविशिष्टप्रत्यक्चैतन्यवाचकस्याहंपदस्य च सामानाधिकरण्ये सत्यखण्डैकरसे लक्ष्ये यत्र वाक्यार्थे पर्यवसानमतः सोऽहमिति महावाक्येनानुसंदध्यादिति । निष्कलविषयं ध्यानमाह– **अथवा सत्यमिति** ॥ २४ ॥ २५ ॥ तत्राहंपदवाच्यस्य बुद्ध्यादिविशिष्टप्रत्यक्चैतन्यस्य सकललोकप्रत्यक्षत्वेऽपि स इत्येतत्पदवाच्यस्य परोक्षत्वेनाप्रसिद्धत्वात्**सर्वाधार**मित्यादिना पदजातेन तन्निर्देशः । ततः प्राक्तनेन च **सत्य**मित्यादिना लक्ष्यस्याखण्डैकरसप्रदर्शनं, **सोऽहमिति** च लक्षणाबीजस्य सामानाधिकरण्यनिर्देश इति विभागः । तत्रा**द्वयमस्थूलमनाकाश**मित्यादयो द्वैतादिनिषेधमुखेन लक्ष्ये पर्यवस्यन्ति । सत्यादयस्तु स्वार्थार्पणप्रणाड्येति विशेषः । तदुक्तमाचार्यैः–'तत्रानन्तोऽन्तवद्वस्तुव्यावृत्त्यैव विशेषणम् । स्वार्थार्पणप्रणाड्या तु परिशिष्टे[1] विशेषणम्' इति । वाजसनेयश्रुतिरप्येतद्व्यावृत्तिमुखेनैवैतदेव लक्ष्यं निर्दिशति 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमस्पर्शमगन्धमरसमचक्षुष्कमश्रोत्रम्' इत्यादि । प्रकृत्याऽ**मूर्त**मपि मायया **मूर्तम्** ॥ २६ ॥ एवमदृश्यं; **दृश्यमव्ययं** तत्त्वावबोधपर्यन्तमनिवृत्तोपाधिकम् । **अन्तस्थमिति** । 'अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः' इति हि श्रुतिः ॥ २७–२८ ॥

देख रहे हैं, पापनाशक हैं, ब्रह्मा-विष्णु-महेश के ध्येय हैं, स्वयं उनका और कोई ध्येय नहीं । ऐसे महेश्वर का अपने से अभिन्न रूप से ध्यान करना चाहिये । यह ध्यान मोक्षप्राप्ति के लिये उत्तम मार्ग है ॥ १२–२१½ ॥ अथवा यों ध्यान करना चाहिये कि मैं सर्वलोक-जनक ब्रह्मा हूँ । फिर अपने हृदय में परम-कारण शिव का ध्यान करे । वे शिव वेदान्तों से जाने जा सकते हैं । माता पार्वती से युक्त हैं, संसाररोग की भेषज हैं । ऐसे अव्यय ईशान का अपने से अभिन्न रूप से ध्यान करे ॥ २२–२३½ ॥ अथवा (निष्कल तत्त्व का) यों ध्यान करे : ईशान शिव मैं हूँ–ऐसा चिन्तन करना चाहिये । ईशान की ये विशेषतायें हैं– वे त्रिकालाबाध्य हैं, ज्ञानरूप व आनंदरूप हैं, उनसे दूसरा कुछ नहीं है । वे निःसीम हैं, निर्मल हैं, जन्मादि नाशान्त विकारों से वर्जित हैं, स्थूल नहीं हैं, आकाश से भी सूक्ष्म हैं, संसर्ग के अयोग्य हैं । वे न चक्षु हैं न रस हैं और न गन्ध नामक गुण ही हैं । सर्वप्रमेयविलक्षण हैं, अपने लिये दी जाने वाली उपमाओं के अनुरूप हैं, सब के आधार हैं, जगत् उन्हीं का रूप है, स्वयं वे अमूर्तिमान् हैं किन्तु अपने वशीभूत मायाबल से मूर्तिमान् भी हैं, अव्यय हैं, दृष्टि की विषयता से रहित हैं पर वृत्ति से व्याप्त होते हैं, अन्दर बाहर सर्वत्र हैं, सभी ओर उन्हीं के मुँह, हाथ व पैर हैं, सबके कारणभूत आकाशान्त तत्त्वों के भी वे कारण हैं तथा समस्त विषयों के ज्ञान, नियंत्रण आदि करने वाले हैं। ऐसे 'ईशान मैं हूँ'–इस

अथवा सच्चिदानन्दमनन्तं ब्रह्म सुव्रत । अहमस्मीत्यभिध्यायेद्ध्येयातीतं विमुक्तये ॥ २९ ॥
इदंतया न देवेशमभिध्यायेन्मनागपि । ब्रह्मणः साक्षिरूपत्वान्नेदं यदिति हि श्रुतिः ॥ ३० ॥
एवं ध्यानपरः साक्षाच्छिव एव न चान्यथा ।
अनेन सदृशो लोके न हि वेदविदां वर ॥ ३१ ॥
प्रक्षीणाशेषपापस्य ज्ञाने ध्याने भवेन्मतिः । पापोपहतबुद्धीनां तद्वार्ताऽपि सुदुर्लभा ॥ ३२ ॥
अथवा विष्णुमव्यक्तमाधारं देवनायकम् । शङ्खचक्रधरं देवं पद्महस्तं सुलोचनम् ॥ ३३ ॥
किरीटकेयूरधरं पीताम्बरधरं हरिम् । श्रीवत्सवक्षसं विष्णुं पूर्णचन्द्रनिभाननम् ॥ ३४ ॥
पद्मपुष्पदलाभोष्ठं सुप्रसन्नं शुचिस्मितम् । शुद्धस्फटिकसंकाशमहमित्येव चिन्तयेत् ॥ ३५ ॥
एतच्च दुर्लभं प्रोक्तं योगशास्त्रविशारदैः । अथवा देवदेवेशं ब्रह्माणं परमेष्ठिनम् ॥ ३६ ॥
अक्षमालाधरं देवं कमण्डलुकराम्बुजम् । वरदाभयहस्तं च वाग्देव्या सहितं सदा ॥ ३७ ॥
कुन्देन्दुसदृशाकारमहमित्येव चिन्तयेत् ।
अथवाऽग्निं तथाऽऽदित्यं चन्द्रं वा देवतान्तरम् ॥ ३८ ॥

उक्ते वाच्यार्थपूर्वकलक्ष्यानुसंधानेक्षणे सति वाच्यानुसंधानमपि त्यक्त्वा लक्ष्य एवार्थोऽनुसंधेय इत्याह–**अथवा सच्चिदिति** । सच्चिदानन्दादयः शब्दा लक्षणयाऽखण्डैकरसमेव स्वरूपं [1]समर्थयन्ति ॥ २९ ॥ [2]प्रत्यक्तादात्म्येनैवानुसंधाननियमे कारणमाह–**इदंतयेति** । **नेदं यदिति हि श्रुतिरिति** । 'यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि [3]पश्यति । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥' इति तलवकारोपनिषत्पराक्त्वेन ब्रह्मणोऽनुसंधानं प्रत्याचष्ट इत्यर्थः ॥ ३०–३२ ॥ सकलनिष्कलात्मकस्य शिवस्य तादात्म्यानुध्यानान्युक्त्वा[4] विष्ण्वादीनामपि सकलध्यानान्याह–**अथवा विष्णुमित्यादि** । निष्कलं तु विशेषाभावात्तदेव भविष्यतीति न पृथगुक्तम् ॥ ३३–३८ ॥

प्रकार ध्यान करे । संसारबंधन की निवृत्ति का यह उपाय है ॥ २४–२८ ॥ अथवा 'ध्येय से अतीत सच्चिदानन्द अनन्त ब्रह्म मैं हूँ' ऐसा ध्यान करना चाहिये । यह मोक्षफलक ध्यान है । परमेश्वर का 'मैं' इस तरह ही ध्यान करना चाहिये, 'यह' इस तरह अपने से भिन्न रूप से नहीं क्योंकि परमशिव ही साक्षी होने से प्रत्यक्तम हैं । श्रुति ने भी बताया है कि 'यह' इस रूप से जिसकी उपासना की जाती है वह ब्रह्म नहीं । यों आत्मरूप से ध्यान करने वाला साक्षात् शिव ही है । इसके तुल्य संसार में कोई नहीं । ज्ञान व ध्यान में उन्हीं का मन लगता है जिनके पाप क्षीण हो चुके हैं । जिनके मन मलिन हैं उन्हें इनकी बात भी रुचती नहीं ॥ २९–३२ ॥ अथवा 'विष्णु मैं हूँ' ऐसा ध्यान करे । विष्णु अव्यक्त हैं, सर्वाधार हैं, देवनेता हैं, हाथों में शंख, चक्र व पद्म लिये हैं, द्युति वाले हैं, सुंदर नेत्रों वाले हैं, मुकुट व बाजूबन्ध से अलंकृत हैं, पीताम्बर धारण किये हैं, पापहर्ता हैं, उनके सीने पर घुँघराले रोम हैं, वे व्यापक हैं, पूर्ण चन्द्र की तरह आह्लाददायक मुख वाले हैं, पद्म की पंखुड़ियों की तरह गुलाबी ओष्ठ वाले हैं, सुप्रसन्न हैं, शुद्ध मुस्कान वाले हैं, तथा शुद्ध स्फटिक की तरह चमकदार हैं । यह एक दुर्लभ ध्यान है ॥ ३३–३५½ ॥ अथवा 'ब्रह्मा मैं हूँ' ऐसा ध्यान करे । ब्रह्मा सब देवताओं का नियमन करने वाले हैं, परमतम

१. ख. घ. समर्पयन्ति । २. ङ. प्रत्यगात्म्ये° । ३. क. पश्यन्ति । ४. °नुसंधाना° ।

वेदोक्तेनैव मार्गेण सदाऽहमिति चिन्तयेत् । एवमभ्यासयुक्तस्य पुरुषस्य महात्मनः ॥ ३९ ॥
क्रमाद्वेदान्तविज्ञानं विजायेत न संशयः । ज्ञानादज्ञानविच्छित्तिः सैव तस्य [1]विमुक्तता ॥ ४० ॥
सर्वमुक्तं समासेन मया वेदान्तसंग्रहम् । मत्प्रसादाद्विजानीहि मा शङ्किष्ठाः कदाचन ॥ ४१ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे ध्यानविधिनिरूपणं नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

विंशोऽध्यायः

ईश्वर उवाच—अथातः संप्रवक्ष्यामि समाधिं[2] भवनाशनम् ।
समाधिः संविदुत्पत्तिः परजीवैक्यतामतिः[3] ॥ १ ॥
यदि जीवः पराद्भिन्नः कार्यतामेति सुव्रत । अचित्त्वं च प्रसज्येत घटवत्पण्डितोत्तम ॥ २ ॥
विनाशित्वं भयं च स्याद् द्वितीयाद्वा इति श्रुतिः ।
नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः ॥ ३ ॥

अत्र सगुणध्यानानि चित्तैकाग्र्यद्वारा पापक्षयद्वारा या निष्कलसाक्षात्कारे कारणम् । निष्कलं ध्यानं त्वव्यवधानेनेत्याह—**एवमभ्यासेति** ॥ ३९–४१ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्डे ध्यानविधिनिरूपणं नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

यतः साधनभूतध्यानस्वरूपज्ञानायत्ता[4] तत्फलसंविदः समाधिपर्यायाया उत्पत्तिः अतस्तदनन्तरं तदभिधानमिति प्रतिजानीते—**अथात इति** । महावाक्यलक्ष्यस्वरूपसाक्षात्कार एव समाधिरिह विवक्षित इत्यर्थः ॥ १ ॥ ध्यानफलभूततत्त्वविमर्श-स्वरूपफलमाह—**यदि जीव इति** । 'कस्माद्ध्यभेष्यद् द्वितीयाद्वै भयं भवति' इति वाजसनेयश्रुतिरित्यर्थः ॥ २–३ ॥

(सबसे परम) हैं, रुद्राक्ष माला पहने हैं, हाथ में कमण्डलु लिये हैं, उनके हाथ वरद और अभय मुद्रा में हैं, वाग्देवी समेत हैं, कुन्द (मोतिया पुष्प) या चन्द्र के समान शुभ्र हैं । इस प्रकार के ब्रह्मा मैं हूँ ऐसा चिंतन करना चाहिये ॥ ३६–३७½ ॥

अथवा वेदोक्त विशेषताओं वाले अग्नि, सूर्य, चन्द्र या किसी देवता का आत्मरूप से ध्यान करना चाहिये ॥ ३८½ ॥ यों अभ्यास करते रहने वाले महात्मा को क्रमशः वेदान्त का बोध—अपनी ब्रह्मरूपता का निश्चय—हो जाता है इसमें संदेह नहीं । ज्ञान से अज्ञान विनष्ट होता है। अज्ञाननाश ही उस साधक का मोक्ष होना है ॥ ३९–४० ॥ ध्यानविषयक सारी जानकारी संक्षेप में दे दी । मेरी कृपा से इसे तुम समझ लोगे । इस विषय में शंकायें न करना ॥ ४१ ॥

समाधिनिरूपण नामक बीसवा अध्याय

भगवान् बोले—अब मैं भवबंध-निवारक समाधि बताता हूँ । परमेश्वर और जीव के ऐक्य के ज्ञान की उत्पत्ति का नाम समाधि है ॥ १ ॥ यदि जीव परमेश्वर से भिन्न हो तो कार्य (जन्य) तथा घट की तरह जड होगा । साथ ही वह विनाशवान् और सदा भयग्रस्त होगा (अर्थात् मोक्ष असंभव होगा) । किन्तु ये सब जीव के स्वरूप हैं नहीं अतः वह परमेश्वर से भिन्न नहीं है ॥ २½ ॥ एकमात्र नित्य, व्यापक, कूटस्थ आत्मा समस्त दोषरहित रहता हुआ ही अज्ञानवश हुए भ्रम से जीवादिरूप से बँट जाता है । वस्तुतः भेद है नहीं । सत्य अद्वैत ही है । न यह प्रपंच है और न संसरण ॥ ३–४ ॥ जैसे अखण्ड

---

१. ङ. विविक्तता । २. अत्र कैवल्यपादोक्तः क्लेशकर्मनिवर्तकः समाधिर्विवक्षितः । सूत्रं तु 'प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेः धर्ममेघः समाधि' रिति । विभूतिपादोक्तोप्यस्यैवोपायः । तस्य लक्षणम् 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि' रिति । तदेवेति ध्यानमेव । यदा ध्याने नान्यद्भासतेऽर्थएव भासते तदा ध्यानस्य यत् त्रिपुटीघटितं स्वरूपं तदविद्यमान-सममास्ते, सावस्था समाधिरिति सूत्रार्थः । ३. क. ख. °वैकता° । ४. ङ. °य तत्फ° ।

एकः स भिद्यते भ्रान्त्या मायया न स्वरूपतः ।
तस्मादद्वैतमेवास्ति न प्रपञ्चो न संसृतिः ॥ ४ ॥
यथाऽऽकाशो घटाकाशो महाकाश इतीरितः ।
तथा भ्रान्तैर्द्विधा प्रोक्तो ह्यात्मा जीवेश्वरात्मना ॥ ५ ॥
नाहं देहो न च प्राणो नेन्द्रियाणि तथैव च ॥
न मानोऽहं[1] न बुद्धिश्च नैव चित्तमहंकृतिः ॥ ६ ॥
नाहं पृथ्वी न सलिलं न च वह्निर्न चानिलः ।
न चाऽऽकाशो न शब्दश्च न च स्पर्शस्तथा रसः ॥ ७ ॥
नाहं गन्धो न रूपं च न मायाऽहं न संसृतिः ।
सदा साक्षिस्वरूपत्वाच्छिव एवास्मि केवलः ॥ ८ ॥
इति धीर्या मुनिश्रेष्ठ सा समाधिरिहोच्यते । अथवा पञ्चभूतेभ्यो जातमण्डं महामुने ॥ ९ ॥
भूतमात्रतया दग्ध्वा विवेकेनैव वह्निना । पुनः स्थूलादिभूतानि सूक्ष्मभूतात्मना तथा ॥ १० ॥

स भिद्यत इति । **मायया**ऽज्ञानेन जनिता या भ्रान्तिर्विपरीतज्ञानं तया भेदो गृह्यते । प्रमेयभेदग्रहणस्य 'नेह नानाऽस्ति' इति श्रुतिबाधितत्वेन भ्रान्तित्वादित्यर्थः ॥ ४ ॥ ५ ॥ अविद्ययाऽऽत्मतादात्म्येनाध्यस्तस्य[2] देहेन्द्रियमनःप्राणादेर्विमर्शजनितेन विवेकज्ञानेन निरासमभिनयेन[3] दर्शयति–**नाहं देह** इति ॥ ६ ॥ यथा भूतकार्यस्य देहादेर्विवेक एवं तत्कारणस्य पृथिव्यादिभूतजातस्य चेत्याह–**नाहं पृथ्वीति** ॥ ७–८ ॥ सकारणाद्भूतभौतिकप्रपञ्चादात्मानं बुद्ध्यैव विविच्य विविक्ते तस्मिन्समाधिरुक्तः। अधुना तं प्रपञ्चं बुद्ध्यैव प्रविलाप्य परिशिष्टे तस्मिन्नद्वितीये समाधिमाह–**अथवा पञ्चेति** । 'तदनन्यत्वमारम्भण-शब्दादिभ्यः' इति न्यायेन भौतिकं ब्रह्माण्डं पञ्चीकृतभूतात्मना तानि च भूतान्यपञ्चीकृतभूतात्मना ॥ ९–१० ॥

आकाश में महाकाश और घटाकाश की कल्पना हो जाती है वैसे भ्रान्ति वालों द्वारा जीव और ईश्वर विभिन्न समझे जाते हैं ॥ ५ ॥ मैं–आत्मा–देह, प्राण, इंद्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार नहीं हूँ । ऐसे ही इनके कारणभूत पाँचों महाभूत व उनके गुण मैं नहीं हूँ । न मैं माया हूँ न संसरण । सदा साक्षात् द्रष्टा होने से केवल शिव ही हूँ ॥ ६–८ ॥ यह निश्चय समाधि है ।

अथवा विवेकात्मक विचार से पांचभौतिक इस अपने शरीर को तथा समस्त ब्रह्माण्ड को पंचभूतरूप ही समझना चाहिये क्योंकि कारण से कार्य अनन्य ही होता है । जैसे मिट्टी से भिन्न घट कोई वस्तु नहीं–केवल नाम और रूप ही हैं, ऐसे पाँच भूतों से अतिरिक्त ब्रह्माण्ड या पिण्ड कोई वस्तु नहीं, यह निश्चय करना चाहिये । आगे स्थूल भूत भी सूक्ष्मभूतरूप ही हैं । वे भी स्वकारण मायामात्र हैं । माया भी स्वाधिष्ठान प्रत्यगात्मा से अतिरिक्त नहीं । वह प्रत्यगात्मा ब्रह्म मैं हूँ । संसारी नहीं हूँ । मुझसे अन्य कभी कुछ नहीं है । यों अपने वास्तविक स्वरूप का निश्चय

---

१. मन्यतेऽनेनेति घञि मानो मनएवोच्यते । २. घ. ङ. °स्तदे° । ३. घ. °नयत्वेन ।

विलाप्यैवं विवेकेन ततस्तान्यपि बुद्धिमान् ।

मायामात्रतया दग्ध्वा मायां च प्रत्यगात्मना ॥ ११ ॥

सोऽहं ब्रह्म न संसारी न मत्तोऽन्यत्कदाचन ।

इति विद्यात्स्वमात्मानं स समाधिः प्रकीर्तितः ॥ १२ ॥

अथवा योगिनां श्रेष्ठ प्रणवात्मानमीश्वरम् । वर्णत्रयात्मना विद्यादकारादिक्रमेण तु ॥ १३ ॥

ऋग्वेदोऽयमकाराख्य उकारो यजुरुच्यते[1] ।

मकारः सामवेदाख्यो नादस्त्वाथर्वणी श्रुतिः ॥ १४ ॥

अकारो भगवान्ब्रह्मा तथोकारो हरिः स्वयम् ।

मकारो भगवान्रुद्रस्तथा नादस्तु कारणम् ॥ १५ ॥

तान्यपीति[2] । 'पर्यायेणानुक्रमोऽत उपपद्यते च' इति न्यायेन पृथिव्यादिक्रमेण मायायां, तामप्यात्मनि बुद्ध्यैव प्रविलाप्य परिशिष्टेऽद्वितीये केवलमात्मनि स्वात्मतादात्म्येनानुसंधानं समाधिरित्यर्थः ॥ ११ ॥ १२ ॥ वाच्यवाचकप्रपञ्चस्य[3] ब्रह्मणि परिकल्पितत्वात्[4] प्रणववाच्यस्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चस्य सकारणस्योपसंहारद्वारा निष्कलब्रह्मणि समाधिमभिधाय, वाचक-प्रणवावयवानामकारोकारमकारार्धमात्रारूपाणां सकारणानां प्रविलापनं ब्रह्मणि समाधिमिदानीमाह—**अथवा योगिनामिति** । 'प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परं स्मृतम् । एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम्' इति ह्युक्तम् ॥ १३ ॥ अकारोकारमकारनादानां वेदचतुष्टयात्मकत्वमाह—**ऋग्वेद** इति ॥ १४ ॥ तेषामेव ब्रह्मविष्णुरुद्रतत्कारणात्मकतामाह—**अकार** इति ॥ १५ ॥

रूप समाधि करनी चाहिये ॥ ९–१२ ॥

अथवा ॐकार के सहारे सारे भेद निवृत्त कर आत्मस्थिति रूप समाधि करे । ईश्वरप्रतीक प्रणव को अकारादि क्रम से तीन वर्णों में (तथा नाद में) बँटा जान लो । प्रपंच इन अक्षरों में व नाद में सिमट जाता है । ऋग्वेद, ब्रह्मा, गार्हपत्याग्नि, पृथ्वी, जाग्रदवस्था, नाभिदेश, उदात्तस्वर और भूत काल—ये सब अकार हैं । यजुर्वेद, हरि, दक्षिणाग्नि, अंतरिक्षलोक, स्वप्नावस्था, हृदयदेश, अनुदात्त स्वर और भविष्य काल—ये सब उकार हैं । सामवेद, रुद्र, आहवनीयाग्नि, द्युलोक, सुषुप्ति अवस्था, कण्ठदेश, स्वरित स्वर और वर्तमान काल—ये सब मकार हैं । अथर्ववेद, कारण ब्रह्म, संवर्तकाग्नि (प्रलयाग्नि), सोमलोक, तुरीय अवस्था, मूर्धा देश, सर्वसाधारण स्वर और साधारण काल—ये सब नाद हैं । यह समझ कर सारे संसार को इन अक्षरों से अभिन्न जानना चाहिये । तदनंतर स्वभिन्न प्रपंचरूप द्वन्द्व से रहित अकार को उकार से अभिन्न जाने । उकार को मकार से और मकार को महान् नाद से अभिन्न जाने । नाद को माया से अभिन्न और माया को जीवरूप समझना चाहिये । जीव को ईश्वर ही जानना चाहिये—जो ईश्वर है वह मैं ही हूँ । यह निश्चय विद्वानों द्वारा समाधि कहा गया है ॥ १३–१९ ॥

---

१ ङ. °जुरेव च । म° । २ ग. घ. °ति । विपर्ययेण तु क्रा । ङ. °ति । विपर्ययेणानुक्रमो नोप° । ब्रह्मसूत्रेषु तु 'विपर्ययेण तु क्रमोत उपपद्यते च' (२.३.१४) इत्युपलभ्यते । ३ क. ख. घ. °च्यप्र° । ४ घ. °त्वात्प्राणवा° ।

अग्नयश्च तथा लोका अवस्थावसथास्त्रयः ।
उदात्तादिस्वराः कालाश्चैते वर्णत्रयात्मकाः ॥ १६ ॥
इति ज्ञात्वा पुनः [1]सर्वमक्षरत्रयमात्रतः । विलाप्याकारमद्वंद्वमुकाराख्ये विलापयेत् ॥ १७ ॥
उकारं च मकाराख्ये महानादे मकारकम् ।
तथा मायात्मना नादं मायां जीवात्मरूपतः ॥ १८ ॥
जीवमीश्वरभावेन विद्यात्सोऽहमिति ध्रुवम् ।
एषा बुद्धिश्च विद्वद्भिः समाधिरिति कीर्तिता ॥ १९॥
यथा फेनतरङ्गादि समुद्रादुत्थितं पुनः । समुद्रे लीयते तद्वज्जगन्मय्येव लीयते ॥ २० ॥
तस्मान्मत्तः पृथङ्नास्ति जगन्माया च सर्वदा ।
इति बुद्धिः समाधिः स्यात्समाधिरिति हि श्रुतिः ॥ २१ ॥
यस्यैवं परमात्माऽयं प्रत्यग्भूतः प्रकाशितः ।
स याति परमं भावं स्वकं साक्षात्परामृतम् ॥ २२ ॥

तेषामेव गार्हपत्यदक्षिणाहवनीयसंवर्तकाग्निरू[2]पात्मकतामाह–**अग्नय** इति । **लोका** इति तु पृथिव्यन्तरिक्षद्युसोमलोकात्मकतां दर्शयति । **अवस्था** इति जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ततुरीयात्मकतामाह । **आवसथा** इति नाभिहृदयकण्ठमूर्धात्मकतामाह । **त्रय** इति संवर्तकादीनां चतुर्थानामप्युपलक्षणम् । **उदात्तादी**ति, उदात्तानुदात्तस्वरितैकश्रुत्यात्मकतामाह । **काला** इति भूतभविष्यद्वर्तमानसाधारणकालतामाह । **वर्णत्रये**ति नादस्याप्युपलक्षणम् । ऋग्वेदाद्यात्मकता चाकारादीनां श्रूयते–'तस्य ह वै प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा पृथिव्यकारः स ऋग्भिर्ऋग्वेदो ब्रह्मा वसवो गायत्री गार्हपत्यः । द्वितीयाऽन्तरिक्षं स उकारः स यजुर्भिर्यजुर्वेदो विष्णू रुद्रास्त्रिष्टुब्दक्षिणाग्निः । तृतीया द्यौः स मकारः स सामभिः सामवेदो रुद्र आदित्या जगत्याहवनीयो याऽवसानेऽस्य चतुर्थ्यर्धमात्रा सा सौमलोक ॐकारः साऽऽथर्वणैर्मन्त्रैरथर्ववेदः संवर्तकोऽग्निर्मरुतो विराडेकऋषिः' इति । तथा–'जागरिते ब्रह्मा स्वप्ने विष्णुः सुषुप्तौ रुद्रस्तुरीयमक्षरम्' इति च । तथाऽन्यत्र–'नाभिर्हृदयं कण्ठो मूर्धा चे'ति ॥ १६ ॥ उक्तरूपोपेतमकारं तथाविध उकारे तं च तथाविधे मकारे तं नादे तं मायायां तां च तदुपाधिके जीवे तं च परमात्मनैकीकृत्य तद्रूपेणावतिष्ठत इत्यर्थः ॥ १७–२० ॥ **इति हि श्रुतिरि**ति । 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इति हि श्रूयते ॥ २१ ॥ उक्तसमाधिनिष्ठस्य फलमाह–**यस्यैव**मिति । **परमं भावमि**त्येतद् गतखण्डतृतीयाध्याये[3]निरूपितम् ॥ २२ ॥

जैसे फेन, तरंग आदि समुद्र से उठते और उसी में लीन हो जाते हैं (क्योंकि समुद्र से भिन्न वे कुछ नहीं है) ऐसे सारा जगत् मुझमें ही उठा है और मुझमें ही लीन हो रहा है, अतः जगत् व माया मुझसे पृथक् नहीं है । यह निश्चय ही वेदोक्त समाधि है ॥ २०–२१ ॥ प्रत्यगात्मरूप परमात्मा को जिसने इस तरह समझ लिया वह अपने परम भाव अर्थात् मुक्तस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है । ॥ २२ ॥ जब मन में व्यापक अखण्ड चैतन्य का सर्वदा भान होता है तब व्यवधायक अज्ञान न रहने

१. वाच्यस्य वाचकाभेदो यथा वनादिशब्दभिन्नो वनादिपदार्थो नास्ति वृक्षाणामेव तत्त्वात् तथा च संसारः शब्द एव सर्वश्च शब्दः प्रणव एव स्थूलादित्रितयस्याकारादिवाच्यत्वात् प्रणवः पुनरात्मैव तमन्तरा सत्त्वशून्यत्वाद् इत्यादिविचारप्रकारो माण्डूक्यविवरणादौ दर्शितः । पञ्चीकरण-प्रकरणमत्र महदुपयोगीति प्रसिद्धमेव । २. क. °रूपक° । ३ द्वादशश्लोकव्याख्याने ! स्वाभिन्ने मुक्तस्वरूपे प्रतिष्ठत् इति सारार्थः ।

यदा मनसि चैतन्यं भाति सर्वत्रगं सदा । योगिनोऽव्यवधानेन तदा संपद्यते स्वयम् ॥ २३ ॥

यदा सर्वाणि भूतानि स्वात्मन्येवाभिपश्यति ।
सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ २४ ॥
यदा सर्वाणि भूतानि समाधिस्थो न पश्यति ।
एकीभूतः परेणासौ तदा भवति केवलः ॥ २५ ॥
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः ।
तदाऽसावमृतीभूतः[१] क्षेमं गच्छति पण्डितः ॥ २६ ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति । तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ २७ ॥

यदा पश्यति चाऽऽत्मानं केवलं परमार्थतः ।
मायामात्रं जगत्कृत्स्नं तदा भवति [२]निर्वृतः ॥ २८ ॥

यदा जन्मजरादुःखव्याधीनामेकभेषजम् । केवलं ब्रह्मविज्ञानं जायते[३]ऽसौ तदा शिवः ॥ २९ ॥

योगिन इति । व्यवधायकस्याज्ञानस्य निरासात्स्वयं ब्रह्म संपद्यत इत्यर्थः । ॥ २३–२५ ॥ **यदा सर्व** इति । तज्ज्ञानेनाज्ञाननिरासात्तत्कार्यनिवृत्तौ 'योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव सम[४]वनीयन्ते' 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' इति श्रुत्युक्तं ब्रह्म संपद्यत इत्यर्थः ॥ २६ ॥ **यदा भूतेति** । भूतानां पृथिव्यादीनां यः पृथग्भावो भेदः स सर्व एकस्मिन्नेव ब्रह्मणि प्रलयदशायां तादात्म्येन [५]स्थित्वा पुनः सृष्टौ **तत एव विस्तारं** प्रतिपद्यत इति यः पश्यति स **ब्रह्म संपद्यत** इत्यर्थः । श्रुतिपुराणयोरयं समानः पाठः ॥ २७ ॥

से योगी स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है ॥ २३ ॥ जब सबको स्वयं में व स्वयं को सबमें देखता है तब साधक ब्रह्म हो जाता है ॥ २४ ॥ परमात्मा से एक हुआ योगी जब समाधि में स्थित हो कोई भेद नहीं देखता तब वह केवल ब्रह्मरूप से रहता है ॥ २५ ॥ जब साधक की मनःस्थित सभी कामनायें निवृत्त हो जाती हैं तब यह अमृत हुआ मोक्ष प्राप्त करता है ॥ २६ ॥ जो यह जानता है कि पृथिवी आदि भूतों का भेद प्रलय में एकमात्र परमात्मा में ही रहता है व सृष्टिकाल में उसी से पुनः फैल जाता है, वह ब्रह्म हो जाता है ॥ २७ ॥ जब केवल अपने को वास्तविक तथा सारे जगत् को मायामात्र जानता है तब साधक मुक्त हो जाता है ॥ २८ ॥ जब जन्म, जरा, दुःख व सब व्याधियों की अकेली दवा रूप निर्विशेष आत्मज्ञान हो जाता है तब वह साधक शिव ही है । (सदा शिव होते हुए भी ज्ञान न होने से स्वयं को अशिव समझता है, वह ग़ैरसमझी ज्ञान से दूर हो जाती है । ज्ञान के बिना अशिव और ग़ैरसमझ वाला है, ज्ञान के बाद केवल शिव रहता है यह भेद है ।) ॥ २९ ॥ इसलिये ज्ञान से ही

---

१ क. ख. ग. °तीभावः क्षे° । २ व. निर्वृतिः । ३ °तेऽसै त° । ४ क. ख. ध. वलीं । ५ ग. ङ. स्थितः ।

तस्माद्विज्ञानतो मुक्तिर्नान्यथा कर्मकोटिभिः ।
कर्मसाध्यस्य नित्यत्वं न सिध्यति कदाचन ॥ ३० ॥
ज्ञानं वेदान्तविज्ञानमज्ञानमितरन्मुने । अहो ज्ञानस्य माहात्म्यं मया वक्तुं न शक्यते ॥ ३१ ॥
अत्यल्पोऽपि यथा वह्निः सुमहन्नाशयेत्तमः ।
ज्ञानाभ्यासस्तथाऽल्पोऽपि महत्पापं विनाशयेत् ॥ ३२ ॥
यथा वह्निर्महादीप्तः शुष्कमार्द्रं च निर्दहेत् ।
तथा शुभाशुभं कर्म ज्ञानाग्निर्दहति क्षणात्[1] ॥ ३३ ॥
पद्मपत्रं यथा तोयैः स्वस्थैरपि न लिप्यते ।
तथा शब्दादिभिर्ज्ञानी विषयैर्न हि लिप्यते ॥ ३४ ॥
मन्त्रौषधिबलैर्यद्वज्जीर्यते भक्षितं विषम् ।
तद्वत्सर्वाणि पापानि जीर्यन्ते ज्ञानिनः क्षणात् ॥ ३५ ॥
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ।
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ॥ ३६ ॥
अकर्ताऽहमभोक्ताऽहमसङ्गः परमेश्वरः ।
सदा मत्संनिधानेन चेष्टते सर्वमिन्द्रियम् ॥ ३७ ॥

निर्वृतस्तृप्तो मुक्त इत्यर्थः ॥ २८–३२ ॥ शुष्कमार्द्रं चेति । परस्परविरोधिनोः शुभाशुभयोरेकरूपेण

मोक्ष होता है कर्मों से नहीं । कर्म से जो मिलता है वह कभी नित्य नहीं होता ॥ ३० ॥ वेदान्तार्थानुभव ही ज्ञान है, बाकी सब अज्ञान ही है । ज्ञान का माहात्म्य मेरे द्वारा भी बताया नहीं जा सकता ॥ ३१ ॥ जैसे थोड़ी भी आग घने अँधेरे को नष्ट कर देती है ऐसे ज्ञान का थोड़ा भी अभ्यास महान् पापों को निवृत्त कर देता है ॥ ३२ ॥ जैसे उद्दीप्त वह्नि सूखे व गीले सभी ईंधन को जला डालती है वैसे ज्ञानाग्नि क्षणभर में शुभ व अशुभ सभी कर्मों को नष्ट कर देती है ॥ ३३ ॥ जैसे कमलपत्र अपने पर पड़े हुए भी जल से लिप्त नहीं होता ऐसे ज्ञानी शब्दादि विषयों से लिप्त नहीं होता ॥ ३४ ॥ जैसे खाया हुआ विष मंत्र या दवा के द्वारा निर्बल हो जाता है वैसे ज्ञानी के सारे पाप फलदान में असमर्थ हो जाते हैं ॥ ३५ ॥ देखना, चलना आदि सभी ज्ञान व कर्म करते हुए जिसे यह निश्चय बना रहता है कि मैं अकर्ता, अभोक्ता, असंग परमेश्वर हूँ, सब इंद्रियाँ मेरे सांनिध्य के कारण चेष्टा कर रही हैं,

१ 'यथा मन्त्रबलोपेतः क्रीडन् सर्पैर्न दश्यते । क्रीडन्न लिप्यते ज्ञानी तद्वदिन्द्रियपन्नगैः ॥' इति वाल. संस्करणेऽधिकमपि दर्शितम् ।

इतिविज्ञानसंपन्नः सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ ३८ ॥
ये द्विषन्ति महात्मानं ज्ञानवन्तं नराधमाः ।
पच्यन्ते रौरवे कल्पमेकान्ते नरके सदा ॥ ३९ ॥
दुर्वृत्तो वा सुवृत्तो वा मूर्खः पण्डित एव वा ।
ज्ञानाभ्यासपरः पूज्यः किं पुनर्ज्ञानवान्नरः ॥ ४० ॥
निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शिनम्[1] । अनुव्रजाम्यहं नित्यं [2]पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥ ४१ ॥
यथा राजा जनैः सर्वैः पूज्यते मुनिसत्तम ।
तथा ज्ञानी सदा देवैर्मुनिभिः पूज्य एव हि ॥ ४२ ॥
यस्य गेहं समुद्दिश्य ज्ञानी गच्छति सुव्रत ।
तस्य क्रीडन्ति पितरो यास्यामः परमां गतिम् ॥ ४३ ॥
यस्यानुभवपर्यन्ता बुद्धिस्तत्त्वे प्रवर्तते । तद्दृष्टिगोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ॥ ४४ ॥
कुलं पवित्रं जननी कृतार्था विश्वंभरा पुण्यवती च तेन ।
अपारसच्चित्सुखसागरे सदा विलीयते यस्य मनःप्रचारः ॥ ४५ ॥

ज्ञानेन दाहे निदर्शनम् ॥ ३३–३९ ॥

ज्ञानाभ्यासपर इति । ज्ञानसाधनयोगाङ्गयमाद्यभ्यासवानपि पूज्यः किं पुनर्ज्ञानीत्यर्थः ॥४० ॥ **निरपेक्षमिति** । विवेकविज्ञानातिरिक्तस्य [3]निष्कलत्वावधारणाद्विवेकविज्ञानस्य प्राप्तत्वात्क्वचिदप्यपेक्षारहितमित्यर्थः । **समदर्शिनमिति** । तथाच भगवतोक्तम्–'सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु । साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते' इति । ॥ ४१-४५ ॥

वही निःसंग हो सब कुछ करता है और उसे ही कर्म या विषयों का लेप नहीं होता । जिसे यह बोध बना नहीं रहता वह आसक्त हो जाता है ॥ ३६–३८ ॥

जो नराधम आत्मवेत्ता से द्वेष करते हैं वे कल्पपर्यन्त रौरव नरक में कष्ट पाते हैं ॥ ३९ ॥ जो मनुष्य ज्ञान के अभ्यास में तत्पर हो वह सदा पूज्य है, चाहे उसका आचरण अच्छा हो या बुरा, चाहे वह मूर्ख हो या पण्डित । जब अभ्यासी ही पूज्य है तो जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया उसकी पूज्यता का क्या कहना ॥ ४० ॥ निरीह, निर्वैर, समदर्शी, शान्त मुनि का तो मैं भी नित्य अनुगमन करता हूँ कि उसकी चरणरज से स्वयं को पवित्र कर लूँ ॥ ४१ ॥ जैसे राजा सारी जनता का पूज्य होता है वैसे ही ज्ञानी सब देवताओं और मुनियों का पूज्य होता है ॥ ४२ ॥ ज्ञानी (भिक्षादि के निमित्त) जिसके घर की ओर जाता है उसके पितर यह समझकर प्रसन्न

---

१. ग. °दर्शन° । २. ग. ङ. पूजयेत्य° । ३ निष्फलत्वेति बाल. पाठः, युक्तं तथा पठितुम् ।

महात्मनो ज्ञानवतः प्रदर्शनात्सुरेश्वरत्वं झटिति प्रयाति ।

[1]विहाय संसारमहोदधौ नरा रमन्ति ते पापबलादहो मुने ॥ ४६ ॥

महानिधिं प्राप्य विहाय तं वृथा विचेष्टते मोहबलेन बालकः ।

यथा तथा ज्ञानिनमीश्वरेश्वरं विहाय मोहेन चरन्ति मानवाः ॥ ४७ ॥

अहो महान्तं परमार्थदर्शिनं विहाय मायापरिमोहिता नराः ।

हिताय लोके विचरन्ति ते मुने विषं पिबन्त्येव महामृतं विना ॥ ४८ ॥

बहुनोक्तेन किं सर्वं संग्रहेणोपपादितम् । श्रद्धया गुरुभक्त्या त्वं विद्धि वेदान्तसंग्रहम् ॥ ४९ ॥

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते न संशयः ॥ ५० ॥

सूत उवाच–इत्येवमुक्त्वा भगवांस्तूष्णीमास्ते महेश्वरः ।

वक्तव्याभावमालोक्य मुनयः करुणानिधिः ॥ ५१ ॥

बृहस्पतिश्च मुनयो वेदान्तश्रवणात्पुनः । आनन्दाक्लिन्नसर्वाङ्ग आत्मानन्दवशोऽभवत् ॥ ५२ ॥

महात्मन इति । श्रूयते हि मुण्डकोपनिषदि–'यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः' इति । इत्थं सकलश्रेयोमूलस्य तस्य परित्यागेनान्यत्र प्रवृत्तिः संचितदुरितैकहेतु- केत्याह– **विहायेति** ॥ ४६–४९ ॥ गुरुभक्तेस्तत्र कारणत्वे श्वेताश्वतरश्रुतिमुदाहरति–**यस्य देव** इति ॥ ५० ॥

होते हैं कि हमें परम गति मिलेगी ॥ ४३ ॥ जिसे शिवतत्त्व का अनुभव हो चुका है उसके दृष्टिपात से ही सारे पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ ४४ ॥ जिसका चित्त सदा अपार सच्चिदानन्दात्मक सागर में निमज्जन करता है उसका कुल पवित्र हो जाता है, माता कृतार्थ हो जाती है, तथा भूमि पुण्यमयी हो जाती है ॥ ४५ ॥ ज्ञानवान् महात्मा के दर्शन से ही सुरेश्वरता प्राप्त हो जाती है । तथापि खेद का विषय है कि लोग उसके लिये प्रयास नहीं करते और संसारपंक में निमग्न होते जाते हैं ॥ ४६ ॥ जिस प्रकार किसी बालक को महान् खजाना मिल जाये तो भी उसकी महत्ता न समझने वाला वह उसे छोड़ इधर-उधर भटकता रहता है, उसी प्रकार सांसारिक लोग ज्ञानीरूप प्रत्यक्ष महेश्वर को छोड़ अन्यत्र आयास करते हैं ॥ ४७ ॥ ओह आश्चर्य है ! परमार्थवेत्ता महात्मा को छोड़ मायामुग्ध लोग अपना हित प्राप्त करने के लिये संसार में ही परिभ्रमण करते हैं (जिससे अनायास हित मिल सकता है उस मुख्य परमहंस की सेवा में उपस्थित नहीं होते) । वे लोग वैसे ही हैं जैसे कोई श्रेष्ठ अमृत छोड़ कर विष पिये (और चाहे अमरता पाना !) ॥ ४८ ॥

अधिक कहने से क्या लाभ ? सारी बातें संक्षेप में मैंने समझा ही दी हैं । श्रद्धा और गुरुसेवापूर्वक वेदान्त में संगृहीत अर्थ को समझो ॥ ४९ ॥ जिसे महादेव और गुरु में एक जैसी परम

---

१. ङ. "हारसं" ।

भवन्तोऽपि महाप्राज्ञा मत्तःप्राप्तात्मवेदनाः । अभवन्कृतकृत्याश्च मा शङ्कध्वं कदाचन ॥ ५३ ॥

स्थापयध्वमिमं मार्गं प्रयत्नेनापि हे द्विजाः ।

स्थापिते वैदिके मार्गे सकलं सुस्थिरं भवेत् ॥ ५४ ॥

यो हि स्थापयितुं शक्तो न कुर्यान्मोहतो नरः ।

तस्य हन्ता न पापीयानिति वेदान्तनिर्णयः ॥ ५५ ॥

यः स्थापयितुमुद्युक्तः श्रद्धयैवाक्षमोऽपि सः । सर्वपापविनिर्मुक्तः साक्षाज्ज्ञानमवाप्नुयात् ॥ ५६ ॥

यः स्वविद्याभिमानेन वेदमार्गप्रवर्तकम् । छलजात्यादिभिर्जीयात्स महापातकी भवेत् ॥ ५७ ॥

य इमं ज्ञानयोगाख्यं खण्डं श्रद्धापुरःसरम् । पठते सुमुहूर्तेषु न स भूयोऽभिजायते ॥ ५८ ॥

ज्ञानार्थी ज्ञानमाप्नोति सुखार्थी सुखमाप्नुयात् । वेदकामी लभेद्वेदं विजयार्थी जयं लभेत् ॥ ५९ ॥

राज्यकामो लभेद्राज्यं क्षमाकामः क्षमी भवेत्[१] । तस्मात्सर्वेषु कालेषु पठितव्यो मनीषिभिः[२] ॥ ६० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे समाधिर्नाम विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

सूतो मुनीन्संबोध्याऽऽह—**इत्येवमुक्त्वेति** ॥ ५१–५४ ॥ कृतकृत्यस्य किं स्थापनप्रवृत्त्याऽपीत्यत आह—**यो हि स्थापयितुमिति** । स्वयं कृतकृत्येनापि परमकारुणिकेन शत्रोरपि भवदल्पमप्यनिष्टं न सोढव्यं किमुत सकललोकस्य प्राप्तं विद्यासंप्रदायोच्छेदलक्षणं महत्तरमनिष्टमित्यर्थः ॥ ५५–६० ॥

संहितायाश्च सूतस्य व्याख्यां तात्पर्यदीपिकाम् । सुस्थिरामनुगृह्णातु विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

इति श्रीमत्काशीविलासश्रीक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीमत्त्यम्बकपादाब्जसेवापरायणेनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन श्रीमाधवाचार्येण विरचितायां श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्डे समाधिनिरूपणं नाम विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

—समाप्तमिदं ज्ञानयोगखण्डम्—

भक्ति है उसे निश्चित ही ये सब विषय समझ आ जाते हैं ॥ ५० ॥

सूतजी बोले—हे मुनियों ! करुणासागर भगवान् ने इतना कहकर अन्य कुछ बताने योग्य विषय बचा न समझ मौन धारण किया ॥ ५१ ॥ बृहस्पति ने भी वेदान्तश्रवण से परमानन्द में स्थिति पायी ॥ ५२ ॥ आप लोगों ने भी मुझसे आत्मज्ञान प्राप्त किया है, अतः आप सभी कृतकृत्य हो गये हैं, इसमें शंका मत कीजिये ॥ ५३ ॥ मोक्ष के इस घण्टापथ को अध्ययन, आचरण, निश्चय और प्रचार द्वारा स्थापित कीजिये । वैदिक मार्ग दृढतापूर्वक प्रतिष्ठित होने से सब कुछ स्थिर होता है ॥ ५४ ॥ जो इस मार्ग की स्थापना में समर्थ हो और आलस्यादिवशात् इसके लिये प्रयास न करे, उसे यदि कोई अन्य व्यक्ति मार भी दे तो अधिक दोष का भागी नहीं होता यह वेदान्तों का निर्णय है ॥ ५५ ॥ जो व्यक्ति असमर्थ होने पर भी श्रद्धा से प्रेरित हो इसकी स्थापना का प्रयास करता है वह सब पापों से रहति हो तत्त्वज्ञान पा ही लेता है ॥ ५६ ॥ जो तार्किकंमन्य वेदमार्ग के प्रवर्तक को असद्-युक्तियों से हराता है वह महापापी है ॥ ५७ ॥

जो श्रद्धालु शुभ समय में इस ज्ञानयोगखण्ड का अध्ययन करता है उसे पुनः गर्भवास नहीं करना पड़ता ॥ ५८ ॥ ज्ञानेच्छुक इसके पाठ से ज्ञान प्राप्त करता है, सुखप्रार्थी सुख पाता है, वेद चाहने वाले को वेद कण्ठ करने की सामर्थ्य मिल जाती है, विजयकामी की जीत होती है, राज्येच्छुक को राज्य और सहनशीलता चाहने वाले को उसीकी प्राप्ति हो जाती है । अतः बुद्धिमानों को हर समय इसका पठन करना चाहिये । ॥ ५९–६० ॥

—ज्ञानयोग खण्ड पूरा हुआ—

---

१. °मः क्षमां लभेत् । यद्यदिच्छेच्च मनसा तत्तदेव फलं लभेत् ॥ इति वाल. पाठोधिकः । २. गुणान्विताय शिष्याय प्रदेयोऽयं प्रयत्नतः ॥ इति तत्राधिकम् ।

तृतीयं मुक्तिखण्डम्

प्रथमोऽध्यायः

सौम्यं महेश्वरं साक्षात्सत्यविज्ञानमद्वयम् । वन्दे संसाररोगस्य भेषजं परमं मुदा ॥ १ ॥
यस्य शक्तिरुमा देवी जगन्माता त्रयीमयी । तमहं शंकरं वन्दे महामायानिवृत्तये ॥ २ ॥
[१]यस्य विघ्नेश्वरः श्रीमान्पुत्रः स्कन्दश्च वीर्यवान् । तं नमामि महादेवं सर्वदेवनमस्कृतम् ॥ ३॥
[२]यस्य प्रसादलेशस्य लेशलेशलवांशकम् ।
लब्ध्वा मुक्तो भवेज्जन्तुस्तं वन्दे परमेश्वरम् ॥ ४ ॥
यस्य लिङ्गार्चनेनैव व्यासः सर्वार्थवित्तमः । अभवत्तं महेशानं प्रणमामि घृणानिधिम् ॥ ५ ॥
यस्य मायामयं सर्वं जगदीक्षणपूर्वकम् । तं वन्दे शिवमीशानं तेजोराशिमुमापतिम् ॥ ६॥
यः समस्तस्य लोकस्य चेतनाचेतनस्य च ।
[३]साक्षी सर्वान्तरः शंभुस्तं वन्दे साम्बमीश्वरम् ॥ ७ ॥
यं विशिष्टा जनाः शान्ता वेदान्तश्रवणादिना ।
जानन्त्यात्मतया वन्दे तमहं सत्यचित्सुखम् ॥ ८ ॥

एवं ज्ञानोपायमभिधाय ज्ञानफलभूताया मुक्तेः परमप्रयोजनत्वात्तस्याः सोपकरणाया अभिधानारम्भे सपरिवारशिवप्रणिधानप्रणामलक्षणं मङ्गलाचरणं कृतमुपनिवध्नाति व्यासः श्लोकाष्टकेन–**सौम्यमित्यादिना** । सकलकल्याणगुण[४]गणनिधेरपि भगवतो मुक्तिप्रदानावसरे तदुपाधिकगुणविशिष्टतयैव प्रणिधानमुचितम् 'तं यथा यथोपासते तथैव भवति' इति [५]श्रुतेरिरति[६] सौम्यत्वसत्यज्ञानत्वसंसारवैद्यत्वगुणानामुपन्यासः ॥ १–८ ॥

तृतीय– मुक्तिखण्ड

मुक्ति, मुक्ति के उपाय, मोचक और मोचकप्रद इन चतुर्विध प्रश्नों का निरूपण

प्रथम अध्याय

सत्य, ज्ञानस्वरूप, निर्भेद, अपरोक्ष, सौम्य तथा भवरोग की औषध रूप श्रीमहेश्वर की परम प्रसन्नतापूर्वक मैं वन्दना करता हूँ ॥ १ ॥ जगन्माता, वेदरूपिणी उमा देवी जिनकी शक्ति है उनकी मैं वन्दना करता हूँ ताकि मेरा महामोह निवृत्त होवे ॥ २ ॥ सब देवों द्वारा नमन किये गये उन महादेव की मैं वन्दना करता हूँ जिनके श्रीमान् विघ्नेश्वर और वीर्यवान् स्कन्द पुत्र हैं ॥ ३ ॥ जिनकी कृपा के अत्यन्त अल्पभाग की प्राप्ति से सतत जन्म-मरणशील जन्तु तुरन्त मुक्त हो जाता है उन परमेश्वर की मैं वन्दना करता हूँ ॥ ४ ॥ जिनके लिंग की अर्चना करने से ही व्यास सर्वज्ञों में श्रेष्ठ हो गये उन कृपासागर महेशान को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ५ ॥ सारा मायामय जगत् जिनके ईक्षण से हुआ है उन प्रकाशपुंज, उमापति, ईशान, शिव का मैं वन्दन करता हूँ ॥ ६ ॥ मैं उन साम्ब, ईश्वर, शंभु का वन्दन करता हूँ जो जड-चेतन समस्त संसार के सर्वान्तर साक्षी हैं ॥ ७ ॥ विशिष्ट अधिकारी शमादियुक्त साधक वेदान्तों के श्रवणादि द्वारा जिन्हें आत्मरूप से जानते हैं उन सच्चिदानन्दरूप परमशिव की मैं वन्दना करता हूँ ॥ ८ ॥

---

१ घ. तस्य । २ घ. तस्य । ३ ग. साक्षात्सर्वेतरः । ४ क. ख. "णानि" । ५ ग. ङ. श्रुतिरि" । ६ घ. "ति साम्य" । ङ. "ति सौम्यतरत्व" ।

हरभक्तो हिरण्याक्षः शैवपूजापरायणः । अम्बिकाचरणस्नेह ईश्वराङ्घ्रिपरायणः ॥ ९ ॥

क्लान्तः क्लेशहरः क्लीब ईशपूजापरायणः ।

ॐङ्कारवल्लभो लुब्धो लोलुपो लोललोचनः ॥ १० ॥

महाप्राज्ञो . महाधीमान्महाबाहुर्महोदरः । शक्तिमाञ्शक्तिदः[१] शङ्कुः शङ्कुकर्णः शनैश्चरः ॥ ११ ॥

भगवान्भग्नपापश्च भवो भवभयापहः । [२]भग्नदर्पो भवप्रीतो भागज्ञो भङ्गुराशुभः ॥ १२ ॥

अग्निवर्णो जपावर्णो बन्धूककुसुमच्छविः । विरक्तो विरजो विद्वान्वेदपारायणे रतः ॥ १३ ॥

समचित्तः समग्रीवः समलोष्टाश्मकाञ्चनः । शाकाशी फलमूलाशी शत्रुमित्रविवर्जितः ॥ १४ ॥

कालरूपः कलामाली कालतत्त्वविशारदः ।

[३]अणिमाण्डो मुनिश्रेष्ठः सोमनाथः प्रियः सुधीः ॥ १५ ॥

वेदविद्वेदविन्मुख्यो विद्वत्पादपरायणः । विशालहृदयो विश्वो विश्ववान्विश्वदण्डधृत् ॥ १६ ॥

पवित्रः परमः पङ्कः पङ्कजारुणलोचनः । लम्बकर्णो महातेजा लम्बपिङ्गजटाधरः ॥ १७ ॥

ग्राह्यायणसुतो ग्रीष्मो[४] ग्राहभङ्गपरायणः । [५]लोकाक्षितनयोद्भूतो लोकयात्रापरायणः ॥ १८ ॥

जैगीषव्यस्य पुत्रस्य प्रातःस्नायी जितेन्द्रियः । वत्सपुत्रो मुनिश्रेष्ठा वंशकाण्डप्रभो मुनिः ॥ १९ ॥

ऊर्ध्वरेता उमाभक्तो रुद्रभक्तश्च [६]वल्कली । आश्वलायनसूनुश्च ब्रह्मविद्यारतो मुनिः ॥ २० ॥

मुकुन्दो मोचको मुख्यो मुसली मूलकारणः । सर्वज्ञः सर्ववित्सर्वः सर्वप्राणिहिते रतः ॥ २१ ॥

अत्युग्रोऽतिप्रसन्नश्च प्रमाणज्ञानवर्धकः । [७]आरुणेयो महावीर [८]आरुण्युपनिषत्परः ॥ २२ ॥

मुक्तेः परमप्रयोजनत्वेन तत्राऽऽदरातिशयजननाय जिज्ञासूनां हरभक्तादीनां मुनीनां भूयसामुपन्यासः–हरभक्त [९]इत्यादिमहर्षयइत्यन्तेन ॥ ९–३० ॥

अनेक मुनि नित्य शिवभक्ति में तत्पर रहते हैं, जैसे– हरभक्त, हिण्याक्ष, शैवपूजापरायण, अम्बिकाचरणस्नेह, ईश्वराङ्घ्रिपरायण, ॥ ९ ॥ आदि नाना मुनि तथा संगम आदि नौ लाख अस्सी हज़ार महर्षि सभी शम दम आदि से युक्त हो शिवभक्ति में लगे रहते हैं । 'अग्निरिति' आदि मन्त्रपूर्वक वे अपने शरीर को भस्म से उद्धूलित किये रहते हैं । रुद्राक्ष की माला से सज्जित और माथे पर त्रिपुण्ड्र अंकित किये रहते हैं । सदा वे अतुलनीय तेज वाले श्री शंभु के लिंग की तत्परता से अर्चना करते हैं ।

---

१ ग. °दः शंभुः शङ्कुकर्णः शनेश्वरः । घ. °दः शङ्कुः शङ्कु° । २ क. ख. ग. घ. भगदर्पो। ३ घ अडिमा° । ४ ग. ङ. °ष्मो ग्रह° । ५ क. लोगाक्षि° । ङ. लौगाक्षि° । ६ घ. वल्लकी । ७ ग. अरुणयो । ङ. अरुणो या । ८ ग. आरण्यु° । ङ. अरण्यु° । ९ घ. °त्यारभ्य म° ।

आत्मविद्यारतः[1] श्रीमाञ्श्वेताश्वतरपुत्रकः । श्वेताश्वतरशाखायाः श्रद्धयैव प्रवर्तकः ॥ २३ ॥

शतरुद्रसमाख्यश्च शतरुद्रियभक्तिमान्[2] । पञ्चप्रस्थानहेतुज्ञः श्रीमत्पञ्चाक्षरप्रियः ॥ २४ ॥

शिवसंकल्पभक्तश्च शिवसूक्तप्रवर्तकः[3] । लिङ्गसूक्तप्रियः साक्षात्कैवल्योपनिषत्प्रियः ॥ २५ ॥

जाबालाध्ययनध्वस्तपापपञ्जरसुन्दरः । पुराणः पुण्यकर्मा च पुरुषार्थप्रवर्तकः ॥ २६ ॥

मैत्रायणश्रुतिस्नेही महामैत्रायणो मुनिः । बाष्कलाध्ययनप्रीतः शाकलाध्ययने रतः ॥ २७ ॥

सर्वशाखारतः श्रीमान्संगमादिमहर्षयः । द्विःसप्ततिसहस्राणि सह द्वादशसंख्यया ॥ २८ ॥

सर्वे शमदमोपेताः शिवभक्तिपरायणाः । अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैर्भस्मोद्धूलितविग्रहाः ॥ २९ ॥

रुद्राक्षमालाभरणास्त्रिपुण्ड्राङ्कितमस्तकाः । लिङ्गार्चनपरा नित्यं शंभोरमिततेजसः ॥ ३० ॥

सत्रावसाने संभूय मेरुपार्श्वे विचक्षणाः । परस्परं समालोच्य श्रद्धया सुचिरं बुधाः ॥ ३१ ॥

मुक्तिं मुक्तेरुपायं च मोचकं मोचकप्रदम् । तपश्चेरुर्महाधीराः शंकरं प्रति सादरम् ॥ ३२ ॥

प्रसादादेव रुद्रस्य शिवस्य परमात्मनः । व्यासशिष्यो महाधीमान्सूतः पौराणिकोत्तमः ॥ ३३ ॥

आविर्बभूव सर्वज्ञस्तेषां मध्ये महात्मनाम् । मुनयश्च महात्मानमागतं रोमहर्षणम् ॥ ३४ ॥

दृष्ट्वोत्थायातिसंभ्रान्ताः संतुष्टा गद्गदस्वराः । प्रणम्य बहुशो भक्त्या दण्डवत्पृथिवीतले ॥ ३५ ॥

पादप्रक्षालनाद्यैश्च श्रद्धयाऽऽराध्य [4]सत्वरम् ।

समाश्वास्य चिरं कालं प्रसन्नं करुणानिधिम् ॥ ३६ ॥

परस्परमनुज्ञाप्य मुक्त्यादिकं सत्रमालोच्योद्दिश्य तं जिज्ञासवः **शंकरं प्रति तपश्चेरुः** ॥ ३१-३६ ॥

॥ १०-३० ॥ (मुनियों के नाम प्रायः सप्रयोजन ही हैं । इन विशेषताओं से युक्त भक्त ही साधना में सफल होता है यह समझाना इन नामों का कार्य है ।) सत्र की समाप्ति पर वे सब विद्वद्धौरेय मेरुपर्वत के निकट एकत्र हुए और श्रद्धापूर्वक उन्होंने काफी समय आपस में मुक्ति, मुक्ति के उपाय, मोचक और मोचकप्रद के विषय में विचार किया किन्तु जब निर्णय न कर पाये तो जिज्ञासुभाव से उन्होंने भगवान् शंकर की प्रसन्नता के लिये तप किया ॥ ३१-३२ ॥ तपस्या से संतुष्ट हुए महादेव की कृपा से व्यासदेव के शिष्य, पौराणिकों में सर्वश्रेष्ठ श्री सूतजी उन मुनियों के बीच प्रकट हुए । रोमहर्षण जी को आया देख सब मुनियों ने उठकर उनका स्वागत

१. घ. °रतिः श्री° । २. घ. ङ. °रुद्रीय° । ३. ङ. °सूत्रप्र° । ४. ङ. शंकरम् ।

सर्वज्ञं सर्वजन्तूनां निश्चितार्थप्रदायिनम् ।

पप्रच्छुः परमां मुक्तिं मुक्त्युपायं च मोचकम् ॥ ३७ ॥

मोचकप्रदमन्यच्च विनयेन सह द्विजाः । श्रुत्वा मुनीनां तद्वाक्यं लोकानां हितमुत्तमम् ॥ ३८ ॥

सूतः पौराणिकः श्रीमान्ध्यात्वा साम्बं त्रियम्बकम् ।

वेदव्यासं च वेदार्थपरिज्ञानवतां वरम् ॥ ३९ ॥

प्रणम्य दण्डवद्भूमौ भक्त्या परवशः पुनः । वक्तुमारभते सर्वं सर्वभूतहिते रतः ॥ ४० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां मुक्तिखण्डे मुक्तिमुक्त्युपायमोचकमोचक

प्रदचतुर्विधप्रश्ननिरूपणं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

सूत उवाच— शृणुध्वं वेदविन्मुख्याः श्रद्धया सह सुव्रताः ।

पुरा नारायणः श्रीमान्सर्वभूतहिते रतः ॥ १ ॥

किरीटकेयूरधरो रत्नकुण्डलमण्डितः । पीतवासा विशालाक्षः शङ्खचक्रगदाधरः ॥ २ ॥

मुक्तिः सायुज्यादि । तदुपायो ज्ञानम् । मोचकः शिवः । तत्प्रदस्तज्ज्ञापक आचार्यः । अन्यच्चेति च षष्ठाध्यायादिषु वक्ष्यमाणज्ञानोत्पत्तिकारणादि ॥ ३७–४० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां मुक्तिखण्डे मुक्तिमुक्त्युपायमोचकमोचकप्रदचतुर्विधप्रश्ननिरूपणं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

पर्यनुयुक्तः सूतो मुनिभ्यो वक्तुमारभमाणो वक्तव्यस्य मुक्त्यादिचतुष्टयस्यात्यन्तदुर्लभत्वेन तत्र तेषां श्रद्धातिशयजननाय

किया और स्वयं सन्तोष का अनुभव किया क्योंकि उन्हें निश्चय था कि सूत जी उनकी जिज्ञासा शान्त कर देंगे । मुनियों ने रोमहर्षण को दण्डवत् प्रणाम किया और पैर धोना आदि सेवाओं से उन्हें आराम पहुँचाया ॥ ३३–३६ ॥ तदनन्तर विनयपूर्वक सर्वज्ञ, करुणापूर्ण और प्रसन्न सूतजी से उन्होंने अपना चतुर्विध प्रश्न पूछा । श्रीमान् रोमहर्षण ने उनकी बात सुनकर महादेव और अपने गुरु व्यासदेव का ध्यान व उन्हें प्रणाम किया तथा यों कहना प्रारम्भ किया ॥ ३७–४० ॥

मुक्तिभेद-कथन नामक द्वितीय अध्याय

सूतजी बोले– हे वेदवेत्ताओं में मुख्य मुनियो ! हे श्रेष्ठ नियम पालन करने वालो ! श्रद्धा सहित सुनिये । प्राचीन काल में श्रीमान् नारायण ने कैलास जाकर तप किया था । नारायण सभी प्राणियों का हित करते रहते हैं । मुकुट और बाजूबन्ध धारण किये रहते हैं और रत्नमय कुण्डलों से अलंकृत हैं । पीताम्बर धारण करते हैं, विशाल नेत्रों वाले हैं तथा शंख, चक्र और गदा से उपेत हैं । कुन्दपुष्प या चंद्र की तरह मनोहारी उनका आकार है तथा सभी आभरणों से वे विभूषित हैं । मुनि, देव, गंधर्व, राक्षस आदि